नवभारत

(सर्वोदय का सर्वाङ्गीण एवं शास्त्रीय अध्ययन)

राम कृष्ण शर्मा

●

सर्वोदय साहित्य संघ
काशी (बनारस)

नवीन संस्करण, २१००]

पृष्ठ संख्या—
प्रारम्भिक
मूल पुस्तक
कुल

मूल्य—पाँच रुपये मात्र

प्रकाशक— :
सर्वोदय साहित्य संघ, :
काशी (बनारस) :

दो शब्द

'४७ के बाद संसारमें युगान्तरकारी परिवर्तन हुए हैं, विश्व के विचार व्योम में भारी तूफान चल रहे हैं। '४७ में ही भारत दासता की जटिल जंजीरों से मुक्त हुआ था, सदियों के निबिड अंधकार से निकल कर इसने विश्व के ज्योतिर्मय मञ्च पर पदार्पण किया। परन्तु ठीक उसके बाद ही हमें सोये से उठाकर चलाने वाला महा पुरुष स्वयं चला गया। आज सारा संसार आशा और उत्सुकता भरी आँखों से हमारी ओर देख रहा है कि गांधी जैसा मानव रत्न पैदा करने वाला यह महादेश तूफान के थपेडों से अपनी नौका क्योंकर किनारे लगाता है।

बापू ने हमें "अधिक से अधिक का अधिक से अधिक लाभ" की अपूर्ण कल्पना के बजाय "सब के संपूर्ण हित" यानी "सर्वोदय" का मंत्र दिया था। उसी आधार पर हमें भारत का नव निर्माण करना था—परन्तु देश के दुःख-दैन्य में कमी के बजाय वृद्धि होते देखकर आज जरूरत आत्म निरीक्षण की आ पड़ी है कि क्या हम बा द्वारा निर्दिष्ट पथ-रेखा से हट कर मंजिल से ही दूर-दूर तो नहीं होते जा रहे हैं।

इन सारी परिस्थितियों को देखते हुए नवभारत की आवश्यकता कटुतर होती जा रही थी। परन्तु मेरी अपनी समस्या यह थी कि आवश्यक समय और एकाग्रता का मेरे पास बिल्कुल अभाव सा ही था। अस्वास्थ्य ने मेरी विवशता को और भी जटिल बना रखा है। इसी लिए सत्वर्व पूर्वक कार्य करने पर भी आज इतने दिन के बाद यह रचना प्रकाश में आ सकी है।

नवभारत सर्वोदय विचार की दृष्टि से अब अधिकाधिक परिपूर्ण है। कृषि और खाद्य समस्याएँ, शिक्षा, भू-दान-यज्ञ और ग्रामोद्योग आदि अध्याय विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे। परिशिष्ट में, मुख्यतः, ट्रस्टीशिप का महत्त्वपूर्ण अध्याय ले लिया गया है। इस तरह अब यह पुस्तक सर्वोदय शास्त्र की दृष्टि से सर्वांगीण और उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी मुझे आशा है।

अन्त में, मैं पाठकों से अनुरोध करूँगा कि अपनी सम्मति और सलाहों से अनुग्रहीत करेंगे ताकि आगामी संस्करण में उनका समावेश किया जा सके।

२४-११-५३

—राम कृष्ण

नवभारत की कहानी से—

नवभारत की भूमिका भी एक कहानी है, एक दिलचस्प कहानी। आज लगभग २० वर्ष से भी पहले की बात है जब यह कहानी शुरू हुई थी, परंतु अभी तक समाप्त नहीं हो सकी है। शुरू हुई तो चलने लगी, चलती ही जा रही है, समाप्त होने की कोई बात नहीं। कब समाप्त होगी, कह नहीं सकता। बडी लम्बी कहानी है।

१५-१६ वर्ष की मेरी अवस्था रही होगी। पठन-पाठन, वह भी गम्भीर विषयो का, मुझे बचपन से ही चस्का रहा। रवि बाबू की 'शिक्षा' का अध्ययन कर रहा था। वहीं कहीं कुछ ऐसा पढा था कि—"हमारी बनावट और सजावट की भावना इतनी तेजी से बढ रही है कि शीघ्र ही हमे अपनी मेज-कुर्सियो को भी बिना कपडे या सजावट के देखकर उसी प्रकार शर्म आयेगी जैसे हम किसी नगे आदमी को देखकर शर्माते हैं।" मेरे मन पर कुछ धक्का लगा। उस छोटी सी उमर मे भी विचारों मे हडकम्प पैदा हो गया। पुस्तक रख दी और सोचने लगा। क्या सचमुच मनुष्य असलियत को खो कर नकली होता जा रहा है? आँखे फाड-फाड कर अपने चारो ओर देखने लगा, कुछ ढूँढने लगा, कुछ पढने लगा, और कुछ समझने लगा। परन्तु जितना ही अधिक खोजा, उतना ही गहरा धँसता गया। फिर भी खोज जारी ही रही और अब भी चली जा रही है। प्रारम्भ के १०-५ वर्षों तक तो कुछ समझा नही, किसी नतीजे पर पहुँचा नहीं, कोई अपना मत नहीं बना सका। जो कुछ कहता था, जो कुछ करता था, उन सब मे निश्चय और दृढता का अभाव ही अधिक रहा। हाँ, इतना जरूर हुआ कि कहानी और उपन्यासो का पढना छूट गया और धीरे-धीरे इतनी दूर चला गया कि उपन्यासो को कौन कहे, स्वय उपन्यास सम्राट् की रचनाओ से भी अनभिज्ञ रह गया।

हिन्दी का लेखक और प्रेमचन्द जी के अध्ययन से वञ्चित। उपहास से कम नहीं। यह उपहास जनक स्थिति और भी घनीभूत नजर आयेगी जब आपको यह मालूम होगा कि मुझे प्रेमचन्द जी के साक्षात् सम्पर्क का सुअवसर भी प्राप्त हुआ, मैंने उपन्यास और कहानियाँ भी लिखी, और उनमे से एकाध को स्वय प्रेमचन्द जी ने, जिसे वह अल्प कालीन सम्पर्क मे देख पाये थे, 'आश्चर्य-जनक और सजीव" बताया। परन्तु यह सब चलते-चलते रास्ते मे हाथ लग

जाने वाली चीजो से अधिक नहीं हैं। मेरी अपनी धारा तो 'असली-नकली' की खोज मे उलझी हुई थी।

खैर, अपनी खोज मे मै ज्यो-ज्यो आगे बढा, नयी ही नयी दुनिया नजर आने लगी। मैने देखा विश्व की सारी समाज रचना का 'नारी' ही उद्गम स्थल है। स्वभावत, मैने 'स्त्री-पुरुष' का अध्ययन शुरू किया। जो कुछ समझ मे आ जाता उसे पत्र-पत्रिकाओ मे भेज कर लोगों के मत सग्रह द्वारा अपनी दिशा स्थिर कर लेने की चेष्टा भी करता जा रहा था। उन एकाध टुकडों को देख कर कुछ महत्व पूर्ण पत्रिकाओ ने लिखा—"लेख बड़े ही उत्तम हैं।" उत्तम या मध्यम, मुझे तो केवल यह जानना था कि मै कहाँ तक ठीक रास्ते पर हूँ। रास्ते से भटका नही था, इतना मुझे भरोसा हो गया। यह थी समाज शास्त्र की दुनिया। एक और दुनिया दिखलायी पडी जिसे 'कल-युग' अर्थात् Age of Machinery पुकारा जाता है। यह थी अर्थशास्त्र की दुनिया जहाँ हमारी रोटी-धोती और सुख-दुख की समस्याएँ हल होती हैं। यहाँ पहुँच कर मैने देखा कि ससार का सारा अर्थ-विधान कल-कारखानो के दुरूह ढाँचे मे जा फँसा है। इस बात को भी मैने लोगों के सामने एक मनोरजक उपन्यास के रूप मे रखा, जिसका नाम ही 'कल-युग' था। यह सब आठ-दस वर्ष पहले की बात है जब मशरूवाला और कुमारप्पा ने अपने ग्रामोद्योगों का कोई दर्शनीय प्रयोग प्रारम्भ नही किया था और न उनकी गाधीवादी व्याख्याएँ ही हमे उपलब्ध थीं। ‥ ·

कागजी दुर्भिक्ष, आर्थिक उलझने, नाना प्रकार की बाधाएँ—रत्ती भर भी आगे बढने की गुन्जाइश नही थी। अतत, मैने यही निश्चिय किया कि 'नवभारत' को दो भाग मे बाँट कर ही पूरा कर देना चाहिये—'सिद्धात' और 'व्यवहार'। प्रस्तुत पुस्तक 'नवभारत' का सिद्धान्त स्वरूप आपके हाथो मे है। परन्तु महत्व की बात ध्यान में रखने की यह है कि यह भाग दूसरे से सम्पूर्णत स्वतन्त्र है। चूँकि हम कह नहीं सकते कि दूसरा भाग कब प्रकाशित होगा, अतएव विभाजन इस प्रकार किया गया हैं कि गाधीवाद का अध्ययन करने के लिए किसी भी दृष्टि से इसका बिल्कुल स्वतन्त्र और सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूप मे उपयोग किया जा सके।

परन्तु इसका यह मतलब नही कि इस प्रकार मेरी कठिनाइयाँ दूर हो गयीं। असाधारण जीवन सघर्ष और अन्य नाना प्रकार की जिम्मेदारियो के बीच समय बिल्कुल नहीं, शाति रत्ती भर नही थी। भयावह सघर्ष-विघर्ष के बीच दौडते-भागते हुए जब, जितना समय मिला, मैने उतना ही लिख डाला। इस लिखने मे न तो उपन्यासों का कल्पना-स्वातन्त्र्य था और न तो शुद्ध शास्त्रीय विवेचन

का तर्क प्रवाह,—अर्थ-शास्त्र के जटिल सिद्धांतों को शत-प्रति-शत सर्वग्राह्य और रोचक रूप देना था। यह लिखाई भी मेरे दिमागी मुसीबत की एक दास्तान है, परन्तु उसका जहाँ तक पाठकों से सम्बन्ध है, इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी न किसी तरह से पाण्डुलिपि तैयार हो गयी।

अब इसे प्रेस मे देने का प्रश्न उपस्थित हुआ, सारी पाण्डुलिपी इतनी तेजी से, इतनी अस्थिरता पूर्वक लिखी गयी थी कि पुन साफ किये बिना उसका कम्पोज होना कठिन दीखने लगा। इसके अतिरिक्त अनुच्छेदों का क्रमाक और फिर सारी पाण्डुलिपि मे 'मार्जिन-नोट' देना था। गर्जेकि अनेकों काम पूरे करने थे। इन सारे काम मे कुछ मित्रों ने, कुछ युवको ने मेरी बड़ी सहायता की। इसमे सबसे पहला और सबसे अधिक श्रेय स्व० श्री गिरवर प्रसाद को है जिन्होंने बड़ी उदारता पूर्वक कुछ पाण्डुलिपि साफ की, कुछ 'शब्द-सूची' (इन्डेक्स) तैयार करने में अचूक सहायता की है। उसके पश्चात् श्री छन्नूलाल विद्यार्थी, एम० ए०, बी० टी०, ने भी 'मार्जिन-नोट' तैयार करने में कम सहायता नहीं की। मथुरा प्रसाद पाण्डेय, बलदेव दीक्षित—इन उत्साही युवकों ने भी कुछ न कुछ हाथ बँटाने की चेष्टा की है। इन सब का मै अतीव आभारी हूँ।......

अब, स्वय 'नवभारत' के सम्बन्ध मे भी दो शब्द कह देना आवश्यक है। 'नवभारत' है क्या, नवभारत की आवश्यकता क्या है, इन सब का विषय-प्रवेश में यथेष्ट रूप से उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना और कहना है कि भारतवर्ष विश्व के अन्य भागो के समान ही दारिद्रय और अभाव की कठोर यातनाएँ झेल रहा है। सदियों की गुलामी के पातक और कलमगी शोषण से जर्जरी भूत, महायुद्ध के घातक आक्रमण से निर्जीव और पतनोन्मुख देश एक बार पुन क्रान्ति के रास्ते पर जा लगा है। विध्वस के पश्चात् पुनरुद्धार और पुनर्निर्माण की अनिवार्य आवश्यकताओं ने उसे व्याप्त कर लिया है। देश भर मे रचनात्मक कार्य-क्रम का महा मन्त्र फूँक दिया गया है, परन्तु अफसोस है कि अब तक भी अधिकाश कार्यकर्ताओं के पास सचालकों के सचित आदेशों के अतिरिक्त कार्यावलि की अपनी कोई सुनिश्चित रूप-रेखा या सिद्धातों का कोई तार्किक सहारा नहीं है। 'नवभारत' इस कमी को बहुताश पूरा करेगा मुझे पूर्ण विश्वास है।

मै कह चुका हूँ कि भारत का उद्धार कोरे अर्थशास्त्रियों से नहीं होगा। जब तक लोग अपनी जिन्दगी का सवाल स्वयं नहीं समझेंगे, समझकर उसे सुरुचि पूर्वक अपनायेगे नहीं, लाखों शास्त्रीय पाठ्य क्रम भी बेकार सिद्ध होंगे। गाधी जी और राजेन्द्र बाबू की प्रेरणाएँ आदर्श और श्रद्धा तक ही समाप्त हो

जायेंगी। अतएव एक ऐसी पुस्तक की नितांत आवश्यकता थी जो शास्त्रीय पठन-पाठन के साथ ही सर्वसामान्य का अपना रोचक विषय बन सके। मैं समझता हूँ कि 'नवभारत' इन दोनों दृष्टि से उपयुक्त सिद्ध होगा।

मैं एक गाँव में गया था। वहां एक युवक से भेंट हुई जो अपने को 'राष्ट्र वादी' कहते थे और प्रांतीय असेम्बली के चुनाव में कांग्रेस के एक प्रतिष्ठित नेता के विरुद्ध खडे हुए थे। भारत की आजादी और गरीबी के समाधान की ही वह कसम खाये बैठे थे। चुनाव में वह हार चुके थे। मैंने पूछा—'अब आपका कार्य-क्रम क्या है?' उन्होंने निर्लज्ज सा उत्तर दिया—'दो चार दिन में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने पर ही कोई कार्य-क्रम बन सकेगा।' हिन्दुस्तान में गरीबी क्यों और क्योंकर कार्य कर रही है, हिन्दुस्तान की वास्तविक समस्याएँ हैं क्या—इसका उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। हिन्दुस्तान तो एक बहुत बड़ी बात हो जाती है। मैंने पूछा—"आपके गाँव की आबादी क्या है?" उत्तर असंतोष जनक। मैंने पूछा—"आपके गाँव में लोगों को अन्न और वस्त्र कैसे मिलता है?"—इसका भी वह कोई ठीक उत्तर नहीं दे सके। मैंने पूछा—"यहाँ लोगों के पढने-लिखने का क्या साधन है?" उत्तर मिला—"कुछ नहीं।" मैंने पूछा—"आप इन समस्यायों को हल करने के लिए स्वयं क्या कर रहे हैं?" तो फिर वही उत्तर मिला कि—"कांग्रेस के पदारूढ होने का रास्ता देख रहे हैं।" 'कांग्रेस ने शासन करने से इन्कार कर दिया तो क्या होगा?" मैंने तो यही समझा कि रुद्राक्ष की माला फेरने के सिवा उनके पास कोई दूसरा रास्ता ही न था। सारांश यह कि सारे देश में बहुतेरे ऐसे लोग फैले हुए हैं जिन्होंने न तो देश की समस्यायों को समझने की चेष्टा की है और न कुछ ठोस काम करने का व्रत लिया है। कुछ शोर गुल, कुछ शुहरत की उत्कण्ठा उन्हें व्यग्र किये हुए है। जो ईमानदारी से देश के लिए मर-मिट रहे हैं उनके लिए भी तर्क-युक्त कार्यक्रम का अभाव ही देखा गया है। ईमानदार या गैर ईमानदार, 'नवभारत' सबके लिए भारतीय समस्याओं का एक संगठित चित्र लेकर सामने आता है। दृष्टि कोण का अन्तर हो सकता है, सत्य का अभाव नहीं होगा। इतना ही हो तो भी मैं अपने परिश्रम को व्यर्थ न समझूँगा।

मैं उन समस्त विद्वान और विचारकों का भी हृदय से आभारी हूँ जिनकी रचनाओं और लेखों का मैंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहारा लिया है।

अंत में मैं पाठकों तथा विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि 'नवभारत' को एक बार निष्पक्ष दृष्टि से देखें और इसके प्रस्तावों पर उदारता पूर्वक विचार करें। भाषा के दोष की अपेक्षा विचारों की उपादेयता पर ध्यान रक्खा जायगा, ऐसी मुझे आशा है, प्रार्थना भी यही है। —रा कृ श.

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	विश्रांत	निभ्रांत
६	२५८	वैज्ञानिक	वैयक्तिक
१२	४८	in gredient	ingredient
१२	६८	निर्म्मित	निर्मित
१६	१५	मुद्रास्थिति	मुद्रा स्फीति
५३	७	whithers off	withers off
८४	५	अविकार	अविक्तर
८६	१५	पाति-व्रत	पतिव्रत
६७	५	अनेन	अनेक
११०	५	सवर्य	सवर्प
१२६	१	परे	पेट भरने
१४१	१६	प्रभृति	प्रभृत
२१५	अतिम	विध	विधि
३२२	अनुच्छेद २६० (शिर्पक)	वाबू	वापू
३७०	परिशिष्ट (६) शिर्पक	ग्राम लक्ष्म	ग्राम लक्ष्मी
३८२	अतिम	Accumutlation	Accumulation

विषय-सूची

चर्खे का इष्ट

सांचा, प्रचण्ड मशीनकरण, परम वाहुल्य (Super Abundance), कलमय उत्पादन का दुखद काकपक्ष, बलात अभाव और बलात बेकारी, पूँजीवादी दृष्टि, नफाखोरी, बाहुल्य के मध्य निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ, समाजवादी दृष्टि, मार्क्सवाद और पूँजीवाद, चर्खा मार्क्स की अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण, कलमय उत्पादन का विनाशक गोरखधधा, कलमय उत्पादन का गुणनफल विश्व युद्ध, चर्खात्मक उत्पादन का लागत पहलू, कृत्रिम साम्य असभव है, "समन्वयात्मक सम्पूर्ण," चर्खात्मक उत्पादन, उत्पत्ति का निर्यात या वाह्य उपयोग, स्थानीय आवश्यकता के लिए स्थानीय पचायत कारखानों पर खड़ा होने वाला राज धोखा है, 'मास प्रोडक्शन,' 'कलेक्टिव् फार्मिंग, सामूहिक उत्पादन, सम्मिलित कृषि, 'सहयोगी' कृषि, 'सामूहिक स्वामित्व', धरती के मालिक, विनोबा का मत, स्वामी और दास, वैयक्तिक उत्पादन के लिए वैयक्तिक मशीनें, चर्खात्मक मशीनों का विवरण, मानव समाज की निर्दोष प्रगति की मौलिक शर्त, चर्खात्मक मशीनों में सुधार, कारखानों की विशेषता, एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था, शति-प्रति-शत रोजी की गारटी, कलमय उत्पादन, नि कल उत्पादन का राजनीतिक अग, वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव, पुलिस और सेना, शोषण और दमन के प्रतीक, अर्थ और राजनीति, केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण— २३-४३, २६-५६

(य) नवभारत का विषयाधार—

आङ्कणात्मक पक्ष—आङ्कणों का यथार्थ महत्त्व—प्रत्यक्ष सत्य और निर्जीव तथ्य— ४४-४५, ५६-६०

(र) नवभारत का भौगोलिक अर्थ—

मार्क्स का मत आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक ढाँचे की जननी—भौगोलिक प्राधान्य—भौतिक प्राचुर्य और सास्कृतिक स्वरूप—भौगोलिक परिस्थितियाँ और जातीय स्वभाव—स्वावलम्बन, भारत और इगलैण्ड मे—व्यक्ति की निर्धारण शक्ति और समाज की सामूहिक अर्थ व्यवस्था नवभारत की मौलिक अर्थ व्यवस्था—स्थिति भूत तथ्य—भारतीय जलवायु की देन प्राकारिक तथा पारिम णक बाहुल्य–दुष्कालों का रहस्य–जनसख्या और दुर्भिक्ष (टिप्पणी)–भारत की मौलिक बनावट और वितरण व्यवस्था— ४६-५८, ६०-७१

(ल) नवभारत की प्रस्तुति—

नवभारत अर्थशास्त्र की विशुद्ध एव व्यावहारिक रूपरेखा है—नवभारत की सैद्धातिक स्थिति—नीति और प्रणाली—नवभारत की योजना धनिकों की

द्वितीय खण्ड

नारी

है परन्तु पश्चिम के समान जड नहीं, चेतन है—जड़ और चेतन के अंतर से दो प्रकार की सभ्यताओं की सृष्टि . केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी यानी शहरी और ग्राम्य—पूँजीवादी और समूहवादी, दोनो जड यानी शहरी हैं—भारतीय सभ्यता चेतन यानी ग्राम्य है—केन्द्र और आयतन—समाज संघटन की बुनियादी बातें—समाज संगठन की मूल प्रेरणा आर्थिक स्वार्थ—संस्कृति का निर्माण—संस्कार और संस्कृति—सामाजिक विकास का आर्थिक सूत्र—कलयुग—संसार दो दलों में विभक्त हो गया (१) कारखानों वाली केन्द्रित व्यवस्था, (२) चर्खे वाली यानी विकेन्द्रित व्यवस्था—मशीन और मजदूर—कलमय विधान शहरी समाज केन्द्रीकरण—युद्ध और संघर्ष, उद्योगवाद की अनिवार्य शर्त—ग्रामीण समाज ग्राम्य सभ्यता—पैसा साधन से साध्य—कृषि, भारतीय संस्कृति का मूल आधार—प्राचीन संस्कृति के आधारात्मक तत्व सम्मिलित परिवार और जीविका की गारंटी,-स्पर्धा और स्वार्थपरता पर वर्ण-गत अंकुश, स्वावलम्बन और आर्थिक सुरक्षा, ग्राम्य पंचायतो द्वारा, आध्यात्मिक विकास की श्रेष्ठता—पश्चिमी सभ्यता प्राण घातक स्पर्धा पर अवलम्बित है—ूँजीवाद और समूहवाद—समूहवाद और व्यक्ति—मशीनो की विराटता को लघुता मे बदल देने से समस्या का हल—स्वदेशी 'वसुधैव कुटुम्बकम'—भारतीय ग्रामोद्योग का लक्ष्य—समाज की बनावट मे आथिक स्वार्थो का स्थान— ८–२६, १२०–१३४

(ग) भारतीय समाज का आधारात्मक तत्व—

समाज की वर्तमान स्थिति—जनसख्य मे वृद्धि और सामाजिक मान्यताएँ—भारत मे जनाधिक्य पर डा० ग्रेगरी और डा० केलॉग के मत—जनन निग्रह की प्राकृतिक समाज व्यवस्था : आश्रमस्थ जीवन—प्राचीन सभ्यता पर एक दृष्टि—प्राचीन और अर्वाचीन की तुलना—समाज के आर्थिक जीवन का उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर अवलम्बित ह—बाह्य और आन्तरिक जीवन का सामञ्जस्य— ३०–३६, १३४–१३९

(द) सहयोग या संघर्ष—

जगत की परिवर्तनीयता, तात्विक या उपकरण गत ?—मार्क्स दर्शन अन्तर्द्वन्द्व 'डायलेक्टिक्स'—अन्तसंघर्ष और द्वन्द्वात्मक विकास—पशु जीवन मे व्यापक और व्यवस्थित सहयोग—सहयोग और सहायता से सामाजिक जीवन में आनन्द का अनुभव—"मत्स्यन्याय" १ (ट)—सहयोग अनुभूत सत्य—डारविन का मत एक की दूसरे पर निर्भरता, सन्तति और सुरक्षा की

प्रथम खण्ड

विषय-प्रवेश

(अ) नवभारत का अर्थ

'नवभारत' भारत के आर्थिक पुनरुद्धार की एक सरल और सुबोध-सी रूपरेखा है

१. अर्थशास्त्र मनुष्य के सुख और समृद्धि का एक जटिल विज्ञान है और इसका अनादिकाल से विवेचन होता आया है, परन्तु इस समय हम सभ्यता के ऐसे युग मे पहुँच चुके हैं, विकास की एक ऐसी स्थिति पर खड़े हैं, जहाँ से हमे अपने प्रगति पथ को स्पष्ट कर लेना है, अपने दृष्टिकोण की सार्थकता को भलीभाँति परख लेना है और इस विभ्रांत विश्व को दृढ़तापूर्वक बता देना है कि भारतवर्ष का आर्थिक विधान विश्व की मान्यताओ का समादर करते हुए भी भारतीय और केवल भारतीय ही हो सकता है। विश्व से इसकी भिन्नता उतनी ही स्पष्ट है जितनी कि विश्व से इसकी अभिन्नता के लिए आवश्यक है। हम पाश्चात्य परिभाषाओ के सज्ञाहीन अङ्गीकरण और प्रचलित वाद-नानात्व मे खो जाने की समस्त सम्भावनाओ को दूर रखना चाहते हैं। इसीलिए हम अपने आयोजन तथा विवेचन का परिचय नवभारत के नाम से करा देना आवश्यक समझते हैं। 'नवभारत' भारत के आर्थिक पुनरुद्धार की एक ऐसी सरल सुबोध-सी रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसमे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है और जिसमे समस्त विश्व के पुनरुद्धार की प्रेरणा और योजना विद्यमान है, यहाँ अर्थशास्त्र के उन्हीं अङ्गो पर और उसी रीति से जोर दिया गया है जो हमे सर्वसाधारण के व्यावहारिक जीवन का प्रत्यक्ष बोध करा सकें। अपने "इसी विवेचन और विश्लेषण समुच्चय" को हम 'नवभारत' कहेगे क्योंकि विश्व के नकशे मे भारत को व्यक्त करना ही हमारा तात्कालिक लक्ष्य है।

२. अतः अपने आर्थिक दृष्टिकोण को निःशङ्क और 'विभ्रांत' रूप से स्पष्ट कर देना ही हितकर प्रतीत होता है। जेवॉन की अर्थ-व्याख्या[1] (Theory of Value) ने पश्चिम में आर्थिक विचारों (Economic Thought) को एक नया रंग दिया और धीरे-धीरे लोग इस मान्यता पर आने लगे कि अर्थशास्त्र में यथार्थतः भौतिक एवं ऐहिक स्वार्थों के साथ ही एक पारमार्थिक तुष्टि का भी विधान होना चाहिये। इसने सम्पत्ति को भौतिक की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक महत्त्व प्रदान किया[2] या यों कि पाश्चात्य विद्वानों ने प्राच्य शिखर की ओर ऊपर उठने में दूसरा पग उठाया। यहाँ हम 'अर्थ' की वैदिक परिभाषा को लेकर भारतीय दृष्टिकोण की व्यापकता सिद्ध करने की अपेक्षा यह अधिक आवश्यक समझते हैं कि अर्थशास्त्र की प्रचलित परम्पराओं में हम अपना पारिभाषिक लक्षण एक बार सदा के लिए स्पष्ट कर दें ताकि 'नवभारत' का अर्थ समझने में किसी प्रकार की शंका न रह जाय। वास्तव में, जैसा कि धीरे-धीरे सिद्ध हो जायगा हम उन विचारकों से कुछ हद तक सहमत हैं जिन्होंने स्वीकार किया है कि भारतीय अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें इसका एक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करना होगा, बल्कि इसे एक सर्वथा पृथक् विषय ही समझना होगा[3]। जैसा कि रानाडे ने कहा है, भारत में व्यक्ति को अधिकांश पाश्चात्यों के "आर्थिक जीव" का विपर्य्याय-सा ही समझा जाता है[4] जो गार्हस्थ्य और वर्णाश्रम धर्म के साँचों में ढला हुआ जीवन सिद्धि की ओर निश्चित ढंग से बढ़ता हुआ नजर आता है। अतएव, आवश्यक है कि वर्तमान देश-काल के सामञ्जस्य में भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन

भारतीय अर्थ-शास्त्र के अध्ययन और विवेचन में नये लक्षणों का प्रयोग

---

१ हम अंगरेजी के वैल्यू (Value) शब्द के लिए 'मूल्य' या 'कीमत' का प्रयोग करने के बजाय श्री सम्पूर्णानन्द जी द्वारा प्रचारित संस्कृत के 'अर्घ' शब्द का व्यवहार करना ही उचित समझते हैं और इसके कारण भी वही हैं जो श्री सम्पूर्णानन्द जी ने बताये हैं। देखिये 'समाजवाद' पृष्ठ ४ (भूमिका)।

2 Economics of Inheritance, by Josiah Wedgwood, P. 30

3 Indian Economics, by Jathar & Beri, Vol. 1, P. 4

4 Indian Political Economy, by Ranade, P. 10-11

के लिए नये लक्षणो (New Technique) का प्रयोग किया जाय[1] और यही एक ऐसा विशेषण है जो हमारे इस प्रयास को 'नवभारत' का नाम प्रदान करने की प्रबल प्रेरणा कर रहा है। हम देखते हैं कि एक बात से सिंध प्रान्त के किसान सुखी और समृद्धिशाली होते हुए माने जाते हैं परन्तु जब वही बात बगाल के अकल्पनीय नरकङ्काल का कारण मानी जाती है[2] तो एक मोटी बुद्धिवाला व्यक्ति भी सहज ही पुकार उठता है कि—"अवश्य, इस वर्तमान अर्थविज्ञान मे ही कोई तात्त्विक दोष है, कोई लाक्षणिक दुर्बलता है।" अतएव नये लक्षणो से युक्त एक ऐसी निर्दोष अर्थ-नीति का सहारा लेना है कि प्रचलित अर्थ व्यवस्था के घातक विरोधाभासो मे पडकर समाज नष्ट भ्रष्ट न होता रहे और साथ ही साथ अन्य लोगो को भी आगे के लिए रास्ता मिलता रहे।

(ब) नवभारत की आवश्यकता

सरल, सुबोध, और व्यावहारिक ढग से आगे बढने का साधन

३. यह हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि भारतवर्ष अपने आर्थिक पुनरुद्धार की ओर गत ४५-५० वर्षो से ही विशेष ध्यान देने लगा है, और इस छोटे से काल मे हमारे संघर्षों तथा प्रत्येक रचनात्मक कार्यक्रम का अधिकाश, किसी न किसी रूप मे, काग्रेस और गांधी जी से सम्बद्ध रहा। इसी बात को यो भी रखा जा सकता है कि हमारे भावी निर्माण की वर्तमान चेष्टाओ मे गाधी विचारधारा का एक प्रमुख भाग है। परन्तु खेद है कि कुछ लोग

---

1 Indian Economics by Jathar & Beri, Vol 1, p 7

"यहाँ new technique (नये लक्षण) का नाम तो लिया गया है परन्तु खेद है कि ऐसे विद्वान् लेखक भी प्रचलित परिपाटियो तथा भावधारा में सने होने के कारण न तो किसी ऐसे मौलिक लक्षणो का प्रयोग कर सके है और न भारत की देश-दशा की कोई व्यावहारिक रूपरेखा ही प्रस्तुत कर सके है। अतएव यह स्पष्ट रूप से स्मरण रखने की बात है कि 'नवभारत' के लक्षण तथा इसकी प्रस्तुति—दोनो अपनी नवीनतम वस्तु है।

२ देखिये अमृत बाजार पत्रिका, २३–२–४५, में सिंध के प्रधान मन्त्री की बजट सम्बन्धी बहस पर टिप्पणी जहाँ युद्ध-जन्य मूल्य वृद्धि को प्रान्त की समृद्धि का कारण सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है।

'गांधीवाद'[१] के मर्मज्ञ कहलाते हुए भी उसे एक अज्ञेय वस्तु घोषित करने में ही अपना पाण्डित्य समझते हैं[२]। जब तक सर्व-सामान्य के सम्मुख गांधीवाद की एक सुनिश्चित एवं सुबोध रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की जाती, जबतक लोगों के सुख-दुख का तार्किक विश्लेषण नहीं किया जाता जबतक, लोगो के लिए सरल, सुबोध और व्यावहारिक ढग से आगे बढ़ने का मार्ग

'१ गाधी जी ने मानवता के समुत्थान के लिए वैज्ञानिक एव सर्वांगीण योजनाएँ दी, व्यक्ति या समाज का कोई अग नही जिसे उन्होने नही छुआ परतु उन्होने कोई 'वाद' नही चलाया। सामान्यत 'वाद' का शाब्दिक अर्थ यही होता है कि जब किसी विचारधारा की एक परिधि निश्चित हो जाती है तो उसके दायरे में कसे हुए व्यक्ति और समाज दोनों घूमने लगते हैं। इस प्रकार स्वभावत, वादो में कट्टरता (Rigidity) का समावेश हो जाता है, सारी योजना स्थितिक (Static) वन जाती है। परतु गाधी जी ठीक इसके विरुद्ध थे, वे नैतिक और भौतिक आकाश के 'गतिमान तत्व (Dynamic Factor) थे। विवेक और समाधान ही उनकी विचारधारा का प्रमुख लक्षण है, इसीलिए वह नित्य परिवर्तनशील है। परन्तु किसी विचारधारा का जहाँ तक सामूहिक और सम्पूर्ण वोध प्राप्त होता है उसे 'वाद' कहते है। 'वाद' शब्द के केवल इसी परिचायक अर्थ मे हमने इसे गाधी विचाधारा के साथ जोड़ा है। इस रचना में 'गाधीवाद' शब्द का इसी खुले अर्थ में प्रयोग हुआ है।

२ 'समाजवाद की थियरी (सिद्धान्त) निश्चित है परन्तु गाधीवाद का महत्त्व 'थियरी' की अपेक्षा 'प्रैक्टिस (आचरण) में ही है। कोई मनुष्य गाधीवाद को तब तक नही समझ सकता जब तक उसने अपने जीवन को उसी साँचे में न ढाल लिया हो।'—'गाधीवाद की रूपरेखा', पृष्ठ ७१। वास्तव में गाधीवाद के सम्बन्ध में ऐसा कहना, मेरे विचार से, भ्रामक सिद्ध होगा क्योंकि ऐसा होने से वह सर्वसामान्य को प्रेरित करके अपना लेनेवाला मार्ग नही हो सकता और न वह अपने आप पनप कर जगत् मात्र को आच्छादित कर सकेगा। कम से कम, वह किसी देश या समाज का सामूहिक मान तो बन ही नहीं सकता। धर्म, मत, वाद या और जो कुछ भी कहें, होना यह चाहिये कि व्यक्ति या समूह, इसे अपने जीवन की व्यवस्था में शामिल कर सकें। यदि गाधीवाद को ही सर्वोदय कहा जाता है तो उसमें उपर्युक्त गुण का होना अनिवार्य होगा। है भी ऐसा ही। जब तक हम गाधीवाद के इसी आधार को उसके वैज्ञानिक विश्लेषणो द्वारा पुष्ट नही कर देते, वह सदैव हिलता डोलता-सा नजर आयेगा और लोग उसे अज्ञेय कह कर उपेक्षा करते रहेगे। वस्तुत, गाधीवाद को अज्ञेय कहना दुर्बल समीक्षा का दोष बन जायगा और 'शव परीक्षको' को दुष्प्रचार का अवसर प्राप्त होगा। गाधीवाद निरा दर्शनशास्त्र ही नहीं बल्कि वह मनुष्य का एक व्यावहारिक विधान भी है जो वैज्ञानिक और सामूहिक व्यवहार, आत्मानुभूति और वैज्ञानिक विश्लेपण—प्रत्येक के लिए समान रूप से सुलभ है।

निर्धारित नहीं कर दिया जाता हमारी सारी बातें आर्थिक विधान नहीं, केवल दिमागी कसरत रह जायेंगी। संसार के सुख साधन की व्यवस्था केवल बौद्धिक समीक्षा से नहीं, एक ऐसे वैज्ञानिक आयोजन से सम्भव होगी जिसे लोग शोषणात्मक और संहारी प्रवृत्तियो के स्थान मे रचनात्मक और सृजक स्वरूप व्यवहृत कर सकें।

शोषणात्मक और संहारी प्रवृत्तियों के स्थान में रचनात्मक भावधारा

(स) नवभारत का आर्थिक दृष्टिकोण

४. सदियो की दासता के बाद भारत स्वतंत्र हुआ, परन्तु देश का दुख घटने के बजाय बढ़ गया है, जनता दुर्बल और निरीह होती जा रही है, देश का आर्थिक प्रवाह गतिहीन-सा हो रहा है, श्रम और उत्पादन मे लोगो को, मानो, उत्साह नहीं, जीवन भारी बोझ बन रहा है, अन्न-वस्त्र के अभाव से उत्पीडित, घर-द्वार की तगी और फटेहाली से व्यग्र, जीवन सुख से शत-प्रतिशत वंचित, दीन, दलित, शोषित और शासित, रोगी तथा चिन्तित जनबाहुल्य स्वतंत्रता के बावजूद भी दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी दशा मे हमारा आर्थिक विवेचन यदि कुछ भी हो सकता है तो वह केवल इस नरभक्षी कराल को दूर करने का एक वैज्ञानिक आयोजन ही होगा, जहाँ रोग और भूख से मर-मर कर सड़को पर सडती हुई लाशों के बीच भव्य मोटरो में[1] सुस्वादिष्ट भोजन से परिपूर्ण निर्मोही (unfeeling) सवारियो की स्वच्छन्द गति देखने को न मिले, जहाँ छोटे-बड़े के बीच कोई निर्बन्धनीय दूरी न हो, जहाँ उन्नति और उत्थान की दौड मे सबके लिए सुख सम्पदा का समान अवसर हो, जहाँ समाज को श्री और समृद्धि की प्राप्ति मे कोई कृत्रिम बाधा न हो। यदि ऐसा नहीं है,

नरभक्षी कराल को दूर करने के लिए एक वैज्ञानिक आयोजन की आवश्यकता

उन्नति और उत्थान की दौड में सबके लिए सुख-सम्पदा का समान अवसर होना चाहिये

---

१. काशी की सड़कों पर भिखमंगो की लाशें प्राय मिला करती है। अभी उस दिन मछोदरी पार्क की सड़क की पटरी पर एक लाश मिली, जो कोई उठानेवाला न होने के कारण बहुत देर तक पडी रही। इसके कुछ दिन पहले गायघाट की चौमुहानी पर ऐसी ही एक लाश पडी थी। क्या इन भिखमंगों के सम्बन्ध में नगर का कोई कर्तव्य नही है? भूखों मरनेवाले इन अभागों को पूछनेवाला भी कोई नहीं?—'संसार'।

यदि करोड़ों भूखी हड्डियो पर कुछ लोगों को गुलगुल मांस का स्तूप बनने का विधान है, यदि घास-फूस के खाली घरों के जोड़ से इम्पीरियल बैंक के स्वर्णपूर्ण केन्द्र स्थापित करने के तरीके हैं, यदि रोटी के टुकड़ो के लिए रें-रें, भिनकते हुए नंगे लोगो को रेशम और किमख्वाब से लदे हुए प्राणियो द्वारा उपेक्षित होना पड़े तो हम ऐसे विधान को अर्थशास्त्र या विज्ञान नहीं, झूठ, फरेब, मक्कारी और राहजनी कहेगे और नवभारत में ऐसे आयोजन को स्वप्नवत् भी स्थान नहीं प्राप्त है। यदि भूखे, नंगे, गृहहीन, दीन-दुर्बल लोगो के श्रम और उत्पादन, उनके कर और लगान से अमीरो की सम्पत्ति स्थिर होती है, दिल्ली में या लखनऊ मे मंत्री भवन, धारा-सभा तथा आतिथ्य गृह की भव्य अट्टालिकाएँ खड़ी की जाती हैं, यदि धूल और रोग से भरे हुए जीवनहीन गाँवों के नाम पर कनाट सर्कस और हजरतगंज मे चौड़ी-चौड़ी सड़कें तैयार की जाती हैं, यदि रोटी-धोती के लिए मुँहताज नर-कङ्कालों पर हुकूमत करने के लिए करोड़ो, अरबो के व्यय से चलनेवाली एक जटिल सरकार का खर्च निकाला जानेवाला करपूर्ण विधान तैयार होता है तो हम निःशंक होकर कह देंगे कि वह व्यवस्था सर्वथा दूषित और मानवता (Human values) से शून्य है, भले ही इसके संचालक और प्रणेता हमारे ही अपने आदमी क्यो न हो। ऐसी व्यवस्था से राष्ट्रीय आय (National Dividend) भी दूषित हो जाती है। नवभारत ऐसी अवैज्ञानिक, दूषित और अमानुषिक व्यवस्था का कदापि समर्थन नहीं कर सकता[1]

---

1. I do not draw a sharp line or distinction between Economics and Ethics Economics that hurt the wel-being of an individual or a nation are immoral and therefore, sinfull. —Gandhiji, Young India, 13, 10, 21. An Economics that inculcates Mammon worship and enables the strong to amass wealth at the cost of the weak is a false and dismal science—

Gandhiji, Harijan, 9-10-37

The economics that disregard moral and sentimental considerations are like wax works that being life like, still lack the life of the living flesh—

Gandhiji, Young India, 27-10-21.

जिसमे जनता की सुख-समृद्धि को नहीं, कुशल और योग्य पुकारी जाने-वाली केवल एक, अनावश्यकतः, महँगी और जटिल सरकार को ही बल प्राप्त होता है[1]।

५. संसार की वर्तमान दुरगी को नवभारत अनीति समझता है, वह कभी स्वीकार नहीं कर सकता कि एक को दूसरे के खून से मोटा होने की व्यवस्था की जाय, वह कभी नहीं देख सकता कि हमारी फूल-सी बहनें पेट के लिए दालमंडी, फारस रोड या कलकत्ता के नारकीय जीवन मे घुलघुल कर मर मिटें। नवभारत की आथिक योजनाएँ नैतिक साम्य से ही सचारित होती हैं। जैसा कि गाधीजी कहते हैं, अर्थ और नीतिशास्त्र को नवभारत एक-दूसरे से पृथक् नहीं समझता[2]। जिस आर्थिक विधान मे व्यक्ति

दयनीय दुरगी

---

1 Industrial Survey Committee Report, C. P and Berar Govt. 1939, Vol I, Part 1, Page 2,—इस जटिल और महगी सरकार के स्थान में एक सरल और सस्ता शासन स्थापित करने के लिए ही नवभारत वस्तु विनिमय और पचायती राज की सलाह देता है।

2 "Ideas of social justice and public morality do enter into what people find to be best and that the ethical aspects of an economic system cannot be regarded as irrational or even as non-economic consideration."—Economics of Inheritance p 52

आचार्य कृपालानी ने 'राजनीतिक बकवास' के शीर्षक से 'विजिल' (२४-६-५० तथा १-७-५०) में एक महत्वपूर्ण लेख लिखते हुए अर्थशास्त्र की व्याख्या की है। वहाँ उन्होने सुन्दर ढग से सिद्ध किया है कि अर्थशास्त्र गणित या ज्योतिष शास्त्र के समान कोई स्वतन्त्र या अकेला विषय नही है। यह, प्राचीन अग्रेज अर्थशास्त्रियो के मतानुसार केवल "उत्पादन, वितरण और विनिमय" तक ही नही खतम हो जाता। वस्तुत, यह जीवन का सम्पूर्ण व्यापार है और इसमें व्यक्ति और समाज की रचना सन्निहित है। प्रत्येक के कार्य मे दूसरे का सम्बन्ध है, प्रत्येक लेनदेन में सामूहिक हित-अहित की गति स्थिर होती है इसलिए अर्थशास्त्र को जीवन विज्ञान के पैमाने में रखकर देखना अधिक श्रेयस्कर है।

दूसरी बात उन्होने यह सिद्ध की है कि अर्थशास्त्र के सिद्धात विद्युत, गणित या रसायन शास्त्र के समान सार्वभौमिक एकरूपता नही धारण कर सकते। भिन्न-भिन्न क्षेत्र और देश, भिन्न-भिन्न राष्ट्र और समाज की स्थानीय और प्रादेशिक आवश्यकताओ के अनुसार ही कार्य होता है। इसका पारस्परिक सहयोग और सामञ्जस्य हो सकता है, एकरूपता नहीं। नवभारत को समझने के लिए हमें इन बातो को ध्यान में रखना होगा।

या राष्ट्र का सौम्य स्वरूप नष्ट हो, उसके कल्याण पर आघात हो, वह विधान नहीं, अनीति है। अनीति अर्थात् पापाचार है। वास्तव मे, जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्त्व मनुष्य की नैतिकता पर अवलम्बित नहीं होता, समाज की संघटन-धुरी टूट जायगी, बेकारी और शोषण[1] का महारोग समस्त संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। किसी भी शुद्ध आर्थिक विधान मे शोषण और दासता को स्थान नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, बल्कि हमारी अर्थनीति मे एक आध्यात्मिक बल भी होना चाहिये[2], ताकि मनुष्य की आर्थिक स्फूर्तियाँ विकास की लम्बी यात्रा मे प्रबल परिणाम उपस्थित कर सकें। इसी बात को और भी आगे बढ़ कर गाँधी जी दूसरे ढंग से यो कहते हैं—अर्थशास्त्र का वास्तविक मूल्य यही है कि वह मनुष्य का धर्म बन सके[3] अर्थात् जो बात धर्मरूप से ग्रहण नहीं की जा सकती वह त्याज्य है और समाज का उससे कोई स्थायी हित होना भी असम्भव है।

अर्थ और नीति शास्त्र एक दूसरे से पृथक नहीं हैं

६. भारतीय अर्थशास्त्र की नींव समाज शास्त्र पर खडी होनी चाहिये। यही कारण है कि यहाँ सर्वप्रथम मानव समाज के मौलिक तत्त्वो और उसकी अन्तर-धाराओ पर विचार करते हुए मनुष्य की आर्थिक प्रेरणाओ को स्थिर करने की चेष्टा की गयी है। दृष्टान्ततः, भारतीय समाज शास्त्र का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि यहाँ सती और सद्‌गृहस्थ को विशेष महत्त्व दिया गया है क्योंकि दोनो के पारस्परिक सहयोग और सुपरिश्रम से ही गृहस्थाश्रम की जीवन-बेल हरी-भरी रहती थी, क्योंकि इस गृह समूह से ही उसके

भारतीय अर्थशास्त्र का मौलिक आधार

---

१ शोषण में हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ प्रधान होती है, इसीलिए गाधीवाद के महापण्डित, अ० भा० ग्रा० उ० संघ के मन्त्री, ने '४१ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट मे आर्थिक आयोजन के लिए अहिंसात्मक आधार की आवश्यकता बतायी है।—पृष्ठ १

२ गाधीजी, यग इण्डिया, १५-६-२७।

३ गाधीजी, यगइण्डिया, १५-६-२७। सर अकबाल ने इसी भाव को यो अंकित किया है—' जलवये बादशाही हो या जम्हूरी तमाशा हो। जुदा हो दीन सियासत से तो रह जाती है चगेजी,'' अर्थात् धर्महीन व्यवस्था केवल लूट खसोट है।

समाज का रूप निर्म्मित हुआ था अर्थात् समाज की सुख-सम्पदा का सूत्र सुदृढ गार्हस्थ्य और दाम्पत्य विधान मे छिपा हुआ है। यह भी एक सर्वनिष्ठ (Common) बात है कि समाज की श्री और समृद्धि, उसका विकास, दृढ़ता और स्थायित्व, उसके आकार-प्रकार, उसके पोषक और विधायक अवयवो से ही संपुष्ट होते हैं, अतएव भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए समाजशास्त्र पर भी एक सूक्ष्म दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है,ताकि भारत का उस विशेष समाज रचना को समझने मे सहायता मिले जिसने इसे एक विशेष आर्थिक विधान की प्रेरणा दी थी।

भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए उसके समाज शास्त्र को समझना होगा

७, किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है, यही कारण है कि भारतीय सभ्यता, स्वभावतः, पाश्चात्य के प्रतिकूल 'शहरी' सकुचन की अपेक्षा ग्राम्य विस्तार पर अवलम्बित है जो (ग्राम्य विस्तार) हमारी भौगोलिक परिस्थितियो मे सहज ही प्राचुर्य्य को प्राप्त करने की असीम क्षमता रखता है। इसे समझे बिना लन्दन और न्यूयार्क की योजनाएँ अपनाने से नतीजा भयकर होगा, हो रहा है। अस्तु, यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि हमे जनवृद्धि के लिए अमित और स्वच्छन्द साधन प्राप्त है[1] और इस विशेषता का ही प्रभाव कहना चाहिये कि उत्पादन के दो मुख्य साधनों—श्रम और पूँजी—मे से हमारे पास श्रम (मानव तथा पशु) का बाहुल्य सदा से चला आया है। परिणामतः भारत का आर्थिक सघटन, पूँजी नहीं, श्रम-प्रधान होना चाहिये[2]। परन्तु

किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है

---

१ इस सम्बन्ध मे यह भी समझ रखने की बात है कि किसी देश की जनसख्या का ही देखकर हम जनाधिक्य (Over Population) की घोषणा नही कर सकते। यदि लोगो को भोजन तथा जीवन सुविधाओ के पर्याप्त साधन प्राप्त हैं अथवा बढती हुई जनसख्या के साथ ही हमारी उत्पत्ति भी बढ रही है तथा उसे बढने के पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं तो हमारे सम्मुख जनाधिक्य का प्रश्न ही नही उठ सकता। अभिप्राय यह कि जनसख्या और उत्पत्ति, दोनो परापेक्षित शब्द है। (Relative terms) शब्द हैं।

2 Industrial Survey Committee Report, C P. & Berar Govt 1939 Vol 1, Part 1, p 2 3—वर्तमान युद्धोत्तर बेकारियो को ध्यान में रखते हुए यह प्रस्ताव और भी पुष्ट हो जाता है।

इन पिछली दो शताब्दियों से उलटी ही धारा वही है जिसने हमारे समस्त जीवन क्रम को विघटित-सा कर दिया है। आज वस्तुस्थिति यह है कि हमें न तो उत्पादन क्रम को तीव्र करना और न साम्यवादी बटवारे की समस्या सुलझानी है बल्कि इन सबको हाथ मे लेने के पहले, सबसे पहले, श्रमबाहुल्य को लेकर सारा आर्थिक ढाँचा ही फिर से खड़ा करना है।

भारतीय सभ्यता ग्राम-प्रधान है

८. हम कह चुके हैं कि भारतीय सभ्यता ग्राम्य-प्रधान है अतएव इसके आर्थिक संघटन की भित्ति ग्राम्य सम्पन्नता पर ही खडी की जा सकती है। देश-देशान्तरो के व्यापक सपर्क, वाणिज्य-व्यवसाय के वैदेशिक श्रेय को लेते हुए हमारे आर्थिक विधान मे स्वसम्पन्नता (Self-contentedness) की ही प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये। जीवन पदार्थों की पूर्ति यथा-साध्य, उसी गाँव या प्रान्त की सीधी-सादी अदल-बदल द्वारा सुलभ बना लेना अधिक हितकर है। परिणामतः, सरल से विनिमय के लिए किसी दुरूह और पेचदार माध्यम की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होगी[1]। परन्तु आज हम कच्चे माल के उत्पत्ति स्थान और उनके कारखानो के बीच लम्बी दूरी होने तथा उत्पादन के व्यापारीकरण और अतर्राष्ट्रीय परावलम्बन[2] की लाचारियो के साथ ही एक कृत्रिम और अस्वाभाविक "मुद्रानीति" (Money Economy) के शिकंजे मे फँसकर जीवन-मरण की श्वासें ले रहे हैं। पश्चिम मे मुद्रा की आवश्यकता अनिवार्य हो सकती है जहाँ एक देश को किसी दूर दराज देश की उपज से जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के निमित्त सुगम विनिमय तथा

---

१ नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९३, टिप्पणी।

२ अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन का विरोध करते समय नवभारत के सम्मुख प्रतिरोधी राष्ट्रो का प्रश्न नहीं उठता। वास्तव में नवभारत का राष्ट्रवाद 'नाजी' या 'फासिस्ट' विचारो के विरुद्ध विश्व व्यवस्था के एक आधारात्मक अवयव (ingredient) के रूप में ही प्रस्तुत्त होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे स्वत राष्ट्र का अपने देश के स्वसम्पन्न नगर तथा ग्राम्य विस्तार के योग से ही स्थितिमन होना सम्भव है। दु:ख-दारिद्र्य से उत्पीडित प्रतिस्पर्धीय तथा प्रतिहिंसक राष्ट्रो के कृत्रिम समहकरण को नवभारत अशान्तिकर तथा अनर्थ (Non Economic) समझता है। नवभारत का लक्ष्य वह व्यवस्था है जो सुखी, स्वस्थ और सबल राष्ट्रो को लेकर निर्मित होती है, जैसे एक उन्नतिशील समाज के लिए सुखी, सम्पन्न और स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वयम्भू सहयोग प्राथमिक आवश्यकता प्रतीत होती है।

स्वगामी मुद्रा से ही स्वार्थ सिद्ध होता है, परन्तु भारतीय परिस्थितियाँ पश्चिम के बिलकुल विपरीत हैं; अतएव यहाँ 'मुद्रानीति' के बजाय "वस्तु विनिमय" (Barter) को ही प्रामुख्य प्राप्त हो सकता है। नवभारत में इस विषय पर विशेष विस्तार से विचार किया गया है, परन्तु यहाँ इतना तो कह ही देना चाहिये कि मुद्रा के असीमित व्यवहार और स्वच्छन्द प्रवाह ने संसार के प्राकृतिक "अर्थ" (Economics) को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। नवभारत में इसे आर्थिक वैषम्य का एक प्रबल कारण सिद्ध किया गया है जहाँ मुद्राधिपतियों को साधारण लोगों पर सहज ही सौदागरी प्रभुत्व (Bargaining power) प्राप्त हो जाता है। एक मुद्राधिपति मुद्राहीन लोगों से अधिक दृढता और स्वार्थपूर्वक सौदा करता है और इस प्रकार वस्तु का वस्तु से कभी भी समान और स्वाभाविक विनिमय हो ही नहीं सकता। विनिमय विधान के दूषित हो जाने से समाज का जीवन क्रम ही दूषित हो जाता है। इतना ही नहीं, वस्तु के बजाय माध्यम अर्थात् साध्य (End) के बजाय साधन (Means) का प्राबल्य स्थापित हो जाता है, "माँग और पूर्ति की प्रेरणाएँ" अर्थहीन हो जाती हैं[1]। मुद्रानीति को वर्तमान रूप में ग्रहण कर लेने का अर्थ यह है कि नश्वर (वस्तु पदार्थ) का 'अविनाशी' (मुद्रा) से विनिमय किया जाता है और इस प्रकार एक को दूसरे के साथ अनुचित दौड़ लगानी पड़ती है[2]। यह तो हम नित्य देखा करते हैं कि बेचारे गरीब किसानों को केवल अपना कर्ज और सरकारी लगान चुकाने के लिए अपने खून से उपार्जित अन्न का अधिकांश खेत से घर आने के पूर्व ही, सेठ-साहूकारों के हाथ, उन्हीं के मनचाहे दामों पर, बेंच देना पड़ता है। यह दशा और भी हृदय विदारक बन जाती है जब बेचारे उस किसान को उन अपने ही उपार्जित दानो-दानों के लिए मुहताज हो जाना पड़ता है अथवा अपने पाये हुए मूल्य

वस्तु विनिमय और 'मुद्रानीति'

दूषित विनिमय विधान का परिणाम

---

१ नवभारत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ९७-९९

2. Industrial Survey Committee Report C. P & Berar Govt Part 1, Vol 1, P 4

से भी अधिक चुकाने के पश्चात् उसे उन दोनों को फिर वापस लेना पड़ता है।[१]

मुद्रा मे स्थायित्व का होना परमावश्यक हो गया है ताकि वह वर्षो तहखानों मे दबे रहने पर भी खराब न हो सके परन्तु विरोधाभास तो यह है कि इस स्थायित्व ने ही ससार की व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है। इससे लोगो को मनमाना खर्च करने का अवसर मिलता है और वे अपने खर्च मे समाज या राष्ट्र की आवश्यकताओ को सुगमता-पूर्वक नजर अन्दाज कर जाते हैं[२]। अतएव नवभारत के आर्थिक आयोजन मे "मुद्रानीति" की अपेक्षा "वस्तु विनिमय" को विशेष स्थान प्राप्त है।

मुद्रा के स्थायित्व ने संसार की अर्थ व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है

मुद्रानीति को यदि त्याग दिया जाय तो, विवशतः, सरकार को अपनी शासन व्यवस्था-वस्तु पदार्थ के आधार पर खडी करनी पड़ेगी। परिणा-मतः, शासन अति सरल और अधिक निर्दोष तथा सरकार सस्ती हो जायेगी।[३]

६. देशस्थ व्यवहार मे सरकारी सुव्यवस्था के अतिरिक्त, सामाजिक शान्ति के निमित्त भी मुद्रा-नीति का परित्याग आवश्यक प्रतीत होता है। यह सर्वविदित दशा है कि वर्तमान युग मे आर्थिक अस्थिरता का एक बहुत बडा कारण मुद्रानीति से ही उत्पन्न होता है जहाँ नित्य साम्पत्तिक उलट-फेर की हृदय विदारक लीलाएँ देखने मे आया करती हैं जो सामाजिक अशान्ति की कटुतर प्रेरणा करती रहती हैं। अतएव नवभारत को, विवशतः, ऐसी व्यवस्था पर दृष्टि डालनी पडती है जहाँ समाज विकासमान दृढ़ता के साथ उन्नति पथ मे न्यूनतम अड़चनो के साथ अग्रसर हो सके।

मुद्रानीति का परित्याग आवश्यक है

(अ) इतना कहने के बाद नवभारत के आर्थिक दृष्टिकोण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष उपस्थित करना नितात आवश्यक मालूम होता है :—

---

1. Indian Economics, Jathar & Beri, Vol. I p. 150.

२ नवभारत प्रथम सस्करण, पृष्ठ १०६-१०७

३ देखिये नवभारत प्रथम सस्करण, पृष्ठ ११६

कुछ लोगो का ख्याल है कि प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल कारण है; जो कुछ है प्रकृति ही है। इसमे यह जो जीवन नजर आता है वह भी इस जड़ प्रकृति का ही रासायनिक क्रम है। बुद्धि, विवेक, मन, अंतःकरण, सबको इसी संदर्भ से समझना होगा। इसीलिए वे व्यक्ति को नहीं, समूह को ही स्वीकार करते हैं—व्यक्ति तो समूह का एक अंश, एक अंग मात्र है। और इसीलिए वे राष्ट्रीय यानी केन्द्रित उद्योग और सामूहिक कृषि के विरुद्ध व्यक्तिगत व्यवस्थाओ को अप्राकृतिक बताते हैं।

जड और चेतन के दृष्टिभेद से आर्थिक रचना का भेद

(ब) परन्तु नवभारत इस जड प्रकृति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी इसके लिए एक चेतन सत्ता को अनिवार्यतः आवश्यक समझता है। इसीलिए वह आदमी को लेकर, न कि उसकी सडक और उसके मकानो को लेकर, अपनी सारी योजना तैयार करता है।

पहली दृष्टि मे वैवाहिक भत्तो और कृत्रिम मैथुन के द्वारा आदमी की पैदावार, आवश्यकतानुसार, लोहे और सीमेन्ट के समान बढाने और घटाने के तरीके होते हैं, हरी-भरी बस्तियो को उजाड कर सडकें सुन्दर और चौड़ी की जाती हैं, प्राकृतिक साधनो को, आदमी को नहीं, विकसित किया जाता है। दूसरी दृष्टि मे आदमी को सुखी, स्वालम्बी और स्वसम्पन्न बनाने की आवश्यकता होती है। यही सही और नवभारत की दृष्टि है।

इसी सिलसिले मे पूँजी और श्रम के सवाल को समझ लेना जरूरी है। हमारा सारा साम्पत्तिक उत्पादन पशु, मनुष्य और उसके पुरुषार्थ को लेकर आयोजित होता है, पूँजी के आधार पर नहीं। मनुष्य के बजाय पूँजी को महत्त्व देना शुद्ध पूँजीवाद है, भले ही पूँजी पर एक के बजाय अनेक का, व्यक्ति के बजाय सरकार का नियन्त्रण हो। पर है यह पूँजीवाद यानी जड़वाद। जबतक हम पूँजी का आश्रय नहीं छोडते मानव का मूल्य स्थापित हो ही नहीं सकता।

जड और चेतन के इस दृष्टिभेद को ध्यान मे रखकर ही हमे नवभारत-का अध्ययन करना है।

(स) अब अन्त मे, यह भी समझ लेने की जरूरत है कि 'नव-भारत' व्यक्ति को समाज की एक सुदृढ और चेतन इकाई के रूप मे पुन-र्स्थापित करना चाहता है। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी मूल

भूत आवश्यकताओ के बारे मे अधिकाधिक स्वावलम्बी और स्वसम्पन्न हो। अन्न, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा—ये मनुष्य की पॉच मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। इनकी व्यवस्था "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" एवं "स्वाश्रयी" सिद्धातो से होनी चाहिये। इस प्रकार "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" और "स्वाश्रय" नवभारत की अर्थनीति के दो महत्त्वपूर्ण अंग और दो प्रमुख लक्षण हैं। इन दो सूत्रो को समझ लेने से नवभारत के सारे प्रस्ताव, सारी योजनाएँ आसानी से समझी जा सकती हैं।

(द) नवभारत का रचनात्मक आधार*

१०. वर्तमान ससार की दशा बड़ी शोचनीय है। विश्व मे संहारी नरमेध की प्रचण्ड ज्वालाएँ धायँ-धायँ जलती हुई फैलती ही जा रही हैं।

वस्तुस्थिति

करोड़ो, अरबो लोग भूख, दरिद्रता, रोग और उत्पीड़न के चक्र मे नियमित रूप से घुलघुल कर नष्ट हो रहे हैं। गार्हस्थ्य विधान छिन्नभिन्न हो गया है। बड़े-बड़े बैंको के सुदृढ़ 'स्ट्रॉग रूम' भी सुरक्षित नहीं मालूम पड़ते। हमारी धन राशि को मुद्रास्थिति बहाये ले जा रही है।

विमानो द्वारा देवलोक की सैर के स्थान मे विस्फोट बर्षाये जा रहे हैं। नित्य नये रोग पैदा हो रहे हैं, डाक्टरी विज्ञान भी परेशान है। चारो ओर खून की नदियाँ बह रही हैं, व्यभिचार और भ्रूण हत्या, चोरी और राहजनी का बाजार गर्म है। रोटी के लाले पड़े हुए हैं, भाई-भाई का गला काटकर आराम की खोज मे भटक रहा है। एक देश दूसरे को हाड़ और मॉस सहित हड़प जाने की फिकर मे सर्वस्व की बाजी लगा बैठा है। कोकेन और गुलामी का व्यापार संगठित रूप से चल रहा है। उद्धार का मार्ग छोड़कर हम तेजी से पतन की ओर बढते जा रहे हैं।

आखिर यह सब है क्या? प्रो० टॉसिग लिखते हैं—'यह कलयुग

यह कलयुग है !

(Age of Machinery) है। इसकी विशेपता है मशीन प्रयोग की पारिणामिक दशा।'

११. हमारे कार्यक्रम का ढंग बदल गया है। जुलाहे, बढ़ई, किसान और कारीगर का अस्तित्व मिटता जा रहा है, जो प्रत्येक वस्तु बनाकर

---

* यह स्थल मेरी बहुत पूर्व प्रकाशित रचना 'कलयुग' से लिया गया है। 'कलयुग' कल निराकरण के प्रस्ताव में विशेष रूप से लिखा गया था।

कार्य करने का ढङ्ग-भूत और वर्तमान

देखते थे, देखकर पहले स्वयं प्रसन्न होते थे और इसमे अपना पुरुपार्थ मानते थे; उन्हे कार्य मे अभिरुचि थी, आत्मसतोप होता था और इस प्रकार संसार के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक पदार्थ, मे मानव (Human Touch) का समावेश होता था। खरीदार के साथ विचार-विनिमय के पश्चात् आवश्यकतानुसार, चीजो मे पुनः सुधार या कमी-वेशी की जाती थी। इस प्रकार बनाने और बरतनेवालो के पारस्परिक आत्म-सतोप के साथ प्रत्येक कार्य मे अभिरुचि और प्रत्येक वस्तु के सदुपयोग की व्यवस्था की जाती थी। परन्तु अब कारीगर मनुष्य नहीं, "कल-कारखानो" का एक अग है, जो प्रतिक्षण, प्रतिदिन उसी नन्हे से कार्य मे लगा हुआ है ?[1] वल्कि वह अब "स्वगामी यन्त्र" (Automaton) मात्र अवशेप रह गया है जिसके 'भरोसे' पर कलकारखानों की दुनिया घडघडाती हुई आगे ही आगे लड़खडाती जा रही है।

अब कारीगर मनुष्य नहीं, कल का पुर्जा मात्र है

वास्तव मे मनुष्य अब मशीनो का पुर्जा मात्र रह गया है, जैसे पुर्जा संपूर्ण मशीन के विना व्यर्थ है, उसी प्रकार मनुष्य मशीनो के विना कार्य करने के गुण को त्यागता जा रहा है और इस प्रकार मशीनो पर उसकी आत्मनिर्भरता उसके मानव माहात्म्य को निर्मूल बनाती जा रही है। मशीनो को लेकर मनुष्य प्रकृति पर विजय का सिंहनाद करने लगा है। वह रोज कारखाने जाता है, निश्चित समय तक काम करके चला आता है। उसने क्या बनाया, शायद उसे यह भी नहीं मालूम। कार्य या वस्तु के सपूर्ण ज्ञान से भी वेचारा वह विशेपज्ञ वञ्चित हो गया है। वह शकल तो अब भी मनुष्य की पूरी-पूरी रखता है परन्तु उसका वस्तु-ज्ञान घटता ही जा रहा है। हम उसे मनुष्य कह सकते हैं पर वह अब पूरे के बजाय आशिक ज्ञान को लेकर अधूरा ही रह गया है। उसने जो कुछ बनाया—कहाँ गया, कौन जाने ? परिणामत., वनानेवाले का बरतनेवाले से कोई लगाव, कोई सरोकार नहीं। अमेरिका मे पशु मारे

मनुष्य है, पर अधूरा ही

---

1. A factory hand, attending hour after hour, week after week, to the same minute piece of work—Principles of Economics, Prof. Taussig P. 10

जाते हैं, वहीं पकाकर डिब्बो मे बन्द करके इंगलैण्ड के घरो या चीन की खाइयो मे खाये जाते हैं, परन्तु पकाया किसने, खाया किसने—कोई नहीं जानता। न किसी को किसी से शिकायत है, न कोई किसी के भले-बुरे का देनदार है। इतना ही नहीं, बनानेवाले का बनानेवाले से भी कोई वास्ता नहीं। हजारो लोग, एक-एक कारखाने मे, प्रातः भेड़-बकरियो के समान घुस जाते है और सन्ध्या समय कुछ पैसो के लिए पशुवत् परिश्रम के उपरान्त, घर रूपी दो चार हाथो के संकुचित परिमाण से बने हुए 'दरबो' मे भेड़-बकरियों के समान ही रोग ग्रस्त और अभावपूर्ण जीवन की यातना झेलने के लिये जा रहते हैं। इस प्रकार बढ़ी हुई मजदूरी की तृष्णा में मानव अपने स्वत्व का ही दाँव लगाकर, नित्य, निरन्तर, गाड़ी के पहिये के समान घूमता जा रहा है।

१२. मशीनो के साथ मशीन बनकर, लोग निश्चित ढर्रे मे लगे रहते हैं, उन्हे आपस मे निजी सलाह-मशिवरे की भी जरूरत नहीं पड़ती।

अत्र स्वार्थ मनुष्य का जीवन लक्षण बन गया है

मशीनो के ढाँचे मे, हमारा उत्पादनक्रम स्वच्छन्द विस्तार को प्राप्त हो रहा है। परिणामतः, लोगो का पारस्परिक सम्बन्ध कृत्रिम हो गया है। इस प्रकार कारखानो की परिधि मे संसार की गाड़ी उलट-पुलट रही है और वस्तुस्थिति यह है कि लोग अपनी-अपनी मे उलझ गए हैं, स्वार्थ मनुष्य का जीवन लक्षण बन गया है।[1]

१३. पहले जुलाहे कपड़े बुनते थे, कारीगर घर बनाते थे, लुहार, सुनार, जौहरी सभी अपने-अपने धंधे मे लगे हुए थे। आज चारो ओर बेकारी नजर आ रही है[2]। अब ग्राम्य व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है,

१ करोडो प्राणी की बलि देकर भी ससार में मिल कर रहने और जीने, बढने योग्य किसी समझौते के लक्षण दृष्टिगोचर नही हो रहे है जो इसी मशीन जनित स्वार्थान्धता का प्रमाण है।

२ यदि रूस को लेकर कहा जाय कि वहाँ बेकारी नही है तो इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना होगा कि वहाँ कार्य और श्रम के कृत्रिम अनुपात का व्यवहार हुआ है और लोगो की आवश्यकता की पूर्ति भी कृत्रिम रूप से की गयी है, अर्थात् अपूर्ण कार्य के लिए पूर्ण मजदूरी दी गयी है या राष्ट्रीय आयोजन के नाम पर उचित से अधिक परिश्रम लिया गया है। पहली दशा में इग्लैण्ड की बेकारी के भत्ते और रूस की मजदूरी में कुछ अन्तर नही, वास्तव में दोनो बेकारी के केवल दो रूप है। दूसरी दशा में रूस के समूहवादी और इग्लैण्ड के पूंजीवादी श्रम को समान ही समझना चाहिये। अन्तर केवल यही है कि वहाँ वैयक्तिक पूँजीवाद है, यहाँ सरकारी। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता क्योकि मशीनाश्रित उपज की लाक्षणिक परिभाषा ही ऐसी है।

स्वसम्पन्नता एक दुःखान्त स्वप्न के रूप में शेष है।

चतुर्दिक बेकारी

गाँववालों को खेत में बीज डालकर फसल काट लेना भर ही शेष रह गया है, यहाँ तक कि धान की भूसी भी खेत से सैकड़ों मील की दूरी पर छुड़ाई जाती है। तैयारी यह है कि जोतना, बोना, या खेत काटना, मनुष्य को कुछ भी न करना पड़े और पका-पकाया सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन उसके मुँह से अपने आप उसके पेट में जा बैठे। प्रत्येक काम के लिए मशीनें बन रही हैं और एक-एक मशीन हजारों मनुष्य का कार्य करती हैं और एक-एक कारखाने में अनेकों कार्य होते हैं। कारखाने में थोड़ा काम होता नहीं, वरना कारखाने का खर्च भी निकालना कठिन हो जाय। इस प्रकार एक कारखाना हजारों, लाखों लोगों की आवश्यकता पूरी करता है। जितने कारखाने होंगे उतनी ही अधिक उपज होगी और फिर उसकी खपत के लिए ग्राहक और बाजार चाहिये। यहाँ आकर प्रतिस्पर्धा, द्वन्द्व और वैमनस्य का जन्म होता है। बाजार और खरीदारों को काबू करने के लिए जब चालबाजी और धोखे से भी काम नहीं चलता तो युद्ध छिड़ता है। रूस और जापान, जापान और अमेरिका, अमेरिका और जर्मनी, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड का मरणान्तक युद्ध इसीलिए होता है[1]। राष्ट्र-राष्ट्र में खून की नदियाँ बहती हैं, प्रतिस्पर्धा तथा व्यावसायिक द्वन्द्व के कारण व्यापार

मशीनों का बाह्य प्रभाव

मारे जाने से लगे-बंधे मजदूरों की भी मजदूरी घटने लगती है। बेकारी बढ़ने लगती है, बेकारी की बाढ़ से गरीबी, गरीबी से अनाचार और अराजकता का साम्राज्य स्थापित होता है, धीरे-धीरे गृह-युद्ध से नरमेध की आ बनती है और यह नरमेध मशीनों का केवल बाह्य प्रभाव है।

१४. इस कलमय उत्पादन का जरा ध्यान से देखिये। कारखानों में लोगों की जरूरत और माँग के हिसाब से नहीं, कारखानों की उत्पादन

---

१ समूहवादी रूस का जो अन्य देशों से बराबर सघर्ष चल रहा है वह व्यावसायिक कारणों से ही है। वर्तमान रूस अपने व्यावसायिक पण्य अब बाहर भेजने लगा है और वह चाहता है कि उसे अन्य देशों के समान ही व्यावसायिक सुविधाएँ प्राप्त हों। वह यह भी चाहता है कि रूमानिया, ईरान बाल्टिक, तथा बालकन प्रदेशों में उसका प्रभाव क्षेत्र स्थापित हो ताकि राजनीति के साथ उसे व्यावसायिक विस्तार में सुविधा प्राप्त हो।

शक्ति के हिसाब से उत्पत्ति होती है और फिर उस उत्पत्ति को खपाने के लिए प्रचण्ड प्रचार और व्यापक प्रलोभनो का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ लोगो की आवश्यकता और माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन नहीं किया जाता, उत्पत्ति की खपत के लिए लोगो मे कृत्रिम आवश्यकता और माँग पैदा की जाती है। चाय और काफीवालो की चाय और काफी खपाने के लिए भारत सरकार का 'इण्डियन टी मार्केट एक्सपेंशन बोर्ड' इसका एक ज्वलन्त नमूना है।

कृत्रिम माँग और कृत्रिम खपत

१५. यहीं तक होता तो गनीमत थी। असली चीज ही नहीं, नकली और विषैली चीजो की बे-लगाम उत्पत्ति और उनकी खपत के लिए जो प्रचार और जाल खड़ा किया जाता है, उसके दुष्परिणामो को हम भोग रहे है। वनस्पति घी हमारे सामने है। इस नकली और जहरीली चीज की उत्पत्ति और खपत के पीछे लगी हुई शक्तियो को देखकर हम बात को आसानी से समझ सकते हैं।

नकली और विषैली वस्तुओं की सृष्टि

१६. एक कदम और आगे बढिये। मिलो द्वारा चीनी पैदा करने मे पैसा मिलता है। जौ और गेहूँ को छोडकर गन्ना पैदा होने लगा और चीनी की जगह-जगह मिलें खड़ी हो गयी। सरकार ने भी भरपूर मदद की। गन्ना छोड़कर लोग चीनी पर तो आये पर बात यहीं नहीं समाप्त हुई। चीनी की मिलो मे जूसी होती है। उसका भी सदुपयोग करना कारखाने के आर्थिक स्वार्थ मे दाखिल है। इसलिए 'अलकोहल' तैयार किया गया। सगुण गुड के बजाय गुणविहीन सफेद चीनी तो खिलायी ही जाती थी, उसके 'बाई-प्रोडक्ट' के इस्तेमाल पर भी हमे बाध्य कर दिया जाता है। बाइप्रोडक्ट्स की श्रृङ्खला अनन्त है। कोयला, लोहा, मिट्टी के तेल या चीनी—सभी के 'बाइ प्रोडक्ट्स' होते हैं। वस्तुतः, कलमय उत्पादन मे वस्तुओ से अधिक उनके 'बाइ प्रोडक्ट्स' का महत्त्व है—यह है "कारखाने की अर्थनीति" यानी 'फैक्टरी एकॉनॉमी'। यहाँ रोग से अधिक भय उनके उपसर्गों का हो गया है।

'बाइ-प्रोडक्ट्स' (बेकार वस्तुओं की सृष्टि) और उनकी प्रतिष्ठा!

संक्षेप मे, मशीनों ने केवल उत्पादन पद्धति को ही नहीं दूषित किया है

बल्कि उत्पादन की वैचारिक भित्ति को भी खतम कर दिया है। परिणामतः, हम असल को छोड कर नकल को पकड बैठे हैं, सही तरीको को छोड़ कर गलत तरीको को अपनाने लगे हैं। गेहूँ और चावल के उत्पादक "आइसक्रीम" और "कोको कोला" के उत्पादन मे लग रहे हैं। अन्न की दूकाने गन्दे घरो और अन्धेरी गलियो मे पायी जाती है, लेकिन "कोको कोला" का विक्रय बाजार की सुन्दर से सुन्दर दूकानो पर मनमोहक तरीको से किया जाता है। सारे बाजार मे टक्कर मार आइये वक्त पर आपको सेर भर दाना भी मिलना कठिन हो जायगा परन्तु आइसक्रीम की लच्छियाँ और प्लास्टिक के कपे आप जितना चाहे, जहाँ चाहे, चलती गाडी और हवाई जहाज मे भी ले सकते हैं।

यह हैं आज हमारे तौर-तरीके और इसके नतीजो को भी हम स्वय समझ सकते हैं।

हमारा रोज का शौक हमारी जिंदगी की आदत और फिर आवश्यकताओ में बदल जाता है

१७. हम बडे-बूढो मे सुनते रहे हैं कि "पहले आज जैसा फैशन न था" और यह फैशन रोज बढता ही जा रहा है। हम पहले जगली थे, सो बात भी नहीं। ताजमहल की कारीगरी, इंजीनियरिंग तथा कला आज के वैज्ञानिको के लिए भी आश्चर्य है। भारतीय वैभव का इतिहास हमारे लिए हसरत बन रहा है और फिर भी हम फैशनेबिल कहलाते हैं—क्यो? हमारी इच्छा हुई और ढेर की ढेर वही चीजें बाजार को आच्छादित करने लगती हैं। इतना सरल हो जाने से हमारी इच्छाएँ भी स्वच्छन्द होकर फैलने लगती हैं। कालरदार कोट, बे-कालर का, दो जेब, चार जेब वाला, छोटा कोट, लम्बा कोट, पायजामे का कोट धोती का कोट अर्थात् पचीसों कोट भिन्न-भिन्न ढङ्ग से वही मनुष्य काम मे लाता है। यही दशा प्रत्यक कार्य और प्रत्येक वस्तु की है और इस प्रकार केवल शौक पूरा करने के लिए कार्य और उत्पादन होने लगा। सारी चीजें, सारी बाते निरन्तर ढेर की ढेर मिलती रहने के कारण उनकी अपनी-अपनी एक निश्चित प्रयोग-धारा बन जाती है अर्थात् हमारा रोज का शौक हमारी जिन्दगी की आदत और फिर आवश्यकताओ मे बदल जाता है। दफ्तर मे टाई लगाकर जाने की वैसे ही आदत पड जाती है जैसे भोजन के

मशीनें मनुष्य को कृत्रिम बना रही हैं

पश्चात् विश्राम की। हम देखते हैं कि एक स्त्री को हृष्ट-पुष्ट एवं स्वास्थ्यकर जीवन के लिए शुद्ध और पर्याप्त खाद्य पदार्थ नही मिल रहा है, पर वह इसके लिए उतना चिन्तित नहीं है जितना कि वह कॉंटे-क्लिप, स्नो, क्रीम, लिप-स्टिक या अन्य नकली सजावट की चीजो के लिए परेशान है। स्पष्टतः, यह हमारे मानसिक विकार का प्रमाण है। कहना न होगा कि हमारे सरल प्राकृतिक जीवन मे अप्राकृतिक आडम्बरो की एक वृद्धमान सत्ता ने घर कर लिया है[1]।

प्रकृति का स्वामी होने के लिए मनुष्य अप्राकृतिक होता जा रहा है

१८, इस प्रकार मशीनें मनुष्य को बेकार ही नहीं, कृत्रिम भी बनाती जा रही हैं। हम शीशे के मर्तबान मे बच्चे पैदा करने का प्रयत्न करने लगे हैं।[2] लाखो मील गैर-आबाद जमीन को तोड-फोड कर उपज करने के बजाय हम कूड़े-करकट, चिथड़े और लकड़ी के बुरादे से खाद्य पदार्थ बना लेना अच्छा समझते हैं। इस प्रकार हम ससार को अन्न के बजाय कारखानो की सहायता से ईंट-पत्थर खाना सिखा देना चाहते हैं। हमारा कल-युग का वैज्ञानिक फसल की अनिश्चितता और प्रकृति के आश्रय को त्याग कर चौबीसो घण्टे कारखानो मे भोजन बनते रहने की व्यवस्था कर देने पर तुल गया है। प्रकृति का स्वामी होने के लिए वह अप्राकृतिक हो जाना अच्छा समझता

---

1 Our modern civilization under conditions of industrial piogress is continually manufacturing new & previously unwanted sources of pleasuie, so that the old luxuries become new necessities alike foi those who can afford and those who cannot. Thus a continually increasing amount of income becomes necessary in order to produce the same degree of material welfare—Economics of Inheritance by Joshiah Wedgwood, p 39

२ अमेरिका के एक स्त्री चिकित्सक के प्रयोगो की ओर जनता का ध्यान आकर्षित हुआ है। उसने मर्तबान (Test tube) मे बारह प्रयोग किये है, उनमें से एक बच्चा तो ६ मास का स्वस्थ और सजीव है। दूसरा भी शरीर धारण करना चाहता है—स्टर, न्यूयार्क, १ मई '३४।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय मे शरीर विज्ञान के डा० ग्रेगरी पिंकस ने नकली बच्चा पैदा करके कमाल कर दिया है।—बम्बई क्रानिकल २६-३-३६

है और कल-कारखाने उसकी सहायता कर रहे हैं। हो सकता है हमें बहुत सी बातो के लिए आवश्यकता ही मजबूर कर रही हो। पर यह मजबूरी भी मशीनों की ही देन है। कारखानो की उपज को खपाने के लिए बाजार और ग्राहक को दूसरे की ओर से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रयत्न में राष्ट्र-राष्ट्र मे मनोमालिन्य तथा संघर्ष होता है; परिणामतः, एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की आवश्कता से मुक्त होने की चेष्टा करनी पड़ती है। जापान को भारतीय रूई, इटली को फ्रान्सीसी गेहूँ, इग्लैण्ड को मिस्री कहवा और जर्मनी को रूसी अन्न की आवश्यकता से मुक्त होने का मार्ग ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता है। यदि जर्मनी की पूर्णतः नाकाबन्दी कर दी जाय तो उसे अन्नाभाव मे भूखो ही मरना पड़े, अतएव जर्मन सरकार जनता को भूखो मर जाने देने के बजाय जंगलो को काट कर बुरादे से भोजन बना लेना अच्छा समझेगी।[1] भले ही यह दशा अस्थायी हो, परन्तु व्यावसायिक रूप से, यदि लोगो को कारखानो मे भोजन बना लेना सहज हो तो वह कभी खेत मे दाना छींट कर महीनो फसल की अनिश्चित प्रतीक्षा न करेंगे। उसी प्रकार यदि जीवन-संघर्ष मे पड़े रहने के कारण चूहे उडना सीखकर चमगादड बन गये या चार टाँगो पर चलनेवाला पशु बदलते-बदलते बन्दर से बदल कर दो टाँगो पर दौड़नेवाला मनुष्य बन गया तो कौन कह सकता है कि व्यावसायिक संभावना के प्राप्त होते ही लोग माँ के पेट से निकलने के बजाय शीशे के मर्तबानो

कल-कारखाने मनुष्य की असलियत को मिटा देना चाहते है

---

१ एक शठ और चण्ट्ल वैज्ञानिक ने जर्मन राष्ट्र को छाल और बेकार लकडी का भोजन करने योग्य बना दिया है। वह समस्त राष्ट को खराब से खराब चीजो के अपार साधन पर स्वावलम्बी बना देना चाहता है। सरकार की इसमे पूरी सहायता है ताकि जर्मनी को रोटी-धोती के लिए किसी का मुहताज न होना पडे।'

—लिटरेरी डाइजेस्ट १९३६

—"Japan is prepared to feed its entire population, if needs be, on weeds, roots and even insects, but it would be adequate Already thousands of persons are thriving on it —Literary Digest, 1936

मे न ढलने लगेंगे। अभिप्राय यह कि कल-कारखाने मनुष्य की असलियत को भी मिटा देना चाहते हैं[१]।

सुख-सम्पदा के प्राकृतिक विधान मे व्यक्ति के स्वतन्त्र सहयोग के लिए आवश्यक स्थिति

१९. इस कल प्राबल्य को मिटाकर यदि हम शुद्ध उत्पत्ति और स्वस्थ मानवता की पुनर्स्थापना पर कटिवद्ध नहीं होते तो हमारे लिए नवभारत की कल्पना भी दुष्कर हो जायगी। परन्तु प्रश्न यह होता है कि शुद्ध व्यवस्था की पड़ी किसे है। जिस गरीब को रोटी भी मुहाल हो रही है वह नकली भोजन से प्राण बचाये या प्राकृतिक जीवन की रक्षा करे? परन्तु वास्तव मे देखा जाय तो ऐसी किसी भी लाचारी का हमारे सामने प्रश्न नहीं है। यह सब केवल हमारी कलमयता का दोष है, जिससे मुक्ति प्राप्त करके नवभारत एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करना चाहता है जहाँ व्यक्ति सुख-सम्पदा के प्राकृतिक विधान मे सामूहिक दबाव से अप्राकृतिक हुए बिना ही, स्वतंत्रतापूर्वक योग दे सकता है।

२०. इसके पश्चात् हमे यह भी समझ लेना चाहिये कि संसार की वर्तमान दुर्दशा केवल पेट न भरने से ही नहीं, अन्य अनेक कारणो से

---

१ 'ससार', १२-४-४५। डेलीमेल ने एक अग्रलेख में स्वास्थ्य विभाग के मन्त्री विलिंक से इसके लिए जवाब तलब किया है कि उन्होने लोक सभा मे यह क्यो कहा है कि नकली ढग से मानव बच्चे पैदा करने की दिशा में क्या हो रहा है इसकी मुझे प्रति सामान्य जानकारी है या बिलकुल नही है।

पत्र ने लिखा है कि यह ज्ञान है कि ब्रिटेन में तीन तथाकथित 'टेस्ट ट्यूब बच्चे' काफी आगे पैदा हुए हैं, इसलिए स्वास्थ्य विभाग के मन्त्री को काफी समय मिला है कि वे जॉच-पड़ताल करके इस सम्बन्ध में कोई वक्तव्य देते। पत्र का कहना है कि 'डाक्टरो ने एक ऐसा काम आरम्भ किया है जो इनकी कार्य सीमा से काफी बाहर का है। इसके नैतिक सामाजिक, तथा कानूनी पहलू है जिनकी पूरी जॉच होनी चाहिये। नकली ढग से बच्चा पैदा करना ऐसा काम नहीं जो डाक्टरो की मर्जी पर छोड दिया जाय बल्कि इसे समाज की इच्छानुसार या तो स्वीकार किया जाना चाहिये या, यदि आवश्यक हो, तो प्रतिबन्ध लगना चाहिये।" डेलीमेल ने प्रश्न किया है कि ऐसे बच्चे वैध माने जायगे या अवैध? जायदाद आदि के सम्बन्ध में उनकी क्या स्थिति होगी? टेस्ट ट्यूब बच्चा यदि ब्रिटिश माता तथा विदेशी वीर्यदाता के द्वारा हुआ है तो वह ब्रिटिश कहलायेगा या नहीं?

-ससार की वर्तमान दुर्दशा केवल पेट न भरने से ही नहीं, अन्य अनेक कारणों से भी है

भी है। हम कल-कारखानो द्वारा बनी हुई वस्तुओ का जितना ही अधिक उपयोग कर रहे हैं, उतना ही अधिक रोग और व्याधि फैल रही है। भारी-भारी मशीनो की रगड मे भोज्य पदार्थों की प्राकृतिक शक्ति क्षीण हो जाती है। जब वस्तु मे उसका गुण ही नहीं, तो उससे स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है? उसीका दूसरा रूप यह है कि कारखानो की बढ़ती से, स्वभावतः[1], बेकारी और परिणामतः, दरिद्रता फैल रही है। दरिद्र लोगो के लिए अच्छा भोजन असम्भव है, वे जो कुछ भी खाते हैं वह, केवल पेट भरने के लिए, बलहीन पदार्थ ही होता है। ऐसे भोजन से

कारखानो की वृद्धि से स्वभावत: बेकारी और परिणामत. दरिद्रता फैल रही है

लोगो का कद और वजन घटता जा रहा है[2]। लोग पहले जितने लम्बे होते थे, गरीबो की सन्तान, फिर उस सन्तान की सन्तान, उतनी ही बडी नहीं होती। यदि यही प्रगति रही तो लम्बे-लम्बे आदमी घट कर, फिर छोटे-छोटे बन्दरो के बराबर हो जायँगे। कल-कारखानो की चिल्ल-पो तथा शोर-गुल से हमारी श्रवण-शक्ति, बिजली की चकाचोध और मिट्टी के तेल के प्रयोग से हमारी दृष्टि,

---

1 "A permanent margin of unemployment among industrial workers is a feature of Economic system called into existence by Industrial Revolution in western countries Palliatives, as unemployment Insurance allowances or relief funds etc don't touch the fundamental cause of the unemployment unemployment in India is not so acute as in the west, simply because India's industrial development is not yet of an advanced character" [i e unemployment is inherently a progressive feature of the mechanised production]

—Indian Economics—Jathar & Beri, Vol. 1, p 558

2 An enquiry in the U K has shown that in a group of poor families nearly 50% children are undersized & under-weight as compared with 50% in well-to do families the more the cereals are refined the lesser is their protective power—Times of India

676

कलमय ढाँचे और कल-प्रेरित केन्द्रित संकुचन मे मनुष्य की स्वच्छन्दता, सभी विनष्ट होती जा रही हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य को अपनी रहन-सहन और अपनी रूपरेखा भी मशीनो के अनुसार बनाने पर विवश होना पड़ रहा है। सन्तानोत्पत्ति तथा सामाजिक विकास का कलमयता के साथ सामञ्जस्य बनाये रखना हमारे जीवन की शर्त बन गया है। या यो कहिये कि मशीनें मनुष्य की देन होकर भी मनुष्य की स्वामी बनती जा रही हैं। वे उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनो को बदलती ही नहीं, निर्मूल भी बनाती जा रही हैं।

मशीनें मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनों को निर्मूल बनाती जा रही है

जरा गौर से देखिये। आज चारो ओर बृहत् आधार पर उत्पादन हो रहा है। जहाँ नहीं है, वहाँ भी बड़े-बड़े कारखानों द्वारा अधिकाधिक उत्पादन की व्यवस्था की जा रही है। परन्तु इस प्रकार जो कारखानो द्वारा वस्तु पदार्थो का बृहत् स्तूप खड़ा किया जा रहा है क्या यह साम्पत्तिक विस्तार हमने उनके मूल्यो के आधार पर स्थापित किया है? चीजो के आकार-प्रकार और परिमाण मे वृद्धि अवश्य हो गयी है, परन्तु इन चीजो का वास्तविक गुण विनष्ट हो गया है। आज मिलो के चावल के कारण मनुष्य का स्वास्थ्य और उसकी शक्ति नष्ट हो रही है, बेरी-बेरी का रोग आक्रान्त हो उठा है। उसी प्रकार गौओ और वनस्पतियो से शुद्ध घी या तेल प्राप्त करने के बजाय हम इन्हे नष्ट करके कारखानो द्वारा नकली घी तैयार करना अच्छा समझते हैं। इस उत्पत्ति को हम साम्पत्तिक सचय कहे या साम्पत्तिक विनाश?

साम्पत्तिक सञ्चय या विनाश

सारांश, कलमयता और उसकी पारिणामिक पेचीदगियो से मानव समाज का नैतिक, मानसिक, शारीरिक और साम्पत्तिक, प्रत्येक रूप से भीषण ह्रास हो रहा है। नवभारत मानव समाज की इस दुर्दशा की पूर्ण अनुभूति रखते हुए उत्पादन के स्वाभाविक तरीको की सलाह देता है और उस उत्पत्ति शृंखला से ही उसके पारिभाषिक लक्षणो का रूप निरूपण हो सकता है।

कलमयता से मनुष्य का सम्पूर्ण विनाश

२१. वस्तुतः, नवभारत स्वीकार करता है कि कलमय जीवन में मनुष्य का कर्मकाण्ड, उसकी कार्यप्रणाली, अन्त मे उसकी विचारधारा भी बदलने लगी है। इस वैचारिक परिवर्तन ने एक नयी सभ्यता को जन्म

दिया है जिसकी रीति-नीति निराली और प्रवृत्तियाँ खूँख्वार हैं। प्रो० सोरोकिन कहते हैं—"हमारे विचार और संस्कृति मे घुन लग गया है।" अभिप्राय यह कि विचार भ्रष्ट हो जाने के कारण हम गलत रास्ते पर जा रहे हैं, उद्धार के बजाय पतन की ओर बढ रहे हैं। प्रो० सोरोकिन तो इसे स्पष्ट शब्दो मे "कुसंस्कृति" (Bad culture) का ही फल बताते हैं। इसीलिए नवभारत, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, अमीर-गरीब को लेकर पूँजीवादी शोषण अथवा साम्यवादी बँटवारो की कृत्रिम और ऊपरी समस्या मे उलझ जाने की अपेक्षा सर्वप्रथम उत्पादन और वितरण के नैसर्गिक उपाय को ही हाथ मे लेता है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि मानव समाज का समस्त जीवन प्रवाह, स्वतः, एक प्राकृतिक गतिक्रम को प्राप्त हो जायगा।

जनन-निग्रह और समाज नीति

२२. नवभारत वस्तुस्थिति की कभी उपेक्षा नहीं करता। अपर्याप्त मजदूरी की प्रार्थना अनसुनी हो जाने पर मजदूरो ने हडताल कर दी है; मिल मालिको ने Lock out (निकल जाओ) की आज्ञा दे दी है, पुलिस लोगो को सरकारी घरो से बाहर निकालने आ पहुँची है। एक मजदूर के सात बच्चे हैं, स्त्री आठवें का गर्भ लिये हुए है। इधर रोग और भूख के शिकार, उधर बच्चे पर बच्चे। तो क्या जनन-निग्रह, भ्रूण-हत्या और पापाचार को भी समाज नीति मे सम्मिलित करना होगा? यदि नहीं तो प्रश्न हल कैसे होगा? कलमय उत्पादन की तीव्रतम गति से भी उद्धार होता नहीं दीखता—रूस हो या अमेरिका, मशीनो के संघटित विकास के साथ ही बेकारी का भी विस्तार होता जाता है। कल-कारखानो के, स्वभावतः, आवश्यक केन्द्रीयकरण से जन समुदाय का जमाव भी घनोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। एक ओर तो अतीव संकुचन के कारण निकृष्टतम वातावरण का प्रसार होता है[1] दूसरी ओर कलमय जीवन मे जनसंख्या भी

---

[1] "Highly insanitary conditions prevail in big cities—" Indian Economics, Jathar & Beri Vol I (This is in reference to New York, London and Bombay, where all the Scientific achievements of Man are at his disposal)

अटूट तार के साथ बढती है।[5] दृष्टि को तनिक और दूर ले चलिये। मई का महीना है। गर्मी से बुरा हाल है। धूप और लू से किसान भी घवड़ा रहे है। दोपहर को आधी रात के समान सन्नाटा छाया हुआ है। पक्षी भी डाली और पत्तो मे छिप जाना चाहते हैं। इसी समय एक बुढ़िया,

वर्तमान अर्थ-नीति और नव भारत का दृष्टि-कोण

अति मैली, सत्तर पेवन्द की साडी पहने हुए आम बीन रही है, पेट भरने के लिए। इस दीनता और लाचारी को देखकर वर्तमान अर्थनीति (Economic order) पर शका होने लगती है। नवभारत इन समस्याओ को सरकारी रक्षण, वेकारी का भत्ता, मजदूरी का बीमा—इन कृत्रिम साधनो से दबा नहीं रखना चाहता। वह हमारे साम्पत्तिक विधान और उत्पादन रीति को ही इस प्रकार बदल देना चाहता है, वह उत्पादन के साधनो का इस प्रकार रूप परिवर्तन कर देना चाहता है, कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न ही न हो, वह उन प्राकृतिक और सामाजिक उपायो का अनुसरण करना चाहता है जो वर्द्धक और सृजक होने के साथ ही 'स्वयम्भू अनुशासन" का गुण रखते हैं। वह जनाधिक्य और जनन-निग्रह की समस्याऐं 'निःफल विस्तार' के मध्य[2]

---

1 During the 1st hundred years or so, the population of the world has increased roughly from 910 millions to 1900 due to great scientific discoveries and epoch making inventions of machines and processes of the 19th and 20th centuries.

—Indian Economics, Jathar & Beri, Vol I p 63

२ जनाधिक्य के सम्बन्ध मे १६३१ ई० की जनगणना की रिपोर्ट मे भी लगभग इसी विचार का प्रकाश मिलता है। जब हम नि फल और फलमय क्रम को देखते है तो निम्न रूप से दो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होते ह। (अ) कल-कारखाने के चारो ओर चूहो के समान ठसाठस भरे हुए लोग भोजन तथा सन्तानोत्पादन की अबाध सुविधाए पाकर बढ़ते ही जा रहे है। (ब) ग्राम्य विस्तार में फैले हुए स्त्री-पुरुष दोनो एक-दूसरे से व्यवस्थित दूरी के साथ अपने अपने काम मे व्यस्त आश्रमस्थ व्यवस्था के अनुकूल (देखिये खण्ड ३) जीवन विकास का संयत गतिक्रम सँभाले हुए है। यहाँ ठसाठस भरमार में स्वच्छन्द समागम की सुविधाऐं नही है और इसीलिए पैदाइश भी चूहो के समान नही बढ पाती। '३१ की रिपोर्ट का कहना है—"सुखी और समृद्धिशाली जीवन मे उत्पत्ति कम हो जाती है। स्त्रियो के सन्तानोत्पत्ति और घरेलू उलट-फेर में फॅसी रहने के बजाय नाना प्रकार के सदुपयोगी कार्य मे लग जाने से सन्तानोत्पत्ति की स्वच्छन्दता नष्ट हो जाती है।'

आश्रमस्थ जीवन के द्वारा सुलझाना चाहता है। रोटी के हल को वह उत्पादन रीति और साम्पत्तिक नियमन की एक स्वयम्भू देन बना देना चाहता है। इन सबके लिए वह कल-कारखानों के स्थान से चर्खे का इष्ट स्थापित करना चाहता है और धीरे-धीरे समस्त आर्थिक ढाँचे को भौतिक सुख और आध्यात्मिक विकास का सच्चा साधन बना देना चाहता है।

चर्खे का इष्ट[1]

२३. चर्खा से केवल सूत कातनेवाले लकड़ी या बाँस के गोल चक्र-वाले ढाँचे का अर्थ नहीं; नवभारत का यह एक प्रतीकात्मक शब्द मात्र है। वास्तव में यह उन समस्त यन्त्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो मानव बल की 'क्रियात्मक शक्ति' (Motive Force) से, एक-एक मनुष्य द्वारा, उसकी इच्छा और सुविधानुसार चलाये जा सकते हैं। हम उन बड़े-बड़े कल-कारखानों को भी 'चर्खात्मक' मशीनें कहेंगे जो चलती तो बिजली, भाप-गैस, तेल या अणु शक्ति से हैं परन्तु सपोषण और बल इनसे प्राप्त होता है चर्खात्मक विधान के 'विकेन्द्रीकरण,' 'स्वावलम्बन' और स्वसम्पन्नता को। मशीनों की इस गांधीवादी व्यवस्था को ही हम 'चर्खे का इष्ट' (कल्ट आव् चर्खा) कहते हैं। इसको आगे चलकर हम आसानी से समझ जायँगे।

चर्खे का अर्थ

२४. यह कहा जा चुका है कि हम इस समय कलयुग में चल रहे हैं जिसकी विशेषताएँ हैं "कलमय कार्यक्रम की पारिणामिक पेचीद-गियाँ।" इसका पहला रूप यह है कि पूँजी की वृद्धि होती है, व्यवसाय वाणिज्य की वृद्धमान सत्ता स्थापित होती है और व्यवसायी वर्ग पूँजी पर प्रभुता प्राप्त कर लेता है। उत्पादन वृहत् आधार पर फैलता है, उद्योग-धंधों पर एकाधिकार[2] की परिपाटी का प्रोत्साहन मिलता है। श्रमिक

कलयुग की विशेषताएँ

---

१ यह सारा विवेचन थोड़ा हेर-फेर के साथ, मेरी पुस्तक 'कलयुग' से लिया गया है।

२ एकाधिकार का सीधा सा अर्थ है कि उस चीज के चाहनेवाले उस चीज के एकाधिपतियों की मर्जी पर क्रीत दास के समान जीवन बसर करें।

समुदाय की एक नयी स्थिति का उदय होता है, मालिक और मजदूर की विभिन्नता के साथ ही उनकी विभाजक दूरी भी निर्वन्धनीय गति से बढ़ती जाती है। सामाजिक समस्याएँ भयंकर होने लगती हैं। मजदूरों का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। सारा समाज श्रेणियों में बँट कर दूर-दूर हो जाता है[1]। यहाँ दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—"पूँजी की वृद्धि" और "वाणिज्य व्यवसाय की वृद्धमान सत्ता के साथ ही पूँजी पर व्यापारियों की प्रभुता," या यों कि साम्पत्तिक विस्तार और पूँजीवादी शोषण को जन्म देकर मशीनों ने दुःख-दारिद्र्य की घातक सृष्टि की है। समाज के सम्मुख भारी समस्याएँ उपस्थित हो जाती हे जिनसे हमारी प्रसन्नता नहीं, चिन्ताएँ ही वढ़ती हैं, मनुष्य का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।

कलमय उत्पादन और पूँजी का धनोत्तर एकत्रीकरण

२५. यह वतलाने की आवश्यकता नहीं कि "पूँजी का पादार्थिक (physical) स्वरूप बढ़ा ही नहीं बल्कि अमित राशि से बढ़ता जा रहा है। इसका अवरोधन उसी अनुपात से हो सकता है जिस गति से हम अतिरिक्तार्घ (Surplus Value) की मात्रा को बढायेंगे।.... मार्क्स के मतानुसार, यह लाक्षणिक परिवर्तन के विशेप उपायों से ही सम्भव हो सकता है ताकि अतिरिक्तार्घ की मात्रा तो वढ़ जाय परन्तु श्रमसाध्य पूँजी (Variable Capital)[2] की घटंत मात्रा बढ़ने न पाये।.....[3] कहने का अभिप्राय, पहले तो संसार की पूँजी बढ़ती है और चूँकि पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था "वास्तव में एकत्रीकरण का एक तरीका है[4], विशेषतः इसलिए कि कलमय उत्पादन में एकाधिकार की अन्तर्प्रेरणा निहित है (क्योंकि समाज की सारी उपज एकत्र होकर उसी के हाथ लगती है जिसने किसी प्रकार वैयक्तिक या

---

१ प्रो० टॉसिग, Principles of Economics, Vol, 1, पृष्ठ ३६-३७।

२. Variable Capital का अर्थ विशेष होने के कारण इसका हिन्दी रूपान्तर, श्री स्ट्रेची के अनुसार 'श्रमसाध्य पूँजी' करना ही अधिक उपयुक्त समझा गया है।

३. The Nature of Capitalist Crisis, by John Strachy, p 26

४. Capital Vol 3. XII, p 255. Pelican Publications

सरकारी रूप से पूँजी पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है), परन्तु लाचारी तो तब दुखदायी बन जाती है जब हम देखते हैं कि मशीनें पूँजी को विस्तीर्ण ही नहीं, "उनके घनोत्तर एकत्रीकरण" की प्रबल प्रेरणा करती हैं[1] जो बढ़ते-बढ़ते अन्त मे हमारे काबू के बाहर हो जाना चाहती हैं, अर्थात् हम सम्पूर्ण विनाश की ओर तेजी से दौड रहे हैं। जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है पूँजी का पादार्थिक स्वरूप बढ़ता जा रहा है, मशीनें मशीनो को बढ़ा रही हैं, और श्रमसाध्य पूँजी की मात्रा घटती जा रही है, अर्थात् श्रमिक और पारिश्रमिक, दोनो की दशा शोचनीय है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रमसाध्य पूँजी बढ़ती ही नहीं, बढ़ती है, परन्तु उसी गति से नहीं जिस गति से श्रमिक समुदाय बढ़ रहा है[2] (क्योकि सभ्यता के अधिकाधिक कलमय होने के साथ ही मानव समाज अधिकाधिक श्रमिक रूप धारण करता जाता है जिसे मशीनो के साथ दौडने के लिए वैयक्तिक स्वार्थ या सामूहिक दबाव से बाध्य किया जाता है) परन्तु विचित्रता पूर्वक, "जगह नहीं" की दुत्कार से उन्हे हतोत्साह होना पडता है। यह या वह, जो भी हो, समस्या यह है कि पूँजीवादी अर्थात् कलमय उत्पादन का यह उद्भूत संकट (crisis) दूर कैसे हो ? मार्क्स का कहना है "उत्पादन के साधनो मे लाक्षणिक परिवर्तन और कार्य-काल की खेप" (Shifts) को बढ़ा देना चाहिये ताकि अधिकाधिक लोग कार्ययुक्त रखे जा सकें। परन्तु अभी कहा जा चुका है कि लाक्षणिक परिवर्तन हो या खेप वृद्धि, श्रमिको की सख्या उन्हे कार्य युक्त करने की गति से भी तेज बढ़ रही है (मार्क्सवाद का प्राथमिक उद्देश्य भी तो यही है कि समाज को 'प्रोलेटेरियट' अर्थात् श्रमिक साँचे मे ढाल दिया जाय)[3]। अब रही मार्क्स तथा समाजवादियो के अनुसार "प्रचण्ड" (Intensive) मशीनकरण के द्वारा "परम बाहुल्य" (Super Abundance) के निर्बंध व्यवहार को लोगो के लिए सुलभ किये जाने की बात।

कलमय उत्पादन का यह उद्भूत सङ्कट दूर कैसे हो ?

---

1 "When an Industry is conducted on large scale with elaborate machinery it tends to be concentrated—" Young India, p 46

2 The Nature of Capitalist Crisis, by John Strachy p 246

3 It renders idle greater number of men than it is possible to employ—Industiial Survey Com R P I Vol. II, Sec. 1 p 12

परन्तु हमारी दृष्टि तो एक दूसरी ही बात पर है। कहा जाता है कि जो कमायें वही खायें, परन्तु जो कुछ करते ही नहीं, उनका क्या होगा? पूँजीवाद का मुख्य दोष यह है कि अनेक लोग कमाकर भी अपनी ही उत्पत्ति से वञ्चित कर दिये जाते है, ज्यों-ज्यो मशीनो मे सुधार होता जाता है (जैसा कि उनकी सफल और वृद्धमान स्थिति के लिए होना ही चाहिये[1]) उतने ही कार्य को कम से कम लोग पूरा करने लगते हैं, अर्थात् अधिक से अधिक लोग वेकार रहने लगते हैं। इस प्रकार जहाँ तक कार्य का प्रश्न है निखट्टू पूँजीपति या 'कलोपेक्षित' समाजवादी समुदाय, दोनो कार्य नहीं कर रहे हैं। यदि दूसरे (कलोपेक्षित समाजवादी समुदाय) को विना कमाये खाने को मिल सकता है तो भला पहले (पूँजीपति) को क्यो भोजन नहीं मिल सकता? इस दृष्टि से पूँजीपति तथा साधारण व्यक्ति मे अन्तर ही क्या है? और यही है कलमय उत्पादन का दुखद काकपक्ष।

कलमय उत्पादन का एक दुखद काकपक्ष

२६. "जवरियन अभाव के साथ ही जवरियन वेकारी" (enforced want and enforced idleness) पूँजीवादी और मार्क्सवादी, दोनो के साथ लगी हुई है और वे-लगाम विनाश के राक्षसी विरोधाभास पर विचार करने के पूर्व हम इस हृदय विदारक परिस्थिति का दोनों दृष्टिकोण से निरीक्षण कर लेना चाहते हैं।

बलात् अभाव और बलात् वेकारी

२७. नाफाखोरी ही पूँजीवादी अर्थनीति की क्रियात्मक शक्ति है। अन्य वातो के अतिरिक्त अधिकाधिक उत्पत्ति के लिए प्रचण्डतम मशीनकरण द्वारा उत्पादन व्यय जितना ही कम होगा, मुनाफा उतना ही अधिक होगा, जिसका अर्थ है कम से कम लोगो से अधिकाधिक उत्पादन कराया जाय अर्थात् अधिक से अधिक लोग वेकार रहे। वेकारो को, स्वभावतः, जीवनावश्यकताओ की भी अभाव यातनाएँ झेलनी पड़ेंगी, अधिक से अधिक उन्हे "वेकारी के भत्ते" (dole) पर ही जीने का सहारा

पूँजीवादी दृष्टिकोण

---

1. It is the condition of their very existence.-Gandhiji. Young India, 13-10-27.

ढूँढ़ना पड़ेगा; इस प्रकार, एक ओर तो हमे बेकारी और अभाव की नग्न लीलाएँ देखने को मिलती हैं, दूसरी ओर पूँजीपति अधिकाधिक मशीनकरण द्वारा प्राप्त उत्पत्ति का एक बहुत बडा अश नष्ट कर देता है ताकि शेष भाग को बाजार मे रखकर उत्कट माँग की परिस्थिति उत्पन्न करके, वह समस्त उपज के "सपूर्ण" दाम से भी अधिक प्राप्त कर सके, अर्थात् अति उपज और व्यापारिक मन्दी की पेचीदगियो से बचने के साथ ही वह अधिकाधिक मुनाफा भी प्राप्त कर सके। यह पूँजीवादी रीति सदा से चली आयी है। डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी अठारहवीं शताब्दी मे लौंग की फसल का एक बहुत बडा भाग उपर्युक्त रीति-नीति से नष्ट करती रही। अमेरिका मे गेहूँ और रुई की खड़ी-खडी फसलें इसी प्रकार नष्ट कर दी जाती हैं, ब्राजीलियन काफी की भी यही दशा है। कलमय बाहुल्य के मध्य बेकारी, अभाव, निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ इसी प्रकार स्थितिभूत और गतिमान बनी हुई है।

कलमय बाहुल्य के मध्य निरीहता और भूख की पाशविक लीलाएँ

२८. परन्तु समाजवादियो के सम्मुख नफाखोरी का प्रश्न नहीं है। वह प्रचण्डतम मशीनकरण के द्वारा निर्बंध उपभोग के लिए परम बाहुल्य स्थापित करना चाहते हैं और हमने देखा है कि मशीनवाद जितना ही प्रचण्ड होता है उतने ही अधिक लोग बेकार होते जाते हैं (बेकारी मशीनवाद की एक अखण्ड और अमिट विशेषता है)। निर्बंध उपभोग की नीति का अर्थ है कि कुछ लोगो के परिश्रम से अनेक बेकारो का भरण-पोषण किया जाय।[1] मार्क्स ने इस दोष को समझ लिया था और इसीलिए लाक्षणिक परिवर्तन और अधिक 'खेप' की सलाह दी थी। परन्तु

समाजवादी दृष्टिकोण

---

1 "Large scale production may be advocated on the ground of maximum benefit with the minimum effort It my be argued that it can produce sufficient wealth to maintain the whole population without any effort on the part of the recipient This is again impractical & undesirable. It will perpetuate idleness & attendant evils"—Industrial Survey Committee Report C P & Berar Govt. 1939 Part. I, Vol. II Sec. 1, p. 12

इसमें भी श्रमसाध्य (Variable) और 'स्थायी' (Constant) पूँजी का अनुपात होता है।[१] यदि लोगो को केवल कार्ययुक्त रखने के लिए हम इस अनुपात की उपेक्षा भी कर जायँ तो इस श्रम का बदला क्या होगा? क्या इस प्रकार उत्पत्ति का मूल्य लागत से भी कम न हो जायगा, जो आत्मघात के समान है? इसके अतिरिक्त श्रम और विश्राम का एक तार्किक अनुपात है। सभी को कार्ययुक्त रखने मात्र के लिए यदि इस अनिवार्य अनुपात से भी छोटी 'खेप' का आश्रय लिया जाय तो लोग शेष समय मे क्या करेंगे? क्या लोग विश्राम की एक आत्मघातक अवधि के शिकार न हो जायँगे? क्या इस प्रकार शक्ति का अवाञ्छनीय ह्रास[२] होकर धीरे-धीरे समाज का अस्तित्व भी न मिट जायगा? और यदि हम कार्य और श्रम का स्वाभाविक अनुपात स्थिर रखते हैं तो लोग बेकार रहते हैं। बेकारो को, चूँकि, जीवन सुविधा का हक नहीं, इसलिए "परम बाहुल्य" प्राप्त करके भी उसे विनष्ट कर देना होगा,-पूँजीवादी नफाखोरी की रीति से न सही, विश्वक्रान्ति के प्रसारण युद्धो के लिए ही, जब कि जन-समुदाय अनुत्पादक (Non-productive) संघर्ष मे व्यस्त रहता है, जैसे रूस का युद्ध।

मार्क्सवाद और पूँजीवाद, दोनों समानतः निराधार हैं

२९. इस प्रकार, मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक विकास अथवा ट्राट्सकी की प्रसिद्ध अनन्तक्रान्ति के विस्तार में प्रवेश किये बिना ही हम अब समझ सकते हैं कि पूँजीवादी और मार्क्सवादी, मशीनाश्रित उत्पादन को लेकर दोनों समान रूप से निराधार हो जाते हैं।

"चर्खा"-मार्क्स की अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण है

३०. मार्क्स ने स्वयं कलमय उत्पादन की इस दुर्बलता को समझ लिया था और इसीलिए उसने "लाक्षणिक परिवर्तन" की आवाज उठायी थी। मार्क्स की उसी अस्पष्ट सलाह का स्पष्टीकरण बनकर "चर्खा" अब हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसे

---

1. There is an economic speed below which we can not work without incurring a loss—War, A Factor of Production by J. C. Kumarappa.

२ या हमें अपूर्ण कार्य के लिए पूर्ण मजदूरी देनी होगी जो सामूहिक शक्ति और सामाजिक सम्पत्ति, दोनो के लिए अहितकर है।

लेकर ऊपर उठ जाना या उसके बिना कलमय गोरखधंधे में फँसकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाना हमारी अपनी जिम्मेदारी है।

कलमय उत्पादन का विनाशक गोरखधन्धा

३१. इस गोरखधंधे को जरा गौर से समझिये। एक कारखाने को खड़ा करने मे एक लाख की पूँजी लगा दी गयी। इस लाख रुपये वाले कारखाने को चलाने के लिए प्रति मास १००००) खर्च होते हैं। इन १००००) में से ८०००) तो मजदूरी मे जाते हैं। असल खर्च यही है क्योकि यह धन क्रयशक्ति के रूप मे लोगोंको वितरित किया जाता है। २०००) जो कलो के पुर्जे आदि मे जाते हैं, इनको हम कहेंगे १०००००) की पूँजी को सुरक्षित रखने के लिए २०००) प्रति मास सूद के रूपमे दिये जाते हैं, परन्तु यह २०००) का सूद किसी व्यक्ति को नहीं दिया जाता जो क्रयशक्ति बन सके। और न ये रुपये पूँजी को बढ़ाते हैं क्योंकि ये तो केवल १ लाख को १ लाख बनाये रखने का काम देते हैं, अन्यथा एक लाख की निधि केवल ९८०००) रह जाये। इसलिए प्रतिमास २०००) की पूँजी मूल्यहीन अर्थात् नष्ट की जा रही है।

अच्छा, अब दूसरी बात देखिये। ८०००) जो खर्च किया जाता है उससे २५०००) प्रति मास का माल तैयार होता है। इसका अर्थ यह होता है कि प्रति ८०००) की क्रयशक्ति के लिए १७०००) की क्रयशक्ति की हम एक भीषण समस्या खड़ी करते हैं। यह समस्या व्यक्तिगत या सरकारी पूँजीवाद अथवा राष्ट्रीय सरकार हो, सर्वत्र एक समान है। जैसे दो और दो मिलाकर चार होते हैं उसी

कलमय उत्पादन का गुणन फल : विश्वयुद्ध

प्रकार यह एक निश्चित सत्य है कि कारखानों द्वारा उत्पादन करने मे जितनी क्रयशक्ति वितरित की जाती है उससे अधिक उत्पन्न की जाती है। अभिप्राय यह कि धीरे-धीरे, लाख करने पर भी, अति उत्पादन के रूप मे पूँजी एकत्रित और घनीभूत होती रहती है और प्रति आठवें दसवें वर्ष विश्वव्यापी मन्दी और परिणामतः युद्ध का भयावह प्रश्न उपस्थित होता रहता है। हम देख भी रहे हैं कि प्रति २०-२५ वर्ष पर विश्व युद्ध लडा जाने लगा है। दूसरा युद्ध समाप्त होते न होते तीसरे की तैयारी शुरू हो गयी है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि

कलमय उत्पादन का गुणन फल ही विश्वयुद्ध है। यह ससार के सम्पूर्ण विनाश का प्रवल कारण है।

चर्खात्मक उत्पादन का लागत पहलू

३२. अब चर्खात्मक उत्पादन को देखिये। १०००००) मे कम-से-कम १०००० चर्खे चलाये जा सकते हैं और १०००० व्यक्तियो से चलनेवाले पचीसो खादी-केन्द्र खडे हो सकते हैं जब कि कारखानो मे इतनी ही पूँजी से अधिकाधिक १५००-२००० मजदूरो से चलनेवाला केवल एक कारखाना चलता है। खादी-केन्द्रों का अर्थ है सम्पूर्ण ग्रामोद्योगो की शृंखला जीवमान और गतिमान हो उठती है जब कि कारखाना सैकड़ो केन्द्रों के जीवन को चूस कर अपने मे ही पी जाता है।

चर्खात्मक मशीने

३३. ऊपर कहा गया है कि "चर्खात्मक मशीनें एक-एक मनुष्य द्वारा प्रत्येक की सुविधा और स्वेच्छानुसार चलायी जाने योग्य होनी चाहियें, जिनमे विजली, भाप, गैस या तेल की नहीं मानव वल की क्रियात्मक शक्ति कार्य करेगी ताकि मशीनें मनुष्याधीन रह सकें न कि मनुष्य से स्वतत्र होकर, स्वच्छन्द विस्तार पूर्वक मनुष्य को ही 'कल का पुर्जा' (Tools of Machines) वना लें। मार्क्सवाद और नवभारत का यही एकमात्र लाक्षणिक अन्तर है। परन्तु मार्क्सवादी विरोध कर सकते हैं कि इस प्रकार उत्पादन के साधनो का प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र स्वामी हो जायगा, जो पूँजीवाद के समान ही प्रतिस्पर्धा इत्यादि को जन्म देकर समस्त आर्थिक सन्तुलन को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इसके पहले कि हम 'चर्खात्मक' मशीनों की लाक्षणिक परिभाषा करें, हमे, दो-चार बातें स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये।

कृत्रिम साम्य असभव है

३४. वास्तव मे, नवभारत न तो किसी कृत्रिम साम्य को संभव समझता है[1] और न उसमे विश्वास ही करता है। सब सुखी, सम्पन्न, क्रियाशील और विकासोन्मुख हो, भौतिक संघटन का बस इतना ही उद्देश्य होना चाहिये। सबके लिए समान अवसर हो, बिना किसी कृत्रिम बाधा के, संयम और स्वातन्त्र्य-पूर्वक आगे बढ़ने के साधन सुलभ हो, इससे अधिक

---

1 Even in the most perfect world we shall fail to avoid inequality—Gandhi ji, Young India, 7 10 26.

की चेष्टा करना केवल प्रतिकृत मनोभावना का सूचक वन जायगा। सब सुखी और सम्पन्न हो, सवके लिए सयम और स्वातंत्र्य पूर्वक आगे वढने का अवसर हो, फिर अमीर और गरीव का न तो सवाल उठता है और न किसी कृत्रिम साम्य की अपेक्षा रह जाती है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि आखिर वह सयत स्वातंत्र्य है क्या जो उलट-पुलट कर फिर उसी अनुचित असमानता को लौट आने से रोक सके ? इस विषय मे भी नवभारत की वही अपनी ग्राम्य-पंचायती व्यवस्था है जो केन्द्र के अस्वाभाविक अस्तित्व से नहीं वल्कि अपने ही आन्तरिक और सहयोगी सन्तुलन तथा संयम द्वारा एक "समन्वयात्मक संपूर्ण" (Synthetic Whole) की स्थापना करता है जहाँ आधार के सुपुष्ट निर्माण से 'शिखर विन्दु' और परिधि की स्पष्टता से ही केन्द्र का अस्तित्व कायम होता है। इस वात को हम राज और समाज की व्याख्या मे अधिक स्पष्टता पूर्वक समझाने की चेष्टा करेंगे, यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि नवभारत उत्पादन और वितरण को एक ऐसी 'स्वयम्भू श्रृंखला' मे गतिबद्ध कर देना चाहता है जो वर्तमान स्वच्छन्दता (Laisser Faire) और वैयक्तिक पूँजीवाद के स्थान मे सरकारी पूँजीवाद (State Capitalism) को न जन्म दे दे। जवतक कर्तृत्व और सृजनशक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास मे व्यक्ति किसी वाहरी हस्तक्षेप से आवश्यक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर लेता, उत्पत्ति सम्वन्धी अथवा उन अन्य समस्त चीजो का मूल्य ही क्या जो समूहवाद श्रम समुदाय के लिए उपस्थित करना चाहता है ?

चर्खात्मक उत्पादन

२५—(अ) उत्पादन के दो स्वाभाविक रूप हैं—वैयक्तिक और सामूहिक। अन्न, वस्त्र, फर्नीचर, खिलौना, जेवर आदि की भाँति वस्तु श्रेणी का उपभोग प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् करता है। अतएव हितकर यही है कि इनका उत्पादन भी प्रत्येक व्यक्ति पृथक् पृथक् करे। सिनेमा, जिसे सव एक साथ देखते हैं, रेलगाड़ी जो सारे समाज के सम्मिलित उपयोग मे आती है, अथवा विजली और पानी का कारखाना जो सारे गाँव और नगर को सम्मिलित सुख देता है—किसी एक व्यक्ति या सम्प्रदाय की सम्पत्ति वना देने से शेप के स्वार्थ पर आघात होने की सम्भावना उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार हमारे उत्पादन के दो रूप हुए—वैयक्तिक

और सामूहिक। उनका स्वामित्व भी उसी प्रकार वैयक्तिक और सामूहिक होना चाहिये। वैयक्तिक उत्पादन न तो समूह के हाथ मे हो और न सामूहिक किसी व्यक्ति के हाथ मे। सामूहिक उत्पादन समूह के हाथ मे होना चाहिये; समूह का अर्थ है उस गाँव या नगर से जहाँ से कि उसका सम्बन्ध है। इसके उत्पादन और वितरण मे उसी गाँव या नगर पचायत का प्रामुख्य होगा और उसमे सभी बिना किसी विशेषण के भाग लेंगे। इस प्रकार हम केन्द्रीयकरण और सरकारी पूँजीवाद, दोनो से साफ बच जायँगे।

उत्पत्ति का निर्यात या बाह्य उपयोग

(ब) परन्तु रेल, तार, सड़क, डाकखाना, हवाई जहाज या नहरें या जल मार्ग[1] किसी एक नगर या प्रान्त से ही सम्बन्ध नहीं रखते, इनका राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग होता है। उसी प्रकार कुछ ऐसे उत्पादन हैं जिनका उत्पत्ति स्थान से बढ़ कर समस्त राष्ट्र या विदेशो मे उपयोग होता है—जैसे बिजली के बल्ब, सिलाई की मशीनें बनानेवाले बड़े-बडे कारखाने, कैनाडा मे वायुयान बनाने के लिए भारत के मध्य प्रदेश मे 'मैगानीज' की खानें, अथवा स्थानीय आवश्यकता से बहुत ऊपर पैदा होनेवाले निर्यात-योग्य झरिया के कोयले की उपज। इस श्रेणी का उत्पादन या वितरण अथवा दोनों व्यवस्था ग्राम्य या नगर नहीं, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत के हाथ मे होगा। यहाँ स्थानीय पंचायत के परामर्श द्वारा स्थानीय "आवश्यकता" की पूर्ति के उपरान्त ही वस्तुओं का निर्यात या उनका बाह्य उपयोग किया जा सकेगा।

यथाशक्य सामूहिक उपज से बचना नवभारत का लक्ष्य—कारखानों पर खड़ा होनेवाला समाज परापेक्षित है

(स) हाँ, तो हमने अभी वैयक्तिक उत्पादन की बात कही है। वास्तव मे, नवभारत, यथाशक्य सामूहिक (Mass) उत्पादन से बचना ही चाहता है; कृषि मे सामूहिक और सम्मिलित विधान तो नवभारत की योजना मे अवश्य आता है परन्तु वह सभ्यता की भित्ति कारखानो की नींव पर नहीं खड़ा करना चाहता। न सामूहिक उत्पादन होगा, न बड़े-बड़े कारखाने बनेंगे (कारखानो के कुछ दोष हम दिखला चुके हैं कुछ आगे दिखलायेंगे); कारखानो पर खड़ा होनेवाला समाज दूसरो तथा दूसरी शक्ति का अपेक्षित रहता है।

---

१ इस विषय को और भी समझने के लिए नवभारत का तत्सम्बन्धी अध्याय देखिये।

वहाँ थोड़े बहुत से कारखानों पर अधिकार करके समस्त देश या समाज को दास बनाया जा सकता है। अतएव आवश्यक है कि व्यक्ति-उपयोगी अर्थात् उपभोक्ता पदार्थों का उत्पादन प्रत्येक व्यक्ति स्वयं करे और उनके उत्पादन साधनो पर स्वामित्व भी उसी का हो। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादन का साधन और उपभोग का संयत स्वातन्त्र्य प्राप्त होगा। कोई किसी का मुहताज या किसी से उपेक्षित नहीं होगा।

अंग्रेजी मे दो शब्द हैं—'मास प्रोडक्शन' और 'कलेक्टिव् फार्मिंग'। 'मास प्रोडक्शन' का शब्दार्थ तो 'सामूहिक उत्पादन' ही होता है परन्तु भाव यह है कि एक साथ, बृहद् आधार पर उत्पादन करना जैसे बाटा कम्पनी मे एक साथ हजारो-लाखो जोड़े जूते, एक-एक मिल में लाखों मन चीनी, अथवा एक-एक सूत्र से लाखो गज जूट या कपडे का उत्पादन। यह सब 'मास प्रोडक्शन' है जिसे सामूहिक उत्पादन कहते हैं। परन्तु कृषि मे 'सामूहिक' का अर्थ होता है बहुत से लोगो यानी किसी समूह का मिल-जुल कर कृषि करना। इसके लिए, यथार्थतः, अंग्रेजी मे सही शब्दावली है 'कलेक्टिव् फार्मिंग' यानी 'सम्मिलित कृषि'। इसी अर्थ मे 'सामूहिक कृषि' का भी व्यवहार होता है। वस्तुतः कृषि, गाँवो के आधार पर, सामूहिक, सम्मिलित और सहयोगी रूप से ही फलीभूत हो सकती है क्योंकि सम्बद्ध समूह के प्रत्येक प्राणि के श्रम और सहयोग का बहु-विध लाभ मिलने का यह श्रेष्ठतम मार्ग है।

इस प्रकार उद्योगो मे 'नवभारत' सामूहिक उत्पादन का विरोध करते हुए भी सामूहिक और सहयोगी कृषि का समर्थन करता है। विनोबा जी कहते हैं पृथ्वी सबकी माँ है यानी उस पर सबका अधिकार है। जिस चीज पर सबका अधिकार है उसके लिए सबको मिल-जुलकर सम्मिलित और सामूहिक रूप से कार्य करना अश्रेयस्कर नहीं हो सकता।

इसी प्रसग मे, विषयांतर होते हुए भी, समझ लेना है कि सामूहिक कृषि या सामूहिक उत्पादन का अर्थ हम सामूहिक स्वामित्व नहीं करते। विनोबा जी ने स्पष्ट किया है कि "लोग कहते हैं कि हम धरती के मालिक हैं परन्तु यह बिलकुल गलत है। धरती तो जहाँ की वहीं रहती है और उस पर लोग आते हैं, चले जाते हैं, मर-खप कर उसी धरती में समा जाते हैं। इसलिए, वे पूछते हैं कि, तुम धरती के मालिक हो या धरती तुम्हारी मालिक है?"

परन्तु जहाँ स्वामित्व का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ भी हमें व्यक्तिगत और सामूहिक स्वामित्व के भेदो को वारीकी के साथ समझना होगा। इस पर यथास्थान चर्चा की गयी है।

समाज की कलमय स्थिति में स्वामी और दास का अस्तित्व अनिवार्य है

(द) कारखानो पर खड़ा होनेवाला राज केवल धोखा है; वहाँ से स्वामी और दास की सत्ता मिट ही नहीं सकती। मनुष्य के सम्मुख नित्य नयी आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं; उनका न तो अन्त होता है और न तो स्वार्थ और कृत्रिम पेचीदगियो से समाज मुक्त हो सकता है। कारखानो मे काम करनेवाले हजारों लोग किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, समुदाय या सरकार द्वारा सञ्चालित मजदूरी पानेवाले मजदूर भर है, "अधिकाधिक स्वतंत्र गुलाम।" अपनी मजदूरी के लिए उन्हें दूसरो की इच्छा पर जीना मरना पड़ता है। समाजवादी व्यवस्था मे मजदूर को मालिक कहना अच्छा समझते हैं; मालिक कहिये या मजदूर, जितना उसने पैदा किया उससे कहीं अधिक उसकी आवश्यकताएँ बढ़ गयी है। वह मालिक होकर भी मुहताज बना हुआ है।

वैयक्तिक वस्तु उत्पादन के लिए वैयक्तिक मशीने

(य) वस्तुतः, मानव सुख समृद्धि का धरातल अपने पहले स्थान पर ही टिका-सा दीखता है, वल्कि, उससे भी नीचे गिरा हुआ।[1] अतएव "वैयक्तिक वस्तु उत्पादन" के लिए कारखानों को मिटाकर, ऐसी वैयक्तिक मशीनों की व्यवस्था करनी होगी, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सुविधानुसार पृथक्-पृथक्, स्वामित्व पूर्वक, सामूहिक एवं सामाजिक हितों के लिए आवश्यक उत्पत्ति करने मे सहज ही समर्थ सिद्ध हो सके। बड़े-बडे, बिजली और भाप वाले, कारखाने कम से कम समय मे अति उपज के द्वारा खपत की भयकर

---

1. Though the amount of goods and services enjoyed by the poor man in 1924 be more than those enjoyed by his predecessor in 1824, the former's poverty is probably little less tedious and unpleasant to him than an actually more grinding poverty was to the latter—

Economics of Inheritance p 40

समस्या खडी कर देते हैं।[1] वैयक्तिक मशीनें इस महामारी से मनुष्य की सफलतापूर्वक रक्षा करती हैं। उपर्युक्त ढंग से बनी हुई, उपर्युक्त विधि से कार्य करने वाली, सुविकसित मशीनें वस्तु उत्पादन में मानव अंश को सुरक्षित रखती हैं तथा हमें ज्ञान और मनोरंजन का यथेष्ट अवसर देती हैं। चर्खा, कर्घा, कोल्हू, घानी, पनचक्की, रहट अथवा सिलाई के लिए सिंगर मशीनें इस श्रेणी की मशीनें हैं। इस सम्बंध में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान रखना होगा :—

(१) अच्छे और सुविकसित ढंग की होनी चाहियें ताकि एक मनुष्य कम से कम समय में, अच्छे से अच्छे माल का, कम से कम शक्ति द्वारा, अधिक से अधिक उत्पादन कर सके।

(२) स्थानीय, और यदि स्थानीय निर्माण असम्भव हो तो देशी तौर पर, यथाशक्य वहीं की चीजों से इन्हें तैयार किया जाय, ताकि हमारे उत्पादन के साधनों का सूत्र पर-स्वार्थों या पर-राष्ट्रों के हाथ में न हो।

(३) तैयार कहीं हो, उनकी मरम्मत चलाने वाला स्वयं नहीं तो गाँव में तो अवश्य ही करा सके; इस प्रकार यही नहीं कि गत्यावरोधन की सम्भावना दूर होगी, बल्कि अधिक और व्यवस्थित रूप से कार्य हो सकेगा।

(४) मशीनों में प्रयुक्त वस्तु पदार्थ, उनकी बनावट, उनमें सुधार, स्थानीय तथा देशी विशेषता को ध्यान में रख कर ही होना चाहिये ताकि[2] उनके उपयोग में शारीरिक, भौगोलिक, सामाजिक अथवा अन्य ऐसी ही कोई असुविधा न हो।

(५) उनकी रचना, यथाशक्य, सरलतम हो ताकि उनको छोटा, बड़ा, स्त्री-पुरुष, बूढ़ा या जवान, कोई भी बिना किसी विशेष अथवा दीर्घ-कालीन शिक्षा-दीक्षा के ही काम में ला सके और साथ ही साथ लोगों को विशेषज्ञों का मुहताज न होना पड़े।

---

1 समाजवादी व्यवस्था में भी अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की अनिवार्य आवश्यकता का यहीं से उद्भव होता है। रूस भी अपनी उपज को बाहर भेजने लगा है बाहर भेजना चाहता है और बाहर भेजने पर बाध्य है ताकि अपनी अति उपज के बदले उसे बाहर से अपने लिए आवश्यक वस्तु प्राप्त हो सके। वह स्व-सम्पन्नता को अपनाने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन पर विवश है।

2. Secure improvements in it in special keeping with the special conditions of India, Young India 3 11 21.

(६) उपभोक्ता पदार्थों की इन "वैयक्तिक वस्तु उत्पादक" मशीनों की रचना और इनकी क्रियात्मक शक्ति (मोटिव फोर्स), दोनो वैयक्तिक अर्थात् असामूहिक होनी चाहियें। असामूहिक का दूसरा नाम है विकेन्द्रित। उदाहरण के लिए चर्खे को लीजिये। चर्खा सूती मिल का विकेन्द्रित रूप है। इसकी क्रियात्मक शक्ति क्या है ?—मनुष्य की इच्छा-शक्ति या उसका शरीर बल। इस चर्खे को यदि बिजली से चलाया जाय तो गलत होगा। बिजली विकेन्द्रित नहीं, केन्द्रित शक्ति है। केन्द्रित का दूसरा नाम है सामूहिक। बिजली स्वभातः सामूहिक चीज है। इस पर एक नहीं, अनेको का अधिकार होता है, भले ही वह गाँव की पंचायत ही क्यो न हो। इसलिए बिजली से चलनेवाला चर्खा विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन नहीं कर सकता। उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन मे किसी भी रूप मे सामूहिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये क्योंकि इससे व्यक्ति के चेतन स्वरूप पर आघात होने का भय रहता है। आकार या रचना विकेन्द्रित हो और शक्ति केन्द्रित हो, इससे विकेन्द्रीकरण का चित्र पूरा नहीं होता। अतः इन 'वैयक्तिक-वस्तु-उत्पादक' मशीनों को पूर्णतः विकेन्द्रित होना चाहिये।

मानव समाज की निर्दोष प्रगति की मौलिक शर्त

(२) उत्पादन क्रम को उपर्युक्त आधार पर बदल देने से एक स्वसम्पन्न वातावरण की सहज ही स्थापना की जा सकेगी। लोग ख्वाह-म-ख्वाह, दिन-दिन, रात-रात खून पसीना करके भी अभावपूर्ण जीवन के लिए विवश न होगे (विवशता का ही नाम दासता है)। लोगों को शारीरिक तथा मानसिक स्फूर्ति का अनुभव होगा, विकास का पथ निष्कण्टक हो जायगा। थोड़ी बहुत असमानता जो शेष रहेंगी भी वह केवल प्राकृतिक, अनिवार्यतः आवश्यक और इसीलिए प्रेरणात्मक सिद्ध होगी। अब यह स्पष्ट हो गया है कि चर्खे का प्रतीकात्मक तथा सैद्धान्तिक अर्थ यह है कि कम-से-कम 'वैयक्तिक वस्तु उत्पादक' मशीनें सरल और सुबोध हो, जिसे केवल विशेषज्ञ लोग ही नहीं, सहज बुद्धिवाले सर्वसाधारण लोग भी सरलतापूर्वक उपयोग मे ला सकें। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमे कल-विशेषज्ञो (Specialised Mechanics) के एक विशेष वर्ग की निरन्तर आवश्यकता बनी रहेगी और उनके लिए हमे अपनी मशीनों को विशिष्टतम करते जाना होगा। इस प्रकार कल-विशेषज्ञों तथा विशिष्टतम मशीनों का प्रगत पारस्पर्य्य

हमारे समस्त उत्पादन क्रमको निर्वधनीय रूप दे देता है जो समाज मे साम्पत्तिक वैपम्य का विध्वंसक कारण बन जाता है। इसके विपरीत मशीनो की सरलता हमारे उत्पादन को, स्वभावतः, सरल बना देगी। उत्पादन के सरल होने का अर्थ है वितरण और खपत का सरल हो जाना, या योकि उत्पादन, वितरण और खपत की सम्मिलित और सामूहिक सरलता, हमारी रहन-सहन, वल्कि समस्त सामाजिक जीवन को सरल बना देगी। सरलता का ही दूसरा नाम शुद्धता है, अर्थात् समस्त मानव समुदाय निर्दोप गति से आगे बढने मे समर्थ होगा।

(ल) यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि ससार के सारे कारखानो को बन्द कर देना नवभारत को अभीप्ट नहीं। रेल को त्याग कर पैदल अथवा इमारतो को गिराकर जगल मे जा बसने की आवश्यकता नहीं और न यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता का बोझ स्वयं अपने ऊपर लेना पड़े। यह हमारे सहज ज्ञान की बात है कि अभी १००—५० वर्प पहले स्त्रियाँ सूत कातती थीं, जुलाहे कपडा बुनते थे, लुहार, बढई, तेली, कारीगर, किसान सभी अपने-अपने क्षेत्र विशेप मे तत्परता-पूर्वक व्यस्त थे और सहयोगी व्यवस्था तथा स्वतत्र अदल-बदल के द्वारा (हमे समय तथा परिस्थितियों के अनुसार उनमे सुधार-बधार कर लेना होगा) स्वसम्पन्नता से व्याप्त रहते थे। हमे उसी सिद्धान्त का व्यवहार करना है। नव-भारत कभी नहीं कहता कि मनुष्य केवल पेट भरकर जीने मात्र के लिए जीवित रहे, उसे जीवन पदार्थों की उत्पत्ति तथा कार्यों के सम्पादन के पश्चात् लोक-परलोक, काव्य, कला, ज्ञान तथा मनोरंजन के के लिए भी अवकाश चाहिये, अतएव उपयुक्त लक्षणो से परिपूर्ण विशिष्ट-तम मशीनो की आवश्यकता है जो उसके उत्थान मूलक और सम्मिलित (Corporate) जीवन को एक सुनिश्चित सत्य का रूप देने मे अचूक सहायता करें। सब अपना-अपना कार्य करेंगे और उन सबके सहयोग से समाज की पूर्ति होगी। "अधिक-से-अधिक उत्पादन" की आवश्यकता तथा "निर्यात योग्य" उत्पादन का उल्लेख किया गया है; यह भी कहा जा चुका है कि पारस्परिक अदल-बदल से ही जीवनावश्यकता की पूर्ति होती है।

चर्खात्मक मशीनों में क्योंकर सुधार किया जाय

इन सबका सामूहिक अर्थ यह है कि हमे सम्मिलित जीवन द्वारा अपनी उत्पत्ति (Produce) मे आवश्यक आधिक्य (Surplus),

स्थापित करना ही होगा।[१] इसलिए हमें अपनी मशीनों को उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार विशिष्टतम बनाना होगा ताकि उनकी उत्पादन शक्ति इतनी परिमित न हो जाय कि थोड़े से दायरे की आवश्यकता पूर्ति करने मे ही वह समाप्त हो जायें। हमे, यदि आवश्यक हुआ तो, अपनी मशीनों मे सुधार भी करना पड़ेगा, परन्तु इस प्रकार नहीं कि गुड का कोल्हू चीनी का कारखाना और जुलाहे का कर्घा कपड़े की मिल बन जायें। निर्यात योग्य पदार्थों के विषय मे भी हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि गुजरात मे रूई या बंगाल मे कोयले का आधिक्य होने से अहमदाबाद की मिल-शृंखला या जमशेदपुर मे टाटानगर का ऊहापोह खड़ा कर दिया जाय। भारतीय वस्त्रागार पहले भी, बम्बई और अहमदाबाद की मिल शृंखलाओं के बहुत पूर्व से, देश-विदेश को वस्त्रांकित करता रहा है; भारतीय लोहे तथा अन्य धातुओ का व्यापक व्यवहार होता रहा है, परन्तु टाटानगर जैसे लौह नगरो से हम सर्वथा वञ्चित ही रहे।[२]

कारखानों की विशेषता

(ब) कारखानो का अर्थ है—कच्चे माल का अनेक स्थानो से चलकर एक स्थल मे एकत्रित होना, अर्थात् थोड़े लोगो के हाथ मे बहुत से वस्तु पदार्थ तथा शक्ति का आ जाना और स्वभावतः, वितरण की कुञ्जी का भी उन्हीं के हाथ लग जाना। संक्षेप मे, वैयक्तिक अथवा सरकारी पूँजीवाद, प्रतिस्पर्धा, बेकारी, अनेक दोषो का कारण उपस्थित हो जाता है।

(श) अतएव उत्पादन की 'प्रेरणा' तथा उसका आकारात्मक आधार (Structural Basis), यथाशक्य, उपर्युक्त लक्षणो के अनुसार

---

१ इसको विस्तार से समझने के लिए नवभारत का तत्सम्बद्ध परिच्छेद देखिये।

२ लोहे के सम्बन्ध में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ ने महत्त्वपूर्ण खोज और वक्तव्य प्रकाशित किये हैं जो हमारे मत का पुष्ट करने में यथेष्ट रूप से सहायक सिद्ध हुए हैं और उनका यथास्थान हम उल्लेख करेंगे। यहाँ केवल एक वाक्य का उद्धरण ही पर्याप्त होगा—"काफी समय से लोहे और फौलाद की मिलो द्वारा ही लोहे की गलाई के लिए धुआँ उड़ाये जाने के बारे में हम सोचने के इतने आदी हो गये हैं कि हममें बहुत से लोग यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि कभी यह एक ग्रामोद्योग था और छोटे-छोटे औजारो की मदद से छोटी-छोटी इकाइयो में उसे चलाया जाता था। फिर भी हम जानते हैं कि कारखानो की कल्पना से पहले भी भारत में बढ़िया से बढ़िया लोहे और फौलाद की चीजें तैयार होती थीं।"

"एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था"

वैयक्तिक (Individualistic) ही होना चाहिये। इस उत्पादन क्रम को हम "एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था" (Mono-Homo Industrial-System) कहेंगे। आजकल मशीन भक्तो ने ऐसे धंधों को (Cottage Industry) या गृह-उद्योग का महा भ्रामक और अपूर्ण नाम देकर इन्हें एक उपेक्षणीय आवरण से ढक देने का प्रबल दाँव खेला है। अतएव हमे सावधान हो जाना चाहिये ताकि हमारी पुनर्निर्माण की चेष्टाएँ इनकी चालबाजियो की शिकार न हो जाये। हमे सतर्क होकर सर्वसामान्य को नवभारत की योजनाओ का यथार्थ शब्दो मे परिचय कराना इसलिए और भी आवश्यक हो गया है कि चर्खात्मक व्यवस्था के बड़े आचार्यों ने भी अंग्रेजी के उसी प्रचलित गृह-उद्योग शब्द को असावधानीपूर्वक अपना लिया है।

इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट कर लेना है कि वैयक्तिक मशीनें उसी श्रेणी के वस्तु पदार्थ के लिए प्रयुक्त होगी जिनका उपयोग तथा अनुपयोग वैयक्तिक आधार पर होता है। यह श्रेणी समस्त वस्तुपदार्थो की है। निर्यात-योग्य (For export) पदार्थ अथवा कलोत्पादक मशीनों, जैसे रेलगाड़ी, बिजली का बल्ब, सिंगार मशीन इत्यादि को बनाने के लिए बड़े बड़े कल-कारखाने—इस सम्बन्धमे हमे फिलहाल कुछ अधिक स्पष्ट करने को नहीं रहा। हमे तो अब यह स्पष्ट कर देना है कि शक्ति-उत्पादक मशीनें (जैसे नगर प्रकाश तथा ट्राम के लिए गैस और बिजली, शहरों मे पीने या बाग सींचने के लिए पानी का कारखाना) उपर्युक्त वस्तु उत्पादक मशीनो से सर्वथा भिन्न हैं। इनसे भी भिन्न एक तीसरी श्रेणी है—रेल, ट्राम, हवाई जहाज, तार, फोटो कैमरा, अथवा ऐसे ही अन्य साधन यन्त्र। इन्हे हम साधक मशीनें कहेंगे। शक्ति उत्पादक तथा साधक मशीनो के सम्बन्ध मे हमे विशेष चिन्ता नही है।[1] इन्हे परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार स्थानीय या राष्ट्रीय पंचायत की कड़ी सार्वजनिक देख-

---

1. I have no quarrel with steamships or telegraphs. They may stay if they can without the support of Industrialism and all it connotes although they are not indispensible for the improvements, of Human race—Gandhi ji, Young India, 7-10 26

रेख मे रख देने से बात बन जायगी; हमे तो वस्तु उत्पादक मशीनों का सम्पूर्णतः (Total) निराकरण (De Mechanisation) करके नव-भारत के निर्माण की नींव "एक मनुष्यात्मक-उद्योग व्यवस्था" पर ही खड़ी करनी है।

(प) वस्तु उत्पादक मशीनो का आधार (बनावट) वैयक्तिक होगा; शक्ति उत्पादक मशीनो का आधार (बनावट) स्थानीय (Local) होना चाहिये ताकि बम्बई मे बिजली देनेवाला कारखाना अहमदाबाद के प्रकाश का भी प्रवन्ध अपने हाथ मे न ले ले। इसमे दो बड़े दोष पैद हो सकते हैं :—पहले तो अहमदावाद को बम्बई की सुविधा और व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन क्रम वनाना पड़ेगा और सदा बम्बई का मुहताज रहना होगा; दूसरे बम्बई मे इतने बड़े कारखानों की रचना होगी जिसमे लाखो की ठसम ठस से रोग, अस्वास्थ्य, जनाधिक्य, सकुचन, चोरी, व्यभिचार आदि की सृष्टि हो जायगी। रहीं साधक मशीनें, वे साधन मात्र हैं। वस्तु उत्पादक, शक्ति उत्पादक या साधक प्रत्येक के पीछे सार्वजनिक देख-रेख का विधान[1] होगा। वस्तु पदार्थ के उत्पादन और उप-भोग का प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र स्वामी होगा, परन्तु सामाजिक आधिक्य (Social Surplus) को सुरक्षित रखने के लिए कार्य करना ही होगा ताकि समाज का जीवन क्रम लोगो के अकर्म या कर्म विमुखता के कारण भंग न हो जाय। दूसरे शब्दों मे व्यक्ति का स्वातन्त्र्य और स्वामित्व इसीलिए मान्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वचेतना का लोक संग्रह मे उपयोग कर सके।

मशीनों का आधार (बनावट)

वैयक्तिक स्वामित्व, लोक सग्रह के लिए

३६. हम समाजवाद, समूहवाद, आर्थिक आयोजन, किसी की भी शरण लें, रोटी-धोती की समस्याएँ भी हल कर लें, परन्तु जबतक कलमय सकुचन के वाहर नहीं निकलते, जनाधिक्य की चिन्ताएँ हमारा पीछा नहीं छोड़ सकतीं, स्वतंत्र और स्वच्छन्द जीवन प्रवाह को स्वाभाविक प्रसार से समेट कर थोड़े मे ही ठूँसना पड़ेगा, ट्राफिक रूल के शिकजो मे फँसकर प्राण गँवाते रहने की उत्पीड़ाओ से वचने के लिए, चलने फिरने तथा

कलमय सभ्यता

---

१ इसका विषयानुक्रम से अपने अपने स्थान पर सविस्तार उल्लेख किया गया है।

हवा पानी के व्यवहार में भी कमी करने की आवश्यकता पड़ेगी। संक्षेप में, प्राकृतिक जीवन को भी अप्राकृतिक बना देना पड़ेगा। यह तो कहा ही गया है कि कलमय उत्पादन में सम्पत्ति सर्वसामान्य के हाथ से निकल कर इने गिने लोगो अथवा सरकारी अधिकार में एकत्रित हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि उसकी रक्षा तथा व्यवस्था के लिए पुलिस और सेना आदि का जाल फैलाना पड़ता है। यही विश्व सहार के कारण बनते हैं। शान्तिकाल में भी इनका अनावश्यक और अनुचित भार सर्व-सामान्य को सरकारी टैक्सो के रूप में उठाना पड़ता है अर्थात यह वैय-क्तिक आवश्यकता सार्वजनिक बोझ बन जाती है। परिणामतः मानव विकास का कोमल पौधा टैक्सों के बोझ से दब-दब कर मुरझाया सा रहता है। अतएव, नवभारत उत्पादन का एक अपना ही रचनात्मक आधार लेकर बाहर आता है और उसे भलीभाँति समझ लेने से ही नव-भारत को समझा जा सकता है।

२७. आयोजित उत्पादन (Planned Production) के सम्बन्ध में नवभारत यही सलाह देता है कि आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार उसे उपर्युक्त लक्षणो के आधार पर व्यवहृत किया जा सकता है। वास्तव में इसे कोई विवेचनात्मक महत्त्व नहीं दिया जा सकता; वह तो उत्पादन के आधारात्मक लक्षणो को ही निश्चित कर देता है। कुछ लोगो का कहना है कि "संसार की वर्तमान बनावट को देखकर ही हमे अपना रास्ता बनाना है।" नवभारत भी यही कहता है कि

आयोजित उत्पादन

संसार की बनावट को देखना होगा, यह देखना होगा कि उसका हम पर, हमारी आनेवाली सन्तान पर, क्या प्रभाव पड़ रहा है। और यदि गाड़ी गलत रास्ते पर दौड रही है तो हमे सर्वस्व का दाँव लगाकर भी उसे ठीक रास्ते पर लाना होगा। उदाहरण के रूप में, भारत में अफीम की पैदावार होती है जिसे चीनी लोगो के सिर ठोक कर भारत का धन और कर बढ़ाया जाता है। भारत को भले ही साम्पत्तिक धक्का लगे, नवभारत अफीम की उत्पत्ति को बन्द कर देगा; वह नहीं चाहता कि एक देश दूसरे के अधःपतन से अपने धन और वैभव का सामान करे। 'नवभारत' यह हर्गिज नहीं स्वीकार कर सकता कि औद्योगीकरण के नाम पर नकली घी की मिलें, गुड और शक्कर के बजाय "निर्गुण" सफेद चीनी की मिलें (चीनी की मिलें

हैं और इसीलिए लोगो का समूह वास्तविक अर्थों मे समाज बन ही नहीं पाता। केवल स्वार्थवश एकत्रित समुदाय का पारस्परिक सम्बन्ध सामाजिक आदान-प्रदान तथा सामाजिक अवयवो से परिपुष्ट नहीं हो पाता। अभिप्राय यह कि कलमय उत्पादन से मनुष्य की सामाजिकता क्षीण हो जाती है, समाज के सघटन की धुरी टूट जाती है, नैतिक विकास गतिहीन हो जाता है और हमे आये दिन रेलगाड़ी के डिब्बो के समान झगड़े और साम्प्रदायिक दगो की यातना झेलनी पड़ती है। स्पष्ट रूप से कहने के लिए सारा समाज स्थानच्युत और फलतः लक्ष्य हीन यात्रियों के समान जीवन यातनाओ मे निराधार-सा हिलने डोलने लगता है जो कलमयी व्यवस्था की मौलिक त्रुटियो से ही सञ्चालित हो रहा है।

कारखाना तो उचित स्थान पर बनता है परन्तु कारखाने मे जो कार्य होता हैं वह गलत स्थान पर हो रहा है, गलत लोग कर रहे हैं। शक्कर वहीं बन रही है जहाँ आस-पास पचीसो मील गन्ने का एक पौधा भी नहीं; गॉव-गाँव के खेत-खेत से बटुर कर सारे गन्ने किसी एक कारखाने में शक्कर की शकल मे ढाल दिये जाते हैं जिसे वास्तव मे अनेक लोगो द्वारा अनेक गॉव मे स्वास्थ्यकर रीतिसे और बहुतो की अभिरुचि से बनना था। इस शक्कर को बनानेवाले भी उसके स्वाभाविक उत्पादक किसान नहीं, हथौड़ी चलाने वाले और पेंच कसने-वाले मजदूर हैं जो यह जानते ही नहीं कि गन्ना खेत मे कैसे उपजता है। इस प्रकार सारा समाज स्थान-च्युत और परिणामतः व्यवस्था-भ्रष्ट हो गया है जिसका जीवन-मरण ही नहीं, अस्तित्व भी व्यावसायिकतेजी-मन्दी तथा कल-पुर्जो की उलट-फेर पर निर्भर है। आज फोर्ड साहब ने देखा कि अमुक माडल का तैयार करना बेकार है, उस माडल का तैयार करने वाला सारा कारखाना ही बन्द कर दिया गया और हजारो लोग, सैकडो गृहस्था-श्रम उखड़ गये। आज एक मिल मालिक व्यावसायिक मन्दी से विवश होकर कारखाना बन्द कर देता है और उसको लेकर जीवन-व्यापार करने वाला सारा समाज ही नष्ट-भ्रष्ट और अस्तित्वहीन हो जाता है। इसी-लिए कलमय तथा शोषणात्मक के बजाय सहयोगी और विकासमान

कलमय उत्पादन-गलत स्थान पर गलत लोगों के द्वारा सम्पन्न किया जाता है

समाज व्यवस्था के लिए नवभारत 'ए० म० उ० व्य०' का एकमात्र प्रस्ताव प्रस्तुत करता है।

२८. अब, हमें अन्त में, इस 'एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था' (निःकल उत्पादन) के राजनीतिक अंग पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। युद्ध और क्रान्ति की सर्वसंहारी ज्वालाएँ धाँय-धाँय कर रही हों, दुष्काल और दुर्भिक्ष से मानवसमाज पंगु और लाचार हो उठा हो, रेल और सवारी तथा आयात-निर्यात के साधन ध्वस्त हो चुके हों, फिर भी, समाज का उत्पादन क्रम अविचलित रूपसे चला जाता है क्योंकि यहाँ कल-कारखानों की सामूहिक उपज के लिए लोगों को संघटित व्यवस्था में केन्द्रीभूत होने की आवश्यकता नहीं है और न सामूहिक उपज के लिए सार्वदेशिक वितरण शृङ्खला ही अनिवार्य प्रतीत होती है, केन्द्रबद्ध सामूहिक उपज के लिए कच्चे माल के संघटित और सामूहिक एकत्रीकरण की भी आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ भी हो, जिस परिस्थिति में भी हो, मैदान या छप्पर में हो, उत्पादन क्रम में लगा रह सकता है क्योंकि उसके कच्चे माल के प्राप्ति साधन निकटतम और असामूहिक सूत्र से बँधे होते हैं और वितरण व्यवस्था सामाजिक आधिक्य तथा ग्राम्य सम्पन्नता के आधार पर ही विरचित हुई है।

निःकल उत्पादन का राजनीतिक अंग

२९. इस बात का सूक्ष्म, परन्तु, व्यापक अर्थ यह है कि समाज की सुख-सम्पदा में सब का सम्मिलित श्रेय है, न कि कलमय व्यवस्था के समान कुछ कार्य करें और शेष बेकार रहें। सब लोग वैयक्तिक और सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं और जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें अनिवार्यतः पारस्परिक विनिमय क्रम में, व्यक्तिगत और सम्मिलित रूप से बँधा रहना पड़ता है जहाँ बनाने और बरतनेवालों का अन्तिम वर्ग भेद भी समाप्त हो चुका होता है। अतएव, लेन-देन की समस्या सब की सम्मिलित और प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व बन जाती है, न कि किसी दल विशेष का कार्य। अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यों कहा जायगा कि प्रचलित समाजवादी प्रणालियों के समान समाज के सुख स्वातंत्र्य का प्रश्न किसी राजनीतिक 'प्रोग्राम' में

वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव

नहीं, जीवन के रचनात्मक रूप मे ही प्रकट होता है।[5] उसी प्रकार उसका अङ्गीकरण और हल भी है। सब का प्राप्त करके उपभोग करना और कुछ लोगो का छीन कर सब को बाँटना—इन दोनो का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अन्तर सहज ही समझा जा सकता है। वर्ग भेद का सम्पूर्ण अभाव ही इसका प्रमुख लक्षण है।

पुलिस और सेना—शोषण, दमन और "अनर्थ" की प्रतीक

४०. यह कहना न होगा कि जिस प्रकार युद्ध और क्रान्तिकालीन दशाओ मे लोग सुख-सम्पदा के विधान मे कार्यरत रह सकते हैं उसी प्रकार राजनीतिक पराधीनता मे भी। यथार्थत: यहाँ समस्त कार्यक्रम सरकारी शिकजो की अपेक्षा सामाजिक सहयोग से ही प्रेरित होता है। फलत: यहाँ पुलिस या सेना को शोषण और दमन का प्रतीक ही नही बल्कि 'अनर्थ' (Non-Economic) भी समझा जाता है। अतएव, नवभारत का रचनात्मक आधार पुलिस और सेना के प्राधान्य की उपेक्षा से ही सुदृढ़ हो सकता है। इस बात का विचारणीय अर्थ यह होगा कि हमे अपनी अधिकार-प्राप्ति की सुचेष्टाओं मे पुलिस और सेना के महत्त्व को नगण्य समझ कर अपनी कार्यावली स्थिर करनी होगी। गाधी जी भी कहते हैं—"हम उस भौतिक सभ्यता को कदापि स्वीकार नहीं करेंगे, जिसकी रक्षा जहाजी और हवाई बेड़ो से होती है। हम उस व्यवस्था के इच्छुक हैं जिसकी नीव त्याग

---

१ महात्मा गाधी, अमृत बाजार पत्रिका, २०–२–४५—

Congressmen in Behar were busy devising concerted measures to give effect to the fifteen-point constructive programme sketched by me and in a manner suggested by me when the principal men were arrested, though the programme has no political flavour, using the term politics in its understood sense. I have not hesitated to say that 'the universal adoption in practice in India of the programme must lead to the attainment of complete independence without either civil non-violent disobedience or even a parliamentary programme' There would then be no necessity for either

और सहयोग पर निर्भर करती है, न कि शक्ति पर।"[1] अतएव राजतंत्र पर कब्जा करने का भार किसी दल विशेष को सौंप कर शेष लोग उस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा में एक व्यग्र अकर्मण्यता को प्राप्त हों—नवभारत किसी ऐसी व्यवस्था का प्रस्ताव नहीं करता। वास्तव में यहाँ लोग स्वतः धीरे-धीरे स्वत्वों पर सुदृढ़ स्वामित्व प्राप्त करते जा रहे हैं और हेगेल की ही अन्तः वांछा के अनुसार राज एक दिन स्वतः मुरझा कर झड़ जाता है (Whithers off)। एच० जी० वेल्स के अनुसार (जैसा कि उन्होंने 'शेप आव् थिंग्स टु कम' में अभिप्रीत किया है) राज की एक अन्तिम घोषणा के साथ उसके स्वतः विघटन का कौतूहल हमारे साथ नहीं लगा रहता।

४१. "एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था' राजयंत्र को सामाजिक सम्पत्ति की अनिवार्य शर्त नहीं बनाती क्योंकि इसकी उत्पादन रीति केवल राजकीय साहाय्य से ही नहीं जीवमान होती, इसीलिए राजयन्त्र पर बलात् कब्जा करने का प्रश्न यहाँ उठता ही नहीं। एक स्थान पर गांधी जी कहते हैं—"हमारे सम्मुख तात्कालिक प्रश्न यह नहीं है कि देश का राज संचालन किस प्रकार हो बल्कि प्रश्न यह है कि हमलोग अन्न और वस्त्र किस प्रकार प्राप्त करें।"[2] ध्यान में रखने की बात है कि यह निर्देश उस गुलाम भारत के लिए था जो अपने स्वातंत्र्य युद्ध में लिप्त था और निर्देश भी उसी महापुरुष का जो स्वयं इस संग्राम का प्रणेता और सञ्चालक था। बात को स्पष्ट करने के लिए कहना होगा कि यहाँ स्वतंत्रता की कल्पना विभागों में नहीं की गयी है। यहाँ राजनीतिक और आर्थिक, अर्थात् पहले राजनीतिक फिर आर्थिक उलट-फेर नहीं है। यहाँ हम लक्ष्य का सम्पूर्ण चित्र लेकर उसके पूर्ण संकल्प के साथ सम्पूर्ण चेष्टा करते हैं। अतएव आगे-पीछे या नरम-गरम होने का दाव-पेंच तथा कृत्रिम प्रणाली को त्याग कर हम एक-रस, एक-भाव से नित्य, निरन्तर आगे ही आगे बढ़ते जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे शिथिल या तीव्र प्रवाह हो, गंगा पीछे नहीं, आगे ही बढ़ती जाती है।

लक्ष्य के अधूरे नहीं, सम्पूर्ण चित्र की आवश्यकता

1. Young India, 29 6 25
2. Young India 10-12-19

अ) मानव विकास के लिए व्यक्ति को सम्पूर्णतः स्वतंत्र और इस दृष्टि से राजनीतिक स्वातंत्र्य अनुकूल वातावरण उपस्थित करता है। परन्तु केवल राजनीतिक स्वातंत्र्य की पृथक् और एकांगी कल्पना ही यहाँ कब की गयी है?[१] 'ए० म० उ० व्य०' का लाक्षणिक अर्थ ही यह है कि वह व्यक्ति को सम्पूर्णतः स्वतन्त्र बना दे।

"ए० म० उ० व्य०" और अहिंसा

यह एक ऐसी दुधारा व्यवस्था है जो प्रत्येक व्यक्ति और परिणामतः उनके समूह अर्थात् समस्त समाज को स्वत्वो पर स्वामित्व प्रदान करने के साथ ही विपक्षी तथा विरोधी समुदाय को जीवनाधिकार तथा लोक-संग्रहार्थ अस्तित्व तो प्रदान करती है पर उनके शोषणात्मक साधनो को अस्तित्वहीन भी कर देती है, और नवभारत की अर्थनीति का यही विशेष लक्षण है। मृतप्राय प्राणी जैसे फटफटाता है, क्षीणप्राय वर्ग या राजसत्ता भी उसी प्रकार बाधाएँ उपस्थित करे तो वह समाज की सम्मिलित शक्ति के सम्मुख अधिक अहिंसात्मक और अधिक गौण होंगी। पहिले तो 'एक म० उ० व्य०' धीरे-धीरे स्वत्वो पर उस हद तक स्वामित्व प्राप्त कर चुकी होती है जहाँ तक कि राज्य (सरकार) को सशक्त होकर कार्य करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता और जब वह अवसर आ ही जाता है तो आघात-प्रतिघात नहीं, आघात और आत्मरक्षण की नीति (क्योकि ए० म० उ० व्य० का अर्थ अशोषणात्मक अर्थात् अहिंसात्मक होता है) पर कार्य होने से हिंसा एकागी और परिणामतः कम कटु और कम विनाशक होती है। एकागी (One sided) होने के कारण वह शीघ्र ही क्षीण हो जाती है। और नवभारत की अर्थनीति का यह सब से प्रबल आधार है।

(ब) अब प्रश्न है अर्थशास्त्र और राजनीति का। कुछ लोगो का कहना है कि गांधीवाद के अनुसार हम अधिकारों को तो विकेन्द्रित कर

---

१ 'ससार' २७-३-४५—अखिल भारतीय चर्खा सघ के तत्वावधान में होनेवाली ट्रस्टियो एव खादी कार्यकर्ताओ की बैठक में कल एक प्रश्न के उत्तर में महात्मा जी ने कहा—रचनात्मक कार्यक्रम रहित स्वराज्य से लाभ न होगा। अगर देश को केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, तो मेरे लिए हिमालय की शरण ही श्रेयस्कर होगी। अगर देश रचनात्मक कार्यक्रम चरम सीमा तक अपनाते तो अंग्रेजो से नाराज होने की नौबत न आयेगी, और न व्यवस्थापक सभाओ की ही कोई जरूरत रहेगी।

देना चाहते हैं परन्तु उद्योगो को वैसे ही विकेन्द्रित नहीं करेंगे। इस प्रकार, यही नहीं कि विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त अपूर्ण रह जाता है, बल्कि यह भी कि उद्योगों के केन्द्रित रहने से अधिकार भी विकेन्द्रित नहीं हो सकते। समस्या इस प्रकार की है कि विकेन्द्रीकरण या तो पूर्ण रूप से अपनाया जा सकता है या बिलकुल नहीं अपनाया जा सकता। जरा गौर से सोचिये। कहा जाता है कि अधिकारो को तो विकेन्द्रित कर दीजिये परन्तु उद्योगों को विकेन्द्रित मत कीजिये। मतलब यह कि उत्पादन का काम केन्द्रित रूप से होना चाहिये। आर्थिक दृष्टि से सामाजिक जीवन के दो ही पहलू होते हैं:—उत्पादन और वितरण। उत्पादन केन्द्रित रूप से होने के कारण सम्पत्ति का वितरण भी तो कुछ लोगो के हाथ मे ही केन्द्रित रहता है। भले ही बँट जाने के पश्चात् धन विकेन्द्रित हो जाये परन्तु स्वयं बाँटने का काम तो केन्द्रित ही है। बाँटने के काम का मतलब ही है अधिकार। फिर अधिकार विकेन्द्रित कहाँ हुए? हो नहीं सकते। धन हो या शक्ति अर्थात् अधिकार—किसी का भी केन्द्रीकरण "अनर्थ" और अनाचार उत्पन्न करता है। दोनो अन्योन्याश्रित हैं। एक को विकेन्द्रित करने के लिए दूसरे को भी विकेन्द्रित करना ही होगा। यह कहना बिलकुल गलत होगा कि अधिकारो के विकेन्द्रीकरण के लिए पंचायत, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, या म्युनिसिपल राज कायम किया जाये और उद्योगों के लिए टाटानगर का निर्माण हो। जमशेदपुर की म्युनिसिपलिटी के भरोसे टाटानगर की सभ्यता की सुरक्षा नहीं हो सकती। उसके लिए दिल्ली की अति संघटित सरकार की आवश्यकता है। अतः शुद्ध अहिंसात्मक समाज की स्थापना के लिए नवभारत की शुद्ध चर्खात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। यही एकमात्र रास्ता है और यह ऐसा रास्ता है जिसमे राजनीतिक कारण अर्थात् वितरण व्यवस्था सन्निहित होने के कारण हिंसा स्वतः क्षीण हो जाती है।

अर्थ और राजनीति—हिंसात्मक पहलू

केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण—व्यवस्थात्मक पारस्पर्य्य

४३. चर्खात्मक व्यवस्था के विरुद्ध एक दलील यह भी दी जाती है कि पहले भी भारत की औद्योगिक और सामाजिक रचना लगभग वैसी ही थी जैसा कि हमने ऊपर कहा है, फिर भी समाज दूषित हुआ, विदेशी दासता और देशी शोषण का शिकार हुआ।

परन्तु हमने जो कुछ ऊपर कहा है उसे ध्यानपूर्वक समझने से साफ हो जायेगा कि हमारी प्राचीन व्यवस्था विकेन्द्रित अवश्य थी परन्तु केन्द्रवादी तत्वो का अभाव भी था। ऊपर कहा गया है कि कुछ उद्योग, कुछ बातें, केन्द्रवादी ढंग से ही चल सकती हैं—जैसे झरिया की निर्यात योग्य कोयले की उपज, टाटानगर की छोटी मशीनें बनानेवाला बडा कारखाना, भारतीय रेल, नहर और सड़को की राष्ट्रीय व्यवस्था, भारत का दूसरे देशो से चलनेवाले व्यापार का शासकीय एवं सामूहिक उत्तर-दायित्व। इनके लिए दिल्ली और लखनऊ मे उसी प्रकार सरकारी एवं व्यवस्थापक केन्द्र होगे जैसे प्रत्येक गाँवों की अपनी स्वतंत्र, स्वावलंबी एवं समर्थ पंचायतें। दोनो के सुसामञ्जस्य से ही कोई परिणामजनक एवं स्थायी रचना संभव हो सकती है।

संक्षेप मे, नवभारत का रचनात्मक दृष्टिकोण, केन्द्रित और विकेन्द्रित के नियोजन से ही सुस्थिर होता है। हमने जिस विकेन्द्रीकरण का विवेचन किया है वह एक स्वतंत्र समाज विज्ञान है जिसमे केन्द्र के आवश्यक अवयवों को निर्देशक एवं व्यवस्थापक स्थान अवश्य प्राप्त है परन्तु उसके शोषक या व्यक्तिविरोधी विस्तार का पूर्णतः अभाव है।

(य) नवभारत का विषयाधार

४४. यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की आवश्यकता है कि नवभारत वाइसराय, गवर्नर, मोटे वेतनवाले मत्री तथा कर्मचारियो अथवा अन्य देशी और विदेशी अमीरो की आय को दरिद्र किसानों की आय में जोड़कर भारत की "औसत आय" (Income per capita) स्थिर करनेवाले गलत और भ्रामक सिद्धान्त का शिकार नहीं हुआ है। १०-५ बन्दरगाह, कारखाने, कम्पनी, बैंक, अथवा कुछ सरकारी कागजात या धारा-सभाओं के भाषणों को उलट-पुलट कर भारत की राष्ट्रीय आय को ढूँढ़ निकालने की वह निष्प्रयोजन चेष्टा नहीं करता। भारतवर्ष के करोड़ों नवनिहाल बच्चे तथा असंख्यों नर-नारी नित्य-निरन्तर शोषणात्मक दुरंगी के पाट मे निर्दयतापूर्वक पीसे जा रहे हैं, लाखों स्त्री-पुरुष दुर्भिक्ष और महामारी से त्रस्त होकर, कुत्ते-बिल्ली के समान, भूखे-नंगे, झुण्ड के झुण्ड, इधर से उधर, फिरते नजर आ रहे हैं—इस भयावह आक्रमणात्मक पक्ष सत्य को घोषित करने के लिए, बिजली के पंखो के नीचे, भव्य कमरों मे बन्द होकर, क्रक्स के कीमती

प्रश्नो द्वारा, अर्थशास्त्रियो के पेचीदे अङ्कगणित या ऑकडो को खोजते रहना नवभारत को अपेक्षित नहीं। वस्तुतः, परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि हमे सम्पूर्ण और सच्चे ऑकडे प्राप्त भी नहीं हो सकते।[1] राजकीय सघटन की सीमितता, सरकारी कर्मचारियो की शोचनीय अविद्या, ऐसी बाधाएँ हैं कि विश्वसनीय और सर्वव्यापक ओकडे एकत्रित भी नहीं किये जा सकते। ऑकडो की अविश्वसनीयता का दोष केवल निम्न कोटि के कर्मचारियो तक ही सीमित नहीं है। यह अविश्वसनीयता सरकार के उन अर्थसदस्यो की प्रमुख विशेषता है, धारासभा मे जिनके प्रस्तावो तथा योजनाओ को लेकर ही आज का हमारा अर्थ विधान तैयार किया जा रहा है। इसका उदाहरण इसी बात से मिलता है कि सिंध सरकार पण्यों के बढ़े हुए मूल्य को प्रान्त के समृद्धिशाली होने का कारण बताती है परन्तु वही बात बगाल मे नर-कङ्काल का कारण बनती है। इतना ही नहीं। काँग्रेस और समाजवादी दल, दोनो देश के लिए मर रहे हैं, परन्तु उसी देश के लिए दोनों दो ऑंकडे और दो योजनाएँ देते हैं। हम किस बात पर, किस धारा पर विश्वास करें? हमारे विश्वास का, हमारी योजना का आधार ही क्या रहा? भारत सरकार के अर्थ सदस्य सर जेरेमी रेसमन कुछ ऑकड़ो के आधार पर, बडे जोर-शोर के साथ, मूल्यो की सुदृढता का चित्र उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं, परन्तु जब हम देखते हैं कि वास्तव मे मूल्यों की चंचलता ने ही समस्त देश को खंडहर और वीरान बना दिया है तो उसके सारे प्रस्ताव और उन प्रस्तावो के आधार-स्वरूप उसके सारे ऑंकडे एक विचित्र मायाजाल से प्रतीत होने लगते हैं।[2] भारत सरकार के सप्लाई सदस्य सर मुदालियर खानो मे कोयले की उत्पत्ति की मात्रा बताते हैं, पर यह किस आधार पर है, इसके लिए उनके

---

1 "There are certain areas which, for a season, are not accessible to the district administrative personnel ..... in other places, it is the ill paid, ill trained and illiterate Chowkidar who does the job of collecting statistics"— Amrit Bazar Patrika, 20-2 45

2 "Sir Jeremy Raisman is satisfied that the general picture is one of comparitive stabilisation, It is, however, poor comfort for the average citizen having regard to the glaring disparity between his earnings (शेष पृष्ठ ५८ पर)

पास कोई आँकड़े ही नहीं।[1] ऐसी दशा मे नवभारत को, अनिवार्यतः, आँकड़ो की अपेक्षा सिद्धान्तो का ही सम्बल ग्रहण करना पड़ता है। आँकणात्मक गणनाओ की अपेक्षा ऐतिहासिक निष्कर्ष तथा सैद्धान्तिक अनुसन्धानो को ही नवभारत ने अपना विषयाधार बनाया है।

आङ्कड़ों का यथार्थ महत्त्व

४५. यथार्थतः, आँकड़ो के सम्बन्ध मे नवभारत का अपना दृष्टिकोण और अपना ही पक्ष है। आखिर आँकड़े हैं क्या ? यही न कि किसी बात या परिस्थिति की 'नाप-जोख' अथवा उनकी "गणित औसत" (Arithmatical Mean)। सबसे पहले तो "औसत" से सम्पूर्ण सत्य का सम्पूर्ण ज्ञान होता ही नहीं। हम कहते हैं कि मध्य प्रदेश की

---

and the general level of prices The Finance Member tells us that although certain classes of population have suffered and continue to suffer, large and very important classes of population are now in receipt of money incomes very much higher than those they previously enjoyed. This is misleading ......the fact is that the population as a whole has been impoverished, its physique undermined and the country's entire economy violently thrown out of a gear "—A. B Patrika, 2-3 45

1. In answer to a question in the Indian Legislative Assembly the Supply Member of Viceroy's Executive Council stated that the coal position was gradually improving, and the employment of women in the mines had much to do with it, Asked to give the figures regarding the alleged increase Sir Mudliar said that the figures are not available, but if women were not employed there would be a drop of 25% in the output of coal One wonders how the Supply Member had arrived at this figure if the figures were not available."—

A. B. Patrika, 24 2. 45.

औसत वार्षिक आय १२) है।[1] इस प्रकार अधिक से अधिक हमने यह समझा कि एक व्यक्ति को वर्ष भर जीवित रहने के लिए केवल १२) उपलब्ध हैं, अर्थात् वहाँ बे-हिसाब गरीबी है। परन्तु इस बारह रुपये का हिसाब हमे मिला कहाँ से ? लाखो की १२) से भी कम आय है और कुछ इने-गिने लोगों को १२) से अधिक, और बहुत अधिक प्राप्त हैं। जब हम सबको मिलाकर औसत निकालते हैं तो हिसाब मे १२) आते हैं। कहने का अभिप्राय हमारी गरीबी की मात्रा उससे कहीं अधिक भयानक है जिसकी कि हमे १२) वाली संख्या बोध कराने का दावा करती है। अतएव, सत्य को समझाने के लिए आँकडो से आगे बढ़कर परिस्थितियो का साक्षात् करना होगा और फिर उन्हे यथोचित रूप से प्रस्तुत करके लोगों को यथार्थ का ज्ञान कराना होगा।[2] गाधी जी ने बहुधा दृष्टान्त देते हुए कहा था कि "नदी की औसत गहराई को लेकर उसे पार करने का चेष्टा करना डूब मरने से कम न होगा और इसीलिए जो आँकडों के विरचित मृगतृष्णा पर भरोसा करे उसे पागल कहना चाहिये।" ऐसी ही अनेक त्रुटियो के अतिरिक्त, आँकड़ो को अनावश्यक महत्त्व देने मे एक सैद्धान्तिक दोष उत्पन्न होने का भी भय है। वर्तमान उत्पादन तथा वितरण क्रम कल-कारखानो की ही उपज है और परिणामतः हमारा समस्त विधान कलमय केन्द्रीयकरण के शोषणात्मक जाल मे उलझा हुआ है, जिसकी परिचायक विशेषता अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन से परिलक्षित होती है, अर्थात् वैयक्तिक स्वच्छन्दता और एकाधिकार के विरोधाभास मे ही उसे एक उद्वेलित विस्तार प्राप्त होता है। परन्तु नवभारत का आर्थिक विधान 'एक मनुष्यात्मक उद्योग व्यवस्था' की नींव पर खड़ा है जिसका ध्येय है स्वसम्पन्नता और जो एक सबल राष्ट्र की प्राथमिक आवश्यकता है। नवभारत वर्तमान

---

1 Industrial Survey Committee Report, Part 1, Vol 1, p 6

2 It is therefore, necessary for a prudent man, who is not concerned with merely providing a preconceived proposition but who is concerned solely with finding the truth, to probe beneath statistics and test independently every proposition induced from them.

—Gandhi ji, Young India, 28 3 20

साम्पत्तिक केन्द्रीकरण का सिद्धान्ततः विरोधी है क्योंकि केन्द्रीयकरण का अर्थ ही है समाज की व्यापक सम्पत्ति को केन्द्रवत् घनीभूत कर देना। वस्तुतः खोखले विस्तार पर बोझल केन्द्रो का अस्तित्व स्थायी रह ही नहीं सकता। अतएव, वर्तमान आँकडो से नवभारत का कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि यह केन्द्रित अर्थनीति के फल हैं जो नवभारत की विकेन्द्रित अर्थनीति के ठीक विरुद्ध है। अतः यदि प्राप्त हो तो, उसे अपने ही समानुकूल आँकडो (नाप-जोख की आवश्यकता होगी। परन्तु यह बात कोई विशेष आशाजनक नहीं है। अतएव, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नवभारत इन आँकडो से, यथाशक्य स्वतन्त्र होकर ही अपनी भित्ति खड़ी करता है। यों यो कि यहाँ आँकडात्मक गणना की अपेक्षा सैद्धान्तिक विवेचन अधिक है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि

प्रत्यक्ष सत्य और निर्जीव तथ्य

नवभारत प्रमुखतः भारत की समस्याओ को समझते और समझाते हुए अपना परिस्थितिभूत प्रस्ताव रखता है, समस्याओ की अंकगणित या आँकडो का लाक्षणिक विवेचन उसका लक्ष्य नहीं है। यही कारण है कि 'प्रत्यक्ष सत्य' (Axiomatic Truth) को स्वीकार कर लेने मे 'उसे आँकडो के समर्थन' का अभाव विचलित नहीं करता। मनुष्य की सजीव आवश्यकताओ को सिद्ध करने के लिए निस्सार बातो (Dead Facts) का आश्रय ढूँढने मे वह उलझता ही नहीं। उसके प्रत्येक प्रस्ताव मानवी समस्याओं और उनकी पारिणामिक आवश्यकताओ के एक व्यापक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत हुए हैं। नवभारत की रूपरेखा सत्यानुभूतियो के आधार पर भावी संभावनाओ को लेते हुए स्थितिभूत हुई है। आँकडो का अस्तित्व भूत और वर्तमान घटनाओ पर अवलम्बित होता है, भविष्य के अवलोकन मे उसका सामर्थ्य अचल विश्वसनीयता का अधिकारी नहीं हो सकता। भविष्य मे परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, नयी घटनाएँ घटित हो सकती हैं और उनके आँकड़े तथा निष्कर्ष भी बदल सकते हैं, अतएव भावी योजनाओ के लिए आज के उपलब्ध आँकडो का महत्त्व गौण भी हो सकता है। परन्तु नवभारत का समस्त आयोजन अधिकतर भविष्य से ही सम्बद्ध है, इसलिए नवभारत ने इन आँकडो को उसी दृष्टि से देखा है।

(२) नवभारत का भौगोलिक अर्थ

४६. मार्क्स का मत है कि मानव जगत् का ढाँचा इसकी आर्थिक

व्यवस्था का ही परिणाम होता है और आर्थिक व्यवस्था को, यथार्थतः, उसके उत्पादन क्रम का उद्भूत रूप समझना चाहिये। इस बात का स्पष्टीकरण मानव समाज की ऐतिहासिक समीक्षा से किया जाता है। कभी ऐसी स्थिति रही होगी कि लोग स्वच्छन्द होकर यहाँ, वहाँ, कहीं भी, आखेट आदि अथवा प्राकृतिक साधनो से ही उदर पोषण तथा जीवना-वश्यकताओ की पूर्ति कर लिया करते थे। स्वभावत. ऐसी अस्थिर और निर्बन्ध दशा मे मनुष्य का सामाजिक स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता। मनुष्य की सामाजिक स्थिति के अभाव मे, इसके राजनीतिक, व्याव-सायिक, सांस्कृतिक—इत्यादि अनेक गुणो को सहज ही समझा जा सकता है। वास्तव मे यदि यहाँ कुछ भी है तो वह केवल पारस्परिक सम्पर्क और संघर्ष मे आनेवालो की रीति-रिवाजो का समुच्चय मात्र ही है। उसी प्रकार एक के उपरान्त दूसरी परिस्थितियो के तारतम्य से, खेती, किसानी और उद्योग-धधो की शृखला बँधी हुई है या यो कि हमारे उत्पादन का आधार और उसका पारिणामिक स्वरूप बदलता रहा है और जब जैसा रहा हमारा सामाजिक ढाँचा भी तदनुरूप बनता गया।

मार्क्स का मत—आर्थिक परिस्थितियाँ सामाजिक ढाँचे की जननी

४७. उपर्युक्त बात, दृष्टितः, अपना अकाट्य अर्थ रखती है, परन्तु इसे मूल कारण मान लेना और इस गौण बात को प्रधान रूप दे देना ही अनर्थ बन जाता है। हमारा अभिप्राय जगत् के भौगोलिक प्राधान्य से है जिसकी प्रेरणा से ही हमारा उत्पादनाधार निश्चित हो पाता है। इस भौगोलिक प्राधान्य का अर्थ केवल इसी एक प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की सभ्यताओ ने उत्तरीय अथवा दक्षिणीय ध्रुव या सहारा की मरुस्थली के बजाय दजला-फरात, सिन्धु, गंगा या नील नद की घाटियो मे ही क्यो जन्म लिया? इस प्रश्न की उत्तरात्मक व्याख्या सिद्ध करती है कि मनुष्य की सामाजिक प्रेरणाएँ भौगोलिक प्राधान्य मे निहित हैं अर्थात् हमारा उत्पादन क्रम हमारी भौगोलिक परिस्थितियो का परिणाम मात्र है। रूप-रेखा मे परिवर्तन होना असम्भव नहीं, परन्तु सैद्धान्तिक आधार तथा क्रियात्मक और प्रेरणात्मक शक्तियो मे अन्तर नहीं होता—वे सदा, सर्वत्र, शाश्वत रूप से कार्य करती रहती हैं। जब

भौगोलिक प्राधान्य

हैं कि रूस अथवा भारतवर्ष कृषिप्रधान देश हैं तो हमारे ...ौगोलिक सत्य को प्रकट करते हैं। भारतवर्ष कृषिप्रधान ...रा रहा है और रहेगा भी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि, यहाँ वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धंधे कला-कारीगरी का अभाव अथवा स्थान गौण रहा है। भारत के उत्पादनाधार मे परिवर्तन हुआ है और होना स्वाभाविक भी है, परन्तु यह अधिकाधिक स्वरूप परिवर्तन ही रहा, न कि तात्विक परिवर्तन। भारत के उद्योग-धंधे, कला-कारीगरी, वाणिज्य और व्यवसाय विश्व विस्मय के कारण बने रहे, परन्तु वह सब कुछ कृषि के आधार पर, उसके सामञ्जस्य और सन्तुलन को लेकर ही प्रस्फुटित हुए थे। नवभारत का समस्त आर्थिक आयोजन इसी मूल तत्त्व से निर्मित हुआ है।

भौतिक प्राचुर्य्य और सांस्कृतिक स्वरूप

४८. ब्रिटिश द्वीपसमूह के जल-वायु तथा वानस्पतिक उपज को ध्यान में रखते हुए जब हम नक्शे में उसकी भौगोलिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे यह समझने मे कष्ट नहीं होता कि अपनी जीवनावश्यकताओ की पूर्ति तथा अपने वृद्धमान अस्तित्व को सुदृढ़ विस्तार देने के लिए साहस तथा कुशल नाविकता उसका जातीय स्वभाव क्योंकर बन गया जिसने उसे समस्त संसार पर आच्छादित होने मे सहायता दी और इन्हीं अन्तर्धाराओ ने उसे नयी तथा पुरानी दुनिया का विनिमय केन्द्र बना दिया। ब्रिटेन को एक सफल व्यापारी जाति बनने मे, उसकी उपज तथा उद्योग-धंधों की विशेपता मे, उसकी भौगोलिक परिस्थितियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। उसीके अनुसार उसके रीति-रिवाज, समाज रचना तथा राजनीति का विकास हुआ है। वर्तमान कलमयता तथा 'औद्योगीकरण' के बावजूद ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, प्रत्येक की सामाजिक बनावट, रीति-नीति तथा राजनीति, अर्थात् समस्त जातीय विशेपता मे महान् अन्तर है; इतना ही नहीं, तुर्की, अरब और भारतवर्ष मे उसी एक इसलाम धर्म का व्यावहारिक स्वरूप विभिन्न प्रकार से प्रकट होता है। यह भौगोलिक प्राधान्य का ही प्रतिफल है कि सीता के सतीत्व का आदर्श भारत के भौतिक प्राचुर्य्य में ही फूला फला जब कि यूनान के सकुचित जीवन मे हेलेन की पति-भक्ति

से आगे बढ़ना उसके लिए कठिन सिद्ध हुआ[1]। देश-देश का अपना चरित्र और स्वभाव, अपनी रीति-नीति, सामूहिक अर्थों में अपनी जातीय विशेषता, इसी भौगोलिक प्राधान्य से निर्मित होती है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ और जातीय स्वभाव

४६. ब्रिटेन और रूस के प्रजावाद मे महान अन्तर है और रहेगा—क्यो ? क्योकि उनकी अपनी-अपनी जातीय विशेषताएँ हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों से ही सचारित होती हैं। जर्मन जनता सदा से ही यूरोप की अग्रसर जाति रही है और गेहूँ तथा अगूर के लहलहाते हुए खेतो मे आनन्दपूर्वक विचरनेवाले फ्रास का जातीय स्वभाव सुख-भोग तथा आत्मरक्षात्मक नीति बन गया है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की रीति-नीति, रग-ढग तथा उत्पादन क्रम मे उसका भौगोलिक प्राधान्य ही क्रियात्मक शक्ति बनता है। समान मशीनाधार होते हुए भी जर्मनी, फ्रास और रूस का उत्पादन क्रम प्रादेशिक विभिन्नता से ही प्रयुक्त होता है। औद्योगीकरण को जिस प्रकार इग्लेंड अपना सकता है, उसका जो रूप और परिणाम इग्लैंड मे होता है, जर्मनी और भारत मे उसी का अङ्गीकरण, रूप और परिणाम उससे भिन्न ही होगा। इस प्रकार इग्लैण्डवाले औद्योगीकरण का भारत की सामाजिक बनावट पर भिन्न प्रभाव पड़ेगा। इग्लैण्ड, जर्मनी, तथा भारत का भेद, इसी भौगोलिक प्राधान्य के अन्तर्गत समझा जा सकता है और मार्क्स की ऐतिहासिक पद्धति का कौतूहल भी इस स्थल पर शिथिल पड जाता है।

५०. इस सिद्धान्त को समुचित रूप से समझने के लिए कहना पड़ता है कि यदि इग्लैण्ड का उत्पादनक्रम स्वाभाविक स्वत्वो के आधार पर

---

१ जोशिया वेजउड ने विभिन्न देशो की उत्तराधिकार परम्परा और कायदे-कानून का विवेचन करते हुए एक स्थान पर इसी मत का प्रकाश किया है—

"The difference in the distribution of the land as between France and England must, therefore, be traced to differences in social characteristics and institutions, other than the laws of successions, and the latter themselves owe their special forms not so much to political accident as much to differences in character and customs"

प्राकृतिक आधार और पारिणामिक अर्थ-व्यवस्था

हो, अर्थात् गुलाम भारत से बलात् तथा कुटिलता पूर्वक प्राप्त किये हुये कच्चे मालपर निर्भर और निर्धारित न हो तो ब्रिटेन मे मॉंचेस्टर या लंङ्काशायर बनने की अपेक्षा भारत मे सूरत, अहमदाबाद या बम्बई की स्थापना से ही खेल समाप्त हो जायगा। ब्रिटिश जहाजरानी, उसका साम्राज्यवाद, लन्दन का विनिमय-बाजार, इन सारी उत्पीड़ाओ से संसार का उद्धार हो जायगा। यूनान या ब्रिटेन मे कृषि के बजाय उद्योगो को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता है, पर वह विदेशो के कच्चे माल और बाजार पर खड़ा होनेवाली आज की सी हिंसात्मक उद्योग व्यवस्था न होगी। वह होगी एक प्रकृतिस्थ स्वावलम्बी और स्वसम्पन्न व्यवस्था, जिसकी पूर्ति मे भारत या चीन का उतना ही स्थान होगा जितना कि इन देशो के प्राकृतिक आधिक्य मे सम्भावना होगा। यह नहीं कि ब्रिटेन के कृत्रिमता पूर्वक चढ़ाये हुए जीवन-मान की अन्तर्पूर्ति के लिए भारतीय उद्योग और उत्पादन को अप्राकृतिक विस्तार दिया जाय या अप्राकृतिक रूप से घनीभूत किया जाय। और नतीजा यह होगा कि इस दुनिया की एक दूसरी ही शक्ल नजर आयेगी। कहने का अभिप्राय, विश्व की आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए उसकी भौगोलिक विशेषता को समझना होगा। नवभारत के सिद्धान्तो की यही विशेषता है कि वह मास्को से गढ़े हुए साँचे को भारत या चीन के कन्धो पर फिट नही करना चाहता। वह केवल शाश्वत सत्यो को सामने रख देता है जिन्हे विभिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न रूप से व्यवहृत किया जा सकता है।

सार्वभौम आर्थिक व्यवस्था—आत्मा और शरीर

५१. यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान मे रखने की यह है कि जिस प्रकार तत्वो मे परिवर्तन नहीं होता, परिवतन उनके रूप मे ही होता है, उसी प्रकार नवभारत के सिद्धान्तो मे परिवर्तन नहीं होता, उनके व्यावहारिक विस्तार मे देशस्थ अन्तर अवश्य हो सकता है। या यो कि शरीर मे अन्तर हो सकता है, आत्मा मे नहीं। इसी बातको और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए कहना होगा कि नवभारत का विकेन्द्रीकरण तो, भारत, रूस, इंग्लैण्ड या अमेरिका—सर्वत्र समान रूप से लागू हो सकता है, परन्तु उसके आकार प्रकार मे अन्तर होगा। भारत मे यह कृषि प्रधान और श्रम प्रधान हो सकता है तो इंग्लैण्ड

मे यह उद्योग और पूँजी प्रधान भी वन सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इंग्लैण्ड के भरण-पोषण के लिए भारत मे अन्न पैदा किया जाय और भारत को वस्त्राकित या आडम्बर-युक्त करने के लिए इंग्लैण्ड मे बड़े-बड़े कारखाने खड़े किये जायँ। जीवन की प्राथमिक अवस्थाओ की पूर्ति मे तो प्रत्येक देश को स्वावलम्बी वनना ही होगा। इंग्लैण्ड अपने लिए पर्याप्त खाद्य पदार्थों का उत्पादन कर लिया करता था। अब भी वही हो सकता है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि इंग्लैण्ड मे औद्योगिक और वह भी 'निःकल' (डिमेकानाइज्ड) प्रवृत्तियो पर जोर दिया जा सकता है जब कि भारत मे कृषि पर।

व्यक्ति की 'निर्धारण शक्ति" और समाज की "सामूहिक अर्थ-व्यवस्था"

५२. यहाँ व्यक्ति की "निर्धारण शक्ति" और समाज की "सामूहिक अर्थ व्यवस्था" के सूक्ष्म भेद को विशेष रूप से ध्यान मे रखने की आवश्यकता है। व्यक्ति परिस्थितियो का क्रीत दास नहीं है। वह जड़ नहीं, चेतन सत्ता है। परिस्थितियो से वह लाभ तो अवश्य लेता है, परन्तु परिस्थितियो का वह निर्माण भी करता है, परिस्थितियो को वाञ्छित दिशा मे प्रवाहित करने की भी उसमे शक्ति और चेतना होती है, परन्तु जब तक वात व्यक्ति के चेतनमय स्वधर्म और स्वभाव के विरुद्ध न हो, व्यक्ति, सामान्यतः, परिस्थितियो की पारस्परिक अन्तर्धारा मे ही बहता रहता है। और इस कुल को मिलाकर समष्टि का एक निश्चित रूप और एक निश्चित धारा वनती है, जिसका हमे सामाजिक सस्कृतियो से वोध होता है, जिसका हम भौगोलिक प्राधान्य से परिचय प्राप्त करते हैं। इस बात पर जरा गौर से विचार कीजिये। गाधी जी की चर्खात्मक योजना मे भारतीयता का प्राकृतिक तत्त्व है परन्तु भारत की विकृत दशा को सुधारने के लिए गाधी जी ने भारत की वर्तमान परिस्थितियो के समक्ष आत्मसमर्पण नहीं किया, बल्कि गलत रास्ते से उसका मुँह मोड़कर सही रास्ते पर लाने की उन्होने व्यवस्था की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति की निर्धारणा भौगोलिक प्राधान्य के साथ-साथ चलती है। गंगा को गगोत्री की ओर नहीं वहाया जा सकता, परन्तु गगा निश्चित मार्गों से ही वगाल की खाड़ी की ओर वहे, इसकी जिम्मेदारी व्यक्ति अवश्य ले सकता है। इससे व्यष्टि, समष्टि और भौगोलिक प्राधान्य का पारस्परिक महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

५३. इस प्रकार यह भी असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इंगलैण्ड, अमेरिका या रूस का आर्थिक विधान भारत को उसी रूप मे कदापि मान्य नहीं हो सकता। हम अपनी भारतीय स्वसम्पन्नता को 'कल'प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन के हवन-कुण्ड मे भस्मीभूत करके कलाधिपतियो का शिकार नहीं बनना चाहते। नवभारत की प्रत्येक योजना इसी भौगोलिक सत्य को लेकर निर्मित होती है। पुनर्निर्माण की सारी योजनाओ (वह भारतीय धनकुबेरो की 'बम्बई योजना' हो, भारत सरकार का राष्ट्रीय नियोजन या समाजवादी प्रस्ताव हो) को इसी एक भौगोलिक सत्य की कसौटी पर कसा जा सकता है।

नवभारत की अर्थ-व्यवस्था—किसी की नकल नहीं

५४. बात को और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए भारत की भौगोलिक विशेषता पर ध्यान देना होगा। पूर्वी गोलार्ध के मध्य में, दक्षिणीय भूतल स्वरूप, भूमध्य रेखा के थोड़े ही ऊपर से लगभग ३५° अक्षाश तक, गगनचुम्बी हिमालय की हिमपूर्ण दीवारों से घिरा हुआ लगभग ६२° पूर्व से १००° पूर्व देशान्तर मे फैला हुआ हमारा भारत देश प्राकृतिक प्राचुर्य्य की एक सुपुष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करता है। गंगा, गोदावरी और ब्रह्मपुत्र की उपजाऊ तलहटियाँ ससार का अन्न भण्डार बनने का दावा करती हैं (इस भौगोलिक स्थिति मे आज अन्तर हो गया है। परन्तु हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप मे बॅट जाने के बावजूद भी भारत के स्वसम्पन्न और स्वावलंबी राष्ट्र बनने के मार्ग मे कोई मौलिक बाधा नहीं उत्पन्न हुई है)। गुजरात, मालवा और बरार आदि की काली मिट्टी, बंगाल, मद्रास तथा पूर्वी और पश्चिमी घाट के समुद्र तट रूई, चावल, जूट और तेलहन इत्यादि का बाहुल्य उपस्थित करने के लिए पर्याप्त हैं। हिमालय, विंध्य, पूर्वी और पश्चिमी घाट, सुन्दरवन, झारखण्ड आदि के वन्य प्रदेश समस्त देश को धन-धान्य से परिपूर्ण रखने के लिए यथेष्ट हैं। अन्न तथा वानस्पतिक उपज के अतिरिक्त देश के खण्ड खण्ड मे भाँति-भाँति के खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते हैं। कोयला, लोहा, सोना, चाँदी, हीरा रत्नादि सभी सुलभ हैं। इस प्रकार भारत की खनिज और वानस्पतिक उपज ने इसे एक स्वसम्पन्न भूपिण्ड की सुषमा प्रदान की है। दक्षिण की प्रचण्ड उष्णता से लेकर हिमालय की हिमाश्रित शीत,

स्थितिभूत तथ्य

थार की भयावह मरुस्थली से लेकर आसाम और बंगाल के जलपूर्ण प्रान्त—सभी वर्तमान हैं। इन सबके साम्य और समुच्चय से ही भारत को विश्व की वसुन्धरा बनने का प्राकृतिक यश प्राप्त हुआ है। उपज तथा जल-वायु के संयोग और संतुलन से जो भौतिक प्राचुर्य्य निर्मित होता है वही हमे एक स्वसम्पन्न विस्तार पर वाध्य करता है और हमारी स्वसम्पन्नता को, अनिवार्यतः, व्यापक भी बना देता है। इसके विपरीत जो भी होगा वह हमारे लिए अभौगोलिक और सर्वथा अप्राकृतिक विधान मात्र रहेगा जो हमारे कधो पर वाहर से लाकर लादे हुए पजर के समान कष्टकर बोझ बना रहेगा। नवभारत का आर्थिक आयोजन ऐसे किसी भी अप्राकृतिक प्रस्ताव के दोष से मुक्त रहने की प्रबल चेष्टा करेगा। उसका दृष्टिकोण, यथाशक्य, उपर्युक्त सैद्धान्तिक आधार तथा भारत की एक स्वाभाविक व्यवस्था को ही लेकर विरचित होता है। इस प्रकार स्थितिभूत तथ्यो की सुव्यवस्था एव सुसञ्चालन से ही नवभारत की योजना गतिमान होती है।

भारतीय जल-वायु की देन : प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य

५५. बहुधा लोगो को ऐसा कहते देखा गया है कि भारतवर्ष के जल-वायु मे शीतोष्ण प्रदेशों के समान उत्कृष्ट स्वास्थ्य के साधन नहीं हैं, अर्थात् यहाँ के लोग वहाँ वालो के समान परिश्रमी नहीं हो सकते। परन्तु अनेक आचार्य्यो ने इस बात को अतिशयोक्ति के रूप मे देखा है।[1] इस अतिशयोक्ति का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्रत्येक काल और प्रत्येक परिस्थिति मे भारत के सैनिको ने विश्व-विजय का श्रेय प्राप्त किया है।[2] भारत का भूखा और नंगा किसान, मुट्ठी भर अन्न और अभावपूर्ण जीवन के बल पर जितना परिश्रम करता है अमेरिका का परितुष्ट किसान भी नहीं कर सकता। वास्तव मे हमारे रोग और दौर्बल्य का कारण हमारी जल-वायु मे नहीं समाप्त हो जाता। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो हमारी जल-वायु ही एक ऐसी

---

1. "Influence of climate must not be exaggerated"—Indian Economics, Jathar & Beri, p 16

२ मौर्य साम्राज्य का सैनिक विस्तार, अथवा लीबिया की मरुभूमि या इटली के मैदान में भारतीय सेनाओ का प्रशसनीय कार्य देखकर हमारे मन को यथेष्ट बल प्राप्त होता है। हमारे सैनिक पराजय की ऐतिहासिक शृखला को समझने के लिए, हमारे शारीरिक दौर्बल्य में नहीं, अन्यत्र खोज करनी होगी।

विभूति है जो हमे स्वसम्पन्न और विकासमान बनने मे साहाय्य प्रदान करती है। श्री कार-सान्डर्स ने एक स्थान पर लिखा है—"जिन प्रदेशो मे प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य होगा, उनकी उपयोगिता की अधिकतम परख होगी और उनका प्रति व्यक्ति मूल्य भी अधिक प्राप्त होगा।" यह बात स्वयंसिद्ध है कि भारत के भौमिक विस्तार और विशेपता तथा उसकी जल-वायु की व्यापकता मे यहाँ वस्तु-पदार्थ का प्राकारिक तथा पारिमाणिक बाहुल्य एक प्राकृतिक देन है।

साधन सम्पन्न होकर भी हम फिसड्डी क्यों है ?

५६. परन्तु प्रश्न तो यह होता है कि इतना सब होते हुए भी हम दीन और दुर्वल क्यो है ? ससार की श्रेष्ठतम सभ्यता के जन्मदाता होकर भी हम आज फिसड्डी जातियो के समान एड़ियाँ क्यो रगड़ रहे हैं ? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि ऐहिक सम्पन्नता के कारण हमारा जीवन निश्चेष्ट और आलस्यपूर्ण हो गया और विदेशियो ने जब हम पर सैनिक और राजनीतिक पराजय का बोझ लाद कर अपनी समाजधारा का हमारे ऊपर प्रयोग किया तो हमारा अपना आधार छिन्न-भिन्न होने लगा और धीरे-धीरे जब १६वीं और २०वीं शताब्दी का कलमय केन्द्रीकरण प्रारम्भ हुआ तो, स्वभावतः, हमारा रहा-सहा ढाँचा भी अस्त-व्यस्त हो गया। हमारे समस्त प्राकृतिक साधन नष्ट-भ्रष्ट हो गये, दुष्काल तथा अन्य प्राकृतिक प्रकोपो के स्वयम्भू प्रतिरोधी साधनो से हम सर्वथा वञ्चित पाये गये, जिसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि १६वी और २०वीं शताब्दी की प्रगति के साथ-साथ हमारे दुष्कालो का रूप उत्तरोत्तर जघन्य ही होता गया है। १६४३ ई० का बंगाली दुर्भिक्ष इतिहास मे अपनी समता नहीं रखता।[1] भारत की वर्तमान महँगाई और दरिद्रता हमारी कल्पना के बाहर

---

१ भारतीय दुर्भिक्ष तथा दारिद्र्य का कारण भारत की वृद्धमान जनसंख्या बतायी जाती है। हम इस कथन को सरासर झूठा प्रचार और धोखादेही कहते है। भारतीय जनसख्या के एक वृद्धमान आँकडे पर जरा ध्यान दीजिये—

सन्	१८६१–१६०१	१६०१–१६११	१६११–१६२१
भारत	२५	१७	१२
ब्रिटेन	१२२	११६	५४

"इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसख्या हमारे लिए कोई प्रश्न नही है" Public Finance & Poverty by J. C Kumarappa, p. 20 वास्तव में हमें जनसख्या के सम्पूर्ण आँकडे प्राप्त भी नही है (शेप पृष्ठ, ६६ पर)

की बात सिद्ध हो रही है। यह सब क्यो ? ठीक उसी प्रकार जैसे जल के प्राणियो को धरती पर या आकाश मे चलनेवालो को पृथ्वी पर निवास करने पर बाध्य किया जाय। कहने का अभिप्राय, जब तक हमारा आर्थिक आयोजन हमारे भौगोलिक प्राधान्य पर निर्धारित नहीं होता, हम व्यापक सम्पन्नता के बजाय एक संकुचित केन्द्रीकरण मे फँस कर नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे और यही है नवभारत का भौगोलिक अर्थ।

अब भारत की भौगोलिक स्थिति और भौमिक बनावट के सम्बन्ध मे भी दो चार शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, भारतवर्ष पूर्वीय गोलार्ध के मध्य मे, संसार के प्रमुख जल मार्गों पर स्थितिभूत हुआ है, इसके पूर्वीय, पश्चिमीय तथा दक्षिणीय—तीनो किनारे समुद्र से घिरे हुए हैं। इस प्रकार इसे, स्वाभावतः, विश्व के व्यापार मे एक अनुपेक्षणीय स्थान प्राप्त हुआ है। अमेरिका, जापान, चीन, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, यूरोप और इंगलैण्ड के सामुद्रिक पथ में बसा हुआ यह एक महत्त्वपूर्ण व्यापारी स्थान रखता है। कहने का

और जो हैं उनका निष्पक्ष तथा निःस्वार्थ दृष्टि से विश्लेषण भी नहीं हुआ है। जो कुछ हुआ भी है उसमें देश के साम्पत्तिक साधनो तथा उसकी वृद्धमान सम्भावनाओं का हिसाब नहीं लगाया गया है। किसी देश में जनाधिक्य उसी समय घोषित किया जा सकता है जब कि देश के भौतिक तथा साम्पत्तिक साधन अपर्याप्त सिद्ध हो चुके हो। वास्तव में जनसंख्या और साम्पत्तिक स्थिति—दोनो सापेक्षित दशाएं हैं। जनाधिक्य का प्रश्न जनसंख्या के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र विषय है, और यहाँ उसका विवेचन असम्भव है, परन्तु इतना तो हम कहेगे ही कि भारतीय दारिद्रय जनाधिक्य के कारण नही, अन्य अनेक कारणो से है। उदाहरणार्थ बंगाल में चावल की उपज को दबाकर जूट पर जोर दिया गया। युद्ध या राजनीतिक कारणो से जब हम बर्मा या पाकिस्तानी चावलो से वंचित हो गये तो वहाँ अन्न का अभाव उपस्थित हो गया। लोग कहने लगे कि बंगाल की जनसंख्या बढ जाने से चावल की कमी हो गयी। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी हैं, जिन पर अन्यत्र विस्तार से विचार किया जायगा। यह समझ लेने के पश्चात् कि भारतीय दुर्दशा जनाधिक्य के कारण नहीं, यह भी जान लेना चाहिये कि जनाधिक्य की सम्भावनाएँ हमारी बढती हुई गरीबी के साथ उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही हैं क्योकि गरीबो का सन्तानोत्पादन अनुपात अमीरो से अधिक होता है (देखिये ब्रिटेन की जनसंख्या पर रजिष्ट्रार जनरल की रिपोर्ट)—

यद्यपि इस विषय पर टिप्पणी द्वारा विचार नहीं हो सकता फिर भी प्रसंगवश कहना ही होगा कि भारत की बढती हुई गरीबी के साथ उसकी जनवृद्धि का उत्तरोत्तर बढता हुआ अनुपात, कम से कम, दारिद्र और जनवृद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करने के लिए उपर्युक्त वाक्यो के सन्दर्भ में, कम तार्किक महत्त्व नहीं रखता।

प्रयोजन, राष्ट्रीय सम्पन्नता के साथ ही वैदेशिक व्यापार की विशेषता का भी इसे समादर प्राप्त है और इस बात को ध्यान मे रखकर अपना आर्थिक आयोजन बनाना ही उपपरोक्त भौगोलिक सत्य को चरितार्थ करना है।

भारत की भौमिक बनावट और वितरण व्यवस्था

५७. इसके पश्चात् जब हम भारत की भौमिक बनावट पर दृष्टि डालते हैं तो यह समझने मे देर नहीं लगती कि सारा देश खण्ड विशेष मे विभक्त होते हुए भी किस प्रकार प्राकृतिक मार्गों द्वारा एक दूसरे से गुंथा हुआ है। इतना ही नही, सीमान्त प्रदेशो से भी उसी प्रकार आवागमन के मार्ग सुलभ हैं। प्रत्येक देश की आर्थिक रूपरेखा उसके उत्पादन के साथ ही उसकी वितरण-व्यवस्था से मिलकर प्रस्तुत होती है। उत्पादन के सम्बन्ध मे अब तक बहुत कहा जा चुका है। फिलहाल इतना और कहना यथेष्ट होगा कि भारतीय जल-वायु मे यूरोप की भाँति, कलमय, केन्द्रित तथा कल-कारखानों द्वारा संगठित और निरन्तर उत्पादन अस्वास्थ्यकर ही नहीं, पूर्णतः फलदायी भी नही होगा। यहाँ की जल-वायु मे लोग पश्चिम के समान ही निरन्तर, विश्रामरहित, परिश्रम कर भी नहीं सकते,[1] जो सफल कलमयी उत्पादन व्यवस्था की एक प्रमुख शर्त है। परिणाम यह होगा कि प्रतिस्पर्धा के धरातल पर भारत पीछे ढकेल दिया जायगा, या उत्पत्ति की उसी मात्रा के लिए इसे दूसरो से अधिक श्रम-बल नष्ट करना होगा, जो अन्त मे, कुल मिलाकर, राष्ट्र के साम्पत्तिक क्षय का कारण सिद्ध होगा।[2] अस्तु, उत्पादन के साथ जहाँ तक वितरण का सम्बन्ध है, भारत की भौगोलिक स्थिति तथा भौमिक बनावट पूर्व कथित उत्पादन क्रम के अनुसार एक अपने ही वितरण व्यवस्था की माँग करती है।

नवभारत केवल वैदेशिक व्यापार के निमित्त किसी भी देश के कृषि या उद्योग का व्यापारीकरण नहीं चाहता, वैदेशिक व्यापार के लिए राष्ट्रीय सम्पन्नता की होली करना नवभारत को अभीष्ट नहीं। वह भारतवर्ष को ब्रिटेन या अमेरिका के कारखानो के लिए कच्चा माल पैदा करनेवाले एक निरीह देश के रूप मे कदापि नहीं देख सकता। इन सब बातों

१ यदि दूसरे देशो के व्यापार को अपने अत्यधिक उत्पादन द्वारा हथियाने का उद्देश्य न हो तो ऐसे परिश्रम की आवश्यकता भी नही होती।

२ देखिये 'श्रम और विश्राम' परिच्छेद।

को ध्यान मे रखकर देखने से वितरण के प्राकृतिक मार्ग तथा साधनो को त्याग कर, रत्ती-रत्ती भूमि को रेल की पटरियो से बाँध देना नवभारत की वितरण व्यवस्था से मेल नहीं खाता। अपने सामुद्रिक तट विस्तार को ब्रिटिश जहाजरानी का एकाधिकार बनाकर स्वयं अपने वैदेशिक व्यापार के प्राकृतिक यशों से वञ्चित हो जाना नवभारत को स्वीकार नहीं, और न यही कि देश को अपनी जीवनावश्यकताओं के लिए सरकारी केन्द्रो, 'राशन शाप' या स्टोरो अथवा पूँजीवादी कारखानो के 'सेल्स डिपो' का मुँहताज बना दिया जाय। प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक गाँव, प्रत्येक परिवार को अपनी उत्पत्ति और उपभोग के लिए साधनयुक्त बनाना ही नवभारत का अन्तिम ध्येय है और यह तब तक सम्भव न होगा जब तक कि उत्पादन के साथ ही तदनुकूल वितरण व्यवस्था न हो।

नवभारत की योजना सार्वभौम सत्य का आधार है

५८. साराश, नवभारत का उत्पादन और वितरण—दोनो एक भौगोलिक अर्थ रखते हैं, जिसे समझे बिना नवभारत की आर्थिक रूपरेखा समझना कठिन होगा। 'नवभारत' भारतवर्ष की सुख-समृद्धि की एक रूपरेखा है, परन्तु, वस्तुत', इसकी सैद्धान्तिक भित्ति मे एक सार्वभौम सत्य की प्राणप्रतिष्ठा हुई है जो भिन्न-भिन्न देशो और परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार धारण कर सकता है, पर जीवन प्रेरणाएँ सबकी एक समान होगी—सत्य, अहिंसा, स्वावलंबन, स्वसम्पन्नता, सहयोग, सामञ्जस्य और विकेन्द्रीकरण।

(ल) नवभारत की प्रस्तुति

'नवभारत' : भारतीय अर्थशास्त्र की विशुद्ध, व्यावहारिक रूपरेखा

५९. नवभारत किसी दल या समुदाय की नीति व्याख्या नहीं है और न तो यही कि वह किसी मत विशेष या वाद का प्रचार है, वास्तव में यह भारतीय अर्थशास्त्र के विशुद्ध और व्यावहारिक स्वरूप की एक सरल और सुबोध रूपरेखा प्रस्तुत करता है जो भारत के पुनर्निमाण का रचनात्मक आधार बन सके। यथाशक्य, यहाँ लाक्षणिक विवेचनो को गौण बना दिया गया है ताकि यह केवल अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों की अपेक्षा सर्वसामान्य की एक अपनी पुस्तक

बन सके। हमारा विचार है कि जब तक सर्वसाधारण अपनी जीवन समस्याओ पर कार्यशील होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर लेते, करोड़ो के बीच कुछ इने-गिने अर्थशास्त्री पैदा कर देने से ही वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता,—सुधार हो सकता है, परन्तु उद्धार नहीं। या यों कि वह कुछ वेतनभोगी विशेषज्ञों या शासको द्वारा वहुतो पर लादा हुआ एक बाह्य ढाँचा होगा, न कि अपनी बनायी और समझी हुई कोई सुनिश्चित योजना।

नवभारत की सैद्धातिक स्थिति

६०, नवभारत को हम, यथार्थतः, भारतीय अर्थशास्त्र की एक व्यावहारिक रूपरेखा ही कहेंगे, जो इस देश के भौगोलिक प्राधान्य के अन्तर्गत हमारे सदियो से पद-दलित और मरणासन्न समाज के पुनर्निर्माण का एक स्थायी और निष्पक्ष आयोजन लेकर सामने आता है। इसी बात को हम यों भी कह सकते हैं कि नवभारत मे अवसरवाद को स्थान नहीं। इसकी योजनाएँ आज कुछ, और कल कुछ हो—ऐसी बात नहीं। नवभारत परिस्थितियो की उपेक्षा नहीं करता, वह युग-युगान्तर तथा देश-काल की परिवर्तनीयता को भी अच्छी तरह समझता है। परन्तु साथ ही साथ वह यह भी समझना है कि यदि कोई सिद्धान्त भारत के भौगोलिक महत्त्व रखता है तो जब तक उसका नैतिक तथा सामाजिक । गलत न सिद्ध कर दिया जाय, उसे निःशङ्क होकर अङ्गीकार करना ही चाहिये। प्रत्येक शोपणात्मक व्यवस्था मे हिंसा और प्रतिहिंसा का भाव भरा होता है जो सामाजिक शान्ति के लिए घातक है। बिना अविचल शान्ति के समाज का शुद्ध विकास असम्भव है[1]। जब तक इस

---

[1] हमारा आज का ससार दो-चार हजार वर्ष पूर्व वाले संसार से अधिक उन्नतिशील है, हम इस मत से पूर्णत सहमत नहीं। हो सकता है कि ससार ने भौतिक साधनो की एक अपार राशि एकत्र कर ली हो परन्तु वह सब आवश्यक और हितकर हैं, ऐसा कहना सर्वथा विवादपूर्ण होगा। यह बात भी ठीक नहीं मालूम होती कि यह सब है तो सुख-सम्पदा और उन्नति के ही साधन पर हमारे अपने दुरुपयोग से ही वे बुरे हो जाते हैं, अर्थात् हमारा प्रत्येक पग उन्नति की ओर ही उठता है। ऐसा दावा करने के लिए सर्व प्रथम हमें अपने प्रत्येक पग की निर्विवाद आवश्यकता को ही सिद्ध करना होगा। इसी के साथ हमें यह भी देखना होगा कि हम आज जहाँ हैं वह स्थान सामूहिक कल्याण की दृष्टि से हमारी विगत स्थिति से अधिक सुखकर और उन्नतिशील हो, जहाँ सामाजिक वैषम्य की उत्पीडाएँ, स्वतंत्रता तथा समानता का अभाव हमें द्रवित नहीं कर पाता। वास्तव में उन्नति तो इसी को कहेंगे, न कि न्यूयार्क और (शेष पृष्ठ ७३ पर)

बात को असैद्धान्तिक नहीं सिद्ध कर दिया जाता, नवभारत अपनी समस्त आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रत्येक स्थिति और परिस्थिति में शुद्ध रूप से अहिंसात्मक ही देखना चाहेगा, या यों कि वह प्रतिकूल परिस्थितियो से समञ्जस्य स्थापित करने के लिए अपनी सैद्धान्तिक स्थिति का कदापि परित्याग नहीं करेगा क्योंकि नवभारत का यह दृढ़ विश्वास है कि जो बात सत्य है वह असम्भव या अव्यवहार्य हो ही नहीं सकती, विरोधों पर उसे विजय प्राप्त होगी, और उसके सुसञ्चालन में ही उन्नति का मूल निहित है[१]। यह कोई ज्ञानियों का उपदेश या महात्माओ की शुभेच्छा मात्र नहीं, सुदृढ़ व्यवस्था तथा स्थायी शान्ति के लिए आवश्यक भी है। सक्षेप मे, नवभारत की सैद्धान्तिक स्थिति एक व्यवहार्य्य स्थायित्व से ही प्रतिपादित हुई है और इसके प्रत्येक प्रस्ताव, यथाशक्य, इसी दृष्टिकोण का पोषण करते हैं।

नवभारत की नीति और प्रणाली

६१. अतएव यह कहना न होगा कि नवभारत अर्थशास्त्र के उन अङ्ग-प्रत्यङ्गो पर विशेष जोर देता है जो राष्ट्र के पुनर्निर्माण मे अपना प्राथमिक महत्त्व रखते हैं। यहाँ उन विषयो को समुचित प्रामुख्य दिया गया है जो एक सम्पन्न समाज के नैसर्गिक अङ्ग सिद्ध हुए हैं। उदाहरणार्थ कर अथवा लगान का विवेचन करते समय यह आवश्यक नहीं समझा गया है कि नाना प्रकार के करो की निष्प्रयोजन

लन्दन, बम्बई या टोकिओ की जगमग ज्योति की झुरमुट में अधिकाश लोगो को दरिद्र जीवन में रखकर कुछ थोडे लोगो को उन्नति का झूठा प्रचार करने को उन्नति कहेंगे। ट्रेवल्यान ने अपने इंग्लैण्ड के सक्षिप्त इतिहास में लिखा है—"The dark ages progressed into the middle ages the barbarism grew into civilization but decidedly not along the path of liberty and equality — ."—p, 33, उसी प्रकार जैसे चोरी और राहजनी, कोकेन या स्त्रियो के व्यापार से एकत्र धन और साधन सभ्यता का सूचक नहीं हो सकता अथवा बडे-बडे केन्द्रो में कला भवन स्थापित करके अखिल समाज को कलाविज्ञ बताना झूठा होगा। सर्वसामान्य के सुखी और सुसंस्कृत हुए बिना हम समाज को विकासमान नही कह सकते। यदि विश्व की इस सारी प्रगति का फल ऐटम बम या कृत्रिम मैथुन के कृत्रिम साधनो में प्रकट हुआ है तो इसे हम उत्थान नही, विश्व का पतन ही कहेंगे।

१ इसी बात को तिलक ने गीता रहस्य में यो व्यक्त किया है—"अहिंसा, सत्य, आदि धर्म कुछ बाह्य उपाधियो अर्थात् सुख-दु ख पर अवलम्बित नहीं हैं। वे सभी काल में और सब अवसरो के लिए एक समान उपयोगी हो सकते हैं।"

खतौनी के पश्चात् भारत के आय-व्यय के आँकड़े तैयार किये जायँ और फिर उनमे कमी-वेशी का लेखा-जोखा तैयार किया जाय। नवभारत, सर्व प्रथम, इनकी नैतिक और सैद्धान्तिक परिभाषा स्थिर करने के पश्चात् निःशङ्क होकर घोपित करता है कि प्रचलित पद्धति मे अमुक दोप या गुण है और परिणामतः हमारे नवनिर्माण मे किन सिद्धान्तो के आधार पर और किस प्रकार कर लगाया जाना चाहिये ताकि सामाजिक सुख-सम्पदा और राजकीय सुव्यवस्था का एक स्थायी विधान सुलभ हो सके। उसी प्रकार आर्थिक वैपम्य पर विचार करते समय वह मजदूरो की औसत आय अथवा पूँजीपतियो के संगृहीत कोप के आँकड़ो मे उलझने की अपेक्षा विपमता के मूल कारणो पर ही उँगली रखते हुए ऐसा प्रस्ताव रखता है कि विपमता उत्पन्न ही न हो, विपम समाज को कृत्रिम साधनो द्वारा सम करने के विवादास्पद उपायो का उल्लेख करना उसको श्रेयस्कर नहीं दीखता।

इस प्रकार नवभारत की नीति निश्चित और प्रणाली स्पष्ट हो जाती है। उसका सारा विवेचन, उसका सारा आयोजन मानव सुख-सम्पदा का एक नैसर्गिक विधान बन जाता है। अतएव यह जोर देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि नवभारत किसी व्यवस्था के स्थान मे अपनी कोई नयी व्यवस्था नहीं प्रचलित करना चाहता और न तो वह कट्टर-पंथियो के समान पुरातनवाद का अस्तित्व अमिट बनाये रखने के ही पक्ष में है। समाज की जो स्वाभाविक अवस्था होनी चाहिये नवभारत उन्हीं के संपोपक अवयवो का विश्लेपण तथा विवेचन करते हुए अपने आयोजन का एक अटल आधार निश्चित करता है ताकि लोग सुगमता और सुरुचिपूर्वक उस पर कार्यशील हो सकें।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पप्ट हो जाती है कि नवभारत समाज के जीवन मे अनावश्यक प्रवाह उत्पन्न करने के लिए कोई अप्राकृतिक प्रस्ताव नहीं रखता। राष्ट्रीय सन्तुलन को ध्यान मे रखते हुए, यदि देश तेलहन की यथेष्ट उपज करता है तो नवभारत बाकू या मैक्सिको की खानो से तेल लाकर भारत का चिराग रोशन करना अर्थ विरुद्ध समझता है। यदि आवश्यक आधिक्य को ध्यान मे रखकर स्वाभाविक तरीको से यथेष्ट उपज कर ली जाती है तो वह उत्पादन को व्यापक के बजाय प्रचण्ड बनाना अहितकर ही नहीं अनर्थ भी समझता है और स्वाभाविक उपायो को छोड़कर उत्पत्ति को घनीभूत करना व्यर्थ समझता है बशर्ते कि देश की शक्ति और साधन फालतू (Extra) वैदेशिक

मॉगो की पूर्ति तथा आयात की स्वयंभू प्रेरणा न करते हों। नवभारत का समस्त उत्पादन तथा वितरण विधान इसी मूल सत्य से प्रतिपादित होता है ।

अब यह समझने मे अधिक उलझन न होगी कि नवभारत के प्रस्तावो का "आयोजित अर्थविधान" या "राष्ट्रीय नियोजन" की प्रचलित धारणाओ से कहॉ तक मेल हो सकता है। अनेक विद्वानो ने रूस मार्का आर्थिक आयोजन का प्रचार प्रारम्भ कर दिया है, पाश्चात्य की चमक-दमक के आगे प्राच्य के मौलिक आयोजन को वह विस्मरण से कर बैठे हैं। यह ठीक है कि, सदियो सहस्रो वर्ष पूर्व का होने के कारण हमारे प्राच्य आयोजन मे आजके संसार के साथ, सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता उपस्थित हो गयी है, परन्तु केवल विगत इतिहास बताकर उन्हे ठुकरा देना गलती होगी। नवभारत का यह पक्ष नहीं कि वर्तमान की उपेक्षा करके भूत का अन्धानुकरण किया जाय। नवभारत केवल वस्तुस्थिति को आपके सम्मुख प्रस्तुत करता है और यदि उसमे सत्य और बल है तो आप चाहे या न चाहे, आपको उसे स्वीकार करना ही होगा।

नवभारत की योजना : धनिकों की सख्या वृद्धि नहीं, सर्व-सामान्य के सुख और सम्पन्नता पर आधृत है

६२. यह ठीक है कि नवभारत भारतवर्ष के आर्थिक समुत्थान को ही लेकर आगे आता है, परन्तु चूँकि वह एक सर्वथा अशोषणात्मक अर्थात् अहिंसात्मक समाज की कल्पना से ही आविर्भूत हुआ है, अतएव वह भारत की साम्पत्तिक उन्नति को धनिको की सख्या वृद्धि से नहीं, सर्वसामान्य के सुखी और सन्तुष्ट जीवन से ही सम्बद्ध करता है। परिणामतः, नवभारत की योजनाएँ उत्पादन की अपेक्षा वितरण, पूँजी की अपेक्षा कर और श्रम, आलम्बन की अपेक्षा स्वावलम्बन पर जोर देते हुए, नवीन और प्राचीन, दोनो पक्ष के सुसाम्य से ही निर्मित हुई हैं और यदि हम इस आधारात्मक भेद को ध्यान मे रख कर नवभारत को समझने की उदारता करेंगे तो मुझे विश्वास है कि इस रचना से यथेष्ट सहायता मिलेगी।

अन्त में, यह स्पष्ट कर देने की जरूरत है कि इस पुस्तक की सारी चेष्टा केवल यही है कि मनुष्य मनुष्य बना रहे, पूर्ण मनुष्य बना रहे, न कि विशेषज्ञो के रूप मे आधा-अधूरा मनुष्य रह जाये और फिर इससे भी अधिक "उन्नति" करके कल-कारखानो के चलते-फिरते पुर्जों के रूप मे समाप्त हो जाये। आज तो मनुष्य का सारा अस्तित्व ही खतरे मे पड़ गया है। इसलिए रँग-विरँगे सिद्धान्तो के संकलन या उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना से पुस्तकें तैयार करने की जरूरत नहीं है; जरूत है सत्य का दिग्दर्शन करने और कराने की। नवभारत इसी आवश्यकता की पूर्ति मे पाठकों को विनम्रता पूर्वक भेंट किया जा रहा है।

द्वितीय खण्ड

नारी

(मनुष्य के सामाजिक उद्भव का आदि कारण)

मानव समूह को समाज का रूप धारण करने में
नारी आदि और प्रेरक कारण तथा सगठन और
विकास के प्रवाह में प्रमुख माध्यम सिद्ध हुई है।

(अ) दम्पति और समाज

१. प्रकृति हमे बताती है कि स्त्री और पुरुष का मूल सम्बन्ध सृष्टि-विस्तार की मूल प्रेरणाओ से ही आबद्ध है, अन्यथा दो भिन्न-भिन्न योनियो के बजाय सभी स्त्री या सभी पुरुष होते। हम यहाँ नारी को केवल मनुष्य की सामाजिक स्थिति के आदि कारण और मानव जीवन की क्रियात्मक शक्ति के रूप मे ही समझने का प्रयास करेंगे।

स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध का प्रेरणात्मक आधार

२. सृष्टि-विस्तार के विचार से प्रत्येक स्त्री के लिए पुरुष और प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री का होना नितान्त आवश्यक है, और यदि स्त्री-पुरुष की रचना का चरम लक्ष्य सृष्टि-विस्तार मान लिया जाय तो किन्हीं दो स्त्री-पुरुषों के सयोग मे शरीर-विज्ञानात्मक (Physiological) तथा कुछ ऐसी ही बातो के अतिरिक्त कोई विशेष विरोध नहीं हो सकता था। परन्तु धीरे-धीरे मनुष्य ने इससे भिन्न रचना की। भाई बहन, मौसी, तथा साढ़ू—इत्यादि वर्गीकरण अथवा अन्य अनेक व्याख्या और प्रतिबन्धों का जाल फैलाकर इसने मानव सम्बन्ध के प्रारंभिक रूप को सर्वथा बदल दिया है। सम्भवतः, यह सब विकास का निश्चित परिणाम माना जा सकता है, परन्तु एक सूक्ष्म विश्लेपण के बिना यह कहना कठिन होगा कि संसार की अग्रसरता का प्रभाव 'स्त्री और पुरुष' पर कैसा पड़ा है—भला या बुरा ?

प्रारम्भिक रूप में परिवर्तन—भला या बुरा

३. हम मानते हैं कि समाज-संगठन, फिर समाज विकास, फिर

विकास के परिणाम मे अधिक परिपक्व संगठन—इसी प्रकार संगठन और विकास का पारिस्परिक चक्र चलता रहता है।

दम्पति—समाज का आदि कारण और आधारभूत अङ्ग है

परन्तु समाजशास्त्र का अध्ययन कोई सरल बात नहीं, और चूँकि दम्पति इसी का आदि कारण और एक आधारभूत अङ्ग है, इसलिए हमारे विषय अनुसन्धान मे भी कठिनाइयाँ मौजूद हैं। फिर भी मैं प्रयत्न करूँगा कि एक सरल और सुबोध रूपरेखा पाठको के सम्मुख प्रस्तुत की जा सके जो हमारी व्यावहारिक अनुभूतियो द्वारा हमे सहज ही ज्ञानगोचर हो सके।

मनुष्य—प्रारम्भिक स्थिति मे

४. दलबद्ध पशुओ मे देखा जाता है कि नर मादा को प्राप्त करने के लिए दूसरे नर से जूझता है। सभ्यता के आदिकाल मे मनुष्य की भी यही दशा होती है। आस्ट्रेलिया की जातियो मे देखा गया है कि परास्त लोगो की स्त्रियाँ स्वतः विजेताओ के साथ चली जाती हैं। मनुस्मृति (७-१६) मे भी इसी भाव की झलक मिलती है। जब तक लोगों का सु-संगठन नहीं हो जाता, कोई स्पष्ट दम्पति-विधान भी सुनिश्चित नहीं हो पाता। इच्छा और काम प्रेरणा तथा उनकी पारिणामिक परिस्थितियों के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष के समागम मे कोई विशेष बात बाधक नहीं होती। श्वेत केतु के पूर्व हमे किसी वैवाहिक परिपाटी का पता नहीं चलता। श्वेतकेतु की माँ को एक ब्राह्मण पकड़ ले चला, परन्तु उनके पिता ने इसमे कोई दोष न देखा। मनुष्य की इसी प्रारम्भिक दशा का उदाहरण देते हुए बैंक्राफ्ट साहब लिखते हैं—"कैलिफोर्निया की नीच श्रेणी मे लोग पशु-पक्षी के समान स्वच्छन्द होकर विषय-सयोग करते हैं।"

दाम्पत्य का विकास अनिवार्य है

५. मानव-विकास के साथ ही दाम्पत्य का भी विकास होता है। परन्तु सीलोन, मालाबार, तिब्बत मे अब भी 'बहु-पति-विधान (Polyandry) तथा अन्य अनेक देशो मे 'बहु-पत्नि' (Polygamy) की प्रथा देख कर हमे, स्वभावतः, शङ्का होती है कि क्या मनुष्य के विकास के साथ ही उसके दाम्पत्य जीवन का भी विकास होता है? परन्तु इसमे तो सन्देह ही नहीं कि समाज का विकास हुए बिना दाम्पत्य का विकास हो ही नहीं सकता और जब तक दाम्पत्य का विकास नहीं

होता सामाजिक विकास मे प्रगति आ ही नहीं सकती। संसार की अग्रिम जातियो मे दाम्पत्य का उत्कृष्ट रूप देख कर केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि त्रुटियाँ भले ही रह गयी हो, परन्तु इसका विकास अवश्य हुआ है।

'स्वच्छन्द सयोग' और उसके दुष्परिणाम

६. मानव-समाज की प्रारम्भिक स्थिति में 'स्वच्छंद संयोग' (Promiscuity) का होना स्वाभाविक है। परन्तु इसका फल? —बच्चो के वाप का पता नहीं, वश स्नेह तथा अन्य बन्धनो का अभाव है। कौन किसका वाप, कौन किसका वच्चा, किसका कौन वंश—पिता पक्ष के अन्धकार मे रहने से किसी का निश्चय नहीं हो पाता। केवल माँ पक्ष के आधार पर वंशावली दूर तक नहीं फैल सकती। परिणाम यही होता है कि मनुष्य की सङ्गठन शक्ति क्षीण हो जाती है। बिना वाप के वपौती प्रथा नहीं चलती और बिना वपौती के सुदृढ़ सरदारी नहीं होती, 'जिसकी लाठी उसकी भैस' का प्रश्न रहता है। इसलिए राजनीतिक स्थिति भी स्थायी नहीं रहती। वडी वात तो यह है कि वच्चो के पालन-पोपण का सारा भार अकेली माँ से सम्हाला नहीं जाता। सन्तान स्वभावतः विनाश के गढ़े मे क्षीण हो जाती है। कहना न होगा कि जहाँ स्त्री-पुरुप का सम्वन्ध सुदृढ़ और सुविकसित दाम्पत्य-विधान से परिपूर्ण तथा अनुशासित नहीं, वह समाज स्थायित्व को प्राप्त हो ही नहीं सकता, न हुआ और न होगा।

गृहस्थाश्रम और सामाजिक विकास

७. इसलिए सम्भवतः माता-पिता अधिक काल तक एक साथ रहने लगे[1] ताकि सन्तान का सुन्दर रीति से पालन-पोपण हो सके। माता सन्तान पर अधिक ध्यान और अधिक समय व्यतीत करके वच्चों को सुदृढ, सुन्दर तथा विद्वान वना सके, इसलिए आवश्यक था कि पिता, कम से कम कुछ समय तक, दोनो की जीवन-सुविधा का प्रबन्ध करे। यहीं से गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ हुआ। वास्तव मे विना

---

१ प्रोफेसर केस्लर का मत है कि सन्तानोत्पादन के लिए प्राणियो का एक साथ रहना आवश्यक प्रतीत हुआ, साथ रहने से वे स्वभावत एक दूसरे की सहायता करने लगे। साथ रहने से उनकी सहयोग भावना दिनोदिन वढती जाती है और धीरे-धीरे वह उनके बौद्धिक विकास का भी कारण वनती है।

गृहस्थाश्रम के सामाजिक विकास असम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि सुन्दर सुदृढ गृहस्थाश्रम मे अधिक से अधिक सुख-शान्ति मिलती है। विकास तथा विजय उसी राष्ट्र को सुलभ है, जहाँ दाम्पत्य विधान (गृहस्थाश्रम) अधिक विकसित है।

८. 'स्वच्छंद सयोग' से वढ़कर जब हम 'वहुपति' विधान पर आते हैं तो हमारे गृहस्थाश्रम का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है।

'वहुपति' विधान

कई पुरुष एक स्त्री को पत्नी वनाकर घर मे रहते हैं, बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। इस प्रकार कुछ अंशो मे पैतृक सूत्र का भी प्रकाश होता है। यहाँ लोगों का झुण्ड छोटे-छोटे दल का रूप धारण करता है। परन्तु जव यही 'वहुपति' पाण्डवों के समान भाई-भाई होते हैं तो गृहस्थाश्रम का एक पग और आगे वढ़ता है। दोनों धाराएँ स्थिर हो जाती हैं। वंशावली का अभाव मिटने-सा लगता है और सन्तान का पालन-पोषण अधिक सुगम हो जाता है।

प्रारम्भिक स्थिति में ज्ञान और विज्ञान की कमी के कारण अथवा अन्य कारणों वश भोजन कठिनाई से मिलता था। पर वहुत काल के उपरान्त भी जव लोगों को यथेष्ट मात्रा में भोजन पाना कठिन वना रहा, तो कुछ लोग लड़कियो को मार डालने लगे[१] क्योंकि लड़के वड़े होकर युद्ध और संघर्ष मे काम देते थे, परन्तु लड़कियाँ व्यर्थ का वोझ समझी जाती थीं। इस प्रकार विवशतः कई लोगो को मिलकर एक ही स्त्री से (वहुपति रूप) सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था। ऐसी दशा मे स्वभावतः सन्तानोत्पत्ति मे कमी होगी और साथ ही वंशावली भी अधिक स्पष्ट, घनिष्ठ या विस्तृत नहीं होती। यहाँ गृहस्थाश्रम 'स्वच्छन्द संयोग' वाली स्थिति से अधिक संघटित अवश्य है पर अधिक विकसित और सौम्य है—सो वात नहीं। सुन्दर गृहस्थाश्रम के विना समाज भी विकसित और सुसभ्य नहीं हो पाता।

९. 'वहुपति' के ठीक विपरीत 'वहुपत्नि' प्रथा है और संसार के

---

१ पर्याप्त भोजन के वावजूद भी जहाँ लडकियो को मार डालने की प्रथा देखी जाती है वहाँ अन्य सामाजिक तथा राजनीतिक कारण हैं, जो इस रचना के वाहर का विषय है।

बहुत से देशों मे प्रचलित है। अमीरो में इसका वडा जोर है। अफ्रीका में अनेक स्त्रियाँ होना सरदार या अमीरो का लक्षण माना जाता है। संघर्षकालीन स्थिति मे इसका प्रावल्य परिस्थिति के अनुकूल प्रतीत होता है क्योंकि युद्ध मे पुरुषो की हानि होने से या परास्त लोगो की स्त्रियों को विजेताओं द्वारा एकत्रित कर लिये जाने से स्त्रियों की अधिकता हो जाती है और एक-एक पुरुष कई-कई स्त्रियाँ रख लेता है। संघर्षप्रिय जातियो में यह प्रथा और भी जोर पकड लेती है ताकि एक पुरुष वहुत से बच्चों का पिता हो सके। सैनिको की इस सन्तान आवश्यकता को पुजारियों ने शास्त्रोक्ति द्वारा पूरा किया और 'वहु-पत्नि' विधान ने सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। समाज मे जब निजी और वैयक्तिक सम्पत्ति की स्थापना हो गयी तो लोगो ने अनुभव किया कि सम्पत्ति का सुरक्षित सञ्चालन और उसका विकास विना पुत्र के नहीं हो सकता। सम्पत्ति, सदैव एक ही वंश मे स्थिर रहे और उसका सञ्चालन सुन्दर ढग से हो, वह दूसरो के हाथ मे पड कर नष्ट न हो जाय,[1] इसलिए पुत्र की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि केवल

'वहुपत्नि' विधान

---

१ समाज में पुरुष का प्राधान्य होने से स्त्री उसी की मानी जाती है, स्त्री प्राप्त करने के साथ पुरुष स्त्री के साम्पत्तिक सूत्रो को भी प्राप्त कर लेता है। अतएव यदि एक विधवा पुनर्विवाह करती है तो सम्पत्ति के चलविचल और पारिवारिक सन्चय के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय उपस्थित हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म ने विधवा विवाह को निषिद्ध घोषित कर दिया था। साम्पत्तिक कारणो के साथ, सन्तान को मातृ स्नेह तथा पालन-पोषण मे वञ्चित न होने देना तथा कौटुम्बिक व्यवस्था को सुदृढ और सुरक्षित बनाये रखने की दृष्टि से स्त्रियो को पुनर्विवाह से वर्जित किया गया था। परन्तु यह नहीं कि विधवा विवाह सम्पूर्णत अमान्य था, भिन्न-भिन्न दशाओ में, विभिन्न प्रतिवन्धों के साथ विधवा विवाह की सम्मति तथा दृष्टान्त बराबर मिलते है जैसे कि पुरुष संसर्ग से सर्वथा मुक्त युवती विधवा (अक्षतयोनि) या जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में उल्लेख है—यदि कोई स्त्री ऐसे पुरुष से विवाह करती है जो उसके स्वामी का सम्बन्धी या सम्पत्ति का अधिकारी नहीं है तो वह दोनो और जो उनके विवाह में सम्मिलित हो, वे सब व्यभिचार सम्बन्धी अपराध के अपराधी समझे जायँ। पहले में सन्तान के अभाव के कारण छूट है तो दूसरे में साम्पत्तिक सुरक्षा पर दृष्टि रखी गयी है।

उपर्युक्त सिद्धान्तो को ध्यान में रखकर ही हमें 'हिन्दू-कोड' पर विचार करना होगा क्योंकि इसमें साम्पत्तिक स्वामित्व और दायित्व की जटिल समस्याएं कौटुम्बिक व्यवस्था की अनेक गुत्थियाँ पैदा हो जाती हैं।

पुत्र के लिए कई विवाह करके भी अनेक लोग पवित्र और मान्य नागरिक बने रहते हैं। इस गद्दीनशीनी की आवश्यकता ने 'बहुपत्नि विधान' को और भी व्यापक बना रखा है। बहुत-सी स्त्रियाँ रखने का कहीं-कहीं यह भी अभिप्राय होता है कि अधिक काम-काज करनेवाली दासियाँ मिल जायँ। एक या अनेक स्त्रियाँ तो अब भी अधिकार, विशेषतः भारत मे, घर का बोझ ढोने के लिए, रोटी-धोती पर जीनेवाली सस्ती मजदूरनी के रूप मे रखी जाती हैं।

'बहुपति' विधान मे और जो कुछ भी हो, कम से कम बाप का स्पष्ट पता तो रहता ही नहीं, 'बहुपत्नि' मे माँ-बाप दोनों का स्पष्ट पता रहता है। माता-पिता का स्पष्ट पता रहने से सन्तान का माता-पिता से तथा स्वयं आपस मे भाई-बहिनो से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। परिणामतः समाज संघटन अधिक दृढ़ हो जाता है। पीढ़ी पर पीढ़ी, निश्चित व स्पष्ट वंशावली की शृंखला बँध जाती है और फिर गृह-स्थाश्रम का सघटित विकास संभव हो सकता है। घर से घरानो की नींव पड़ती है और समाज का विस्तार सुलभ हो जाता है। संघर्ष-कालीन समाज मे जनसख्या क्षीण न होने देने के लिए 'बहु-पत्नि' बड़ी आवश्यक प्रथा मालूम पडती है; नियोग रीति की स्वीकृति का कारण भी, सम्भवतः, यही हो सकता है।

'बहु - पत्नि' और जनसंख्या

'बहुपत्नि' द्वारा बपौती स्थिर हो जाती है, बपौती से सरदारी, सरदारी से राजनीतिक संघटन सुदृढ़ होता है क्योंकि प्रारम्भिक स्थिति मे जब तक लोग जनसत्तात्मक भावो का स्वतंत्र रूप से समुचित सदुपयोग करने के योग्य न हो गये हों, "एकतंत्र" अथवा केन्द्रीय शासन की अत्यन्त आव-श्यकता जान पड़ती है। जब तक समाज धीरे-धीरे विकसित, शान्तिप्रिय और जनसत्तात्मक स्थिति को न पहुँच जाय, तब तक अर्थात् समाज के आदिकाल के लिए सरदारी परम आवश्यक है और सरदारी के लिए 'बहु-पति' से बढ़कर 'बहु-पत्नि' विधान की आवश्यकता होती है। बपौती स्थिर हो जाने से पितृ-भक्ति का उद्भव होता है। फिर बच्चों के बच्चे, उनके बच्चे, पीढ़ी दर पीढ़ी, उसी एक 'पुर्खा' की आराधना की जाती है और, स्वभावतः, बहुत से लोग उसी एक के भक्त होने से अधिक निकट और सङ्गठित हो जाते हैं।

'बहु-पत्नि' और सरदारी

वहु-पत्नि विधान के दोष

१०, परन्तु इतना सब होते हुए भी 'वहुपत्नि' विधान में मानव की उन उच्च भावनाओं का नाश हो जाता है जो दाम्पत्य विकास के लिए परम आवश्यक है। स्त्रियाँ सहधर्मिणी और अर्द्धांगिनी के वजाय भौतिक सुख-साधनों से अधिक नहीं समझी जातीं। यह कहने मे दोष नहीं कि दाम्पत्य सम्वन्ध में एक प्रकार की पशु-वृत्ति का समावेश होता है और परिणाम स्वरूप समाज का समुचित विकास नहीं हो पाता। स्त्रियो की लूट या चोरी, मोल-भाव, लेन-देन, दहेज तथा नाना प्रकार के दोष 'वहुपत्नि' विधान से विशेष सम्वन्ध रखते हैं। सघर्ष काल मे 'वहु-पत्नि' की शरण लेने से वहुत से स्त्री-वच्चो की जानें वच गयीं परन्तु अनेक वुराइयाँ भी साथ लगी रहीं। सौतियाडाह, सौतेले भाइयो का हक, समाज मे कलह और कोलाहल ही नहीं उत्पन्न कर देता वल्कि कौटुम्बिक विस्तार में भी वाधा उत्पन्न होती है जो साम्पत्तिक आयतन को फैलाने की अपेक्षा सकुचित ही अधिक करता है। यह तो कहना ही नहीं कि यहाँ सामाजिक शान्ति के सुदृढ़ और अविचल वने रहने की सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं। राम वनवास, महाभारत युद्ध, शाहजहाँ की कैद—असख्य मे से केवल दो चार दृष्टान्त हैं।

'एक व्रत'

११. परन्तु यही नहीं कि 'स्वच्छद संयोग' प्रथा प्रारम्भिक काल के लिए अनिवार्य थी। जव तक लोग किसी एक स्थान मे एकत्रित होकर दलवद्ध रूप से पशुपालन, खेती या उद्यम नहीं करने लगे थे अर्थात् जव तक लोग अत्यन्त तितर-वितर स्थिति मे आखेट आदि से जीवन निर्वाह करते थे, संभवतः एक स्त्री और एक पुरुष का एक-एक जोडा दुःख-सुख मे सदा साथ वना रहा होगा। यह भी सम्भव है कि एक पुरुष एक स्त्री को पसन्द करके उसे अपने सग लिये फिरे। इसलिए 'स्वच्छद संयोग' 'वहु-पति', 'वहु-पत्नि' के समान ही 'एक पति' और 'एक पत्नि' विधान (Monogamy) का भी प्रारम्भिक सूत्र मिलना यथार्थ है। मध्यकालीन युग मे यही प्रथा भ्रष्ट हो जाने के कारण, आगे चलकर फिर प्रकट हुई। सम्भवतः आर्य लोग इसीलिए आदि से ही 'एक पति' और 'एक पत्नि' का 'एक व्रत' जपते आ रहे हैं।

अव तक के अनुभवो पर हम निःशंक कह सक्ते हैं कि 'एक व्रत'

सर्वोत्तम विधान है। 'स्वच्छंद संयोग' अथवा 'बहु-पति' का तो कहना ही नहीं, 'बहु-पत्नि विधान' मे भी वंश सूत्र इतना घनिष्ठ नहीं होता जितना 'एक व्रत' में। बहुत माताओ के कारण स्वभावतः बच्चो मे कुछ न कुछ विच्छेद भाव रहता है। परन्तु एक माता और एक पिता के बच्चों मे तुलनात्मक दृष्टि से अधिक घनिष्ठता होती है। स्वभावतः, उनमें अधिक आकर्षण, संयोग, सहयोग, सद्भाव होता है। गृहस्थाश्रम सुदृढ़ और सुसंघटित हो जाता है।

'स्वयंवर'

१२. धीरे-धीरे प्रारम्भिक बुराइयो से निकलते हुए जब 'स्वयंवर' पद्धति का उदय होता है तो स्त्री-पुरुष दोनों वास्तविक साथी बनकर जीवन संघर्ष को सुखी, सम्पन्न और प्रेमपूर्ण बनाते हैं। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ शान्ति नहीं। बिना शान्ति के साम्पत्तिक सञ्चय कठिन हो जाता है और मानव का ज्ञान भी परिमार्जित नहीं होता, सद्भावनाओं का विकास नहीं होता। फिर भला सङ्गीत, कला और कौशल का उत्कर्ष कहाँ से हो? 'एक व्रत' में ही मानव का विकास निर्मल रूप धारण करता है। सच्चा दाम्पत्य प्रेम सम्पूर्ण रूप से 'एक व्रत' मे ही सम्भव है।

(ब) नारी और सामाजिक विकास

समाज—क्या है

१३. समाजशास्त्रियो का मत है कि बहुत सी जंगली और असभ्य-जातियाँ, जो बञ्जारो के समान घूमती-फिरती थीं, धीरे-धीरे एक स्थान पर जम कर खेती करने लगीं और अन्त मे सभ्य और संघटित हो गयीं। प्रारम्भिक काल मे मनुष्य की ठीक यही दशा थी। स्त्री-पुरुषो का झुण्ड बिना किसी नियम या संघटन के चलता-फिरता नजर आता था। कोई समाज न था, क्योंकि लोगों का एकत्रित होकर जीवन बिताना ही समाज नहीं कहलाता। जब लोग दुःख-सुख, संघर्ष और शान्ति, सर्वत्र सहयोगपूर्वक सामूहिक सिद्धान्त और यम-नियम के अन्तर्गत कार्य करते हैं तो हम उसे समाज कहते हैं।

१४. "मारती-खाती बद्दू" अवस्था के पश्चात् खेतिहर या व्यावसा-

यिक दशा प्रारम्भ होती है और लोग अधिकाश मे एक स्थान पर स्थित और स्थिर होकर कार्य आरम्भ करते हैं।

समाज कैसे बनता है

लोगो के विशाल समूह से निकल कर एक भूला-भटका झुण्ड, वहुधा एक ही घराना, आकर किसी सुविधानुकल स्थान पर वस जाता है। विशाल समूह से पृथक् होकर स्वतत्र रहने ही का अर्थ है कि स्त्री-बच्चे उसके हैं। बच्चे किसी स्त्री के न कहलाकर पुरुष के नाम से पुकारे जाते हैं। स्त्रियाँ भी उसी पुरुष के सम्बन्ध से जानी जाती हैं। असभ्य या सुसभ्य, मानव समाज इस प्रकार के वहुत से गृहस्थाश्रम रूपी इकाइयो का समुच्चय मात्र है। जिस समाज मे गृहस्थाश्रम का विकास नहीं हुआ वह कदापि सुसस्कृत अवस्था को नहीं पहुँच सकता। एक घराने से दूसरा घराना, फिर तीसरा, इसी प्रकार वहुत से घरानो के मेल से समाज वनता है। उनकी रूढियाँ, उनका दैनिक जीवन, उनके परस्पर व्यवहार धीरे-धीरे समाजिक नियमों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। नियम निर्धारित हो जाने से समाज सघटन का पहला कदम रखा जाता है। ज्यों ज्यों हमारा संघटन वढता जाता है, हमारा ज्ञान और विज्ञान भी वढ़ता जाता है।

१५. यह वता देना आवश्यक है कि प्रारम्भ से ही पुरुष स्त्रियो पर सामूहिक आधिपत्य जमा चुका था। स्त्री कोमल थी, पुरुष मे शारीरिक वल अधिक था, अपने शारीरिक प्रावल्य के कारण पुरुष सैनिक और कठोर कार्य करता रहा परन्तु स्त्रियाँ अपनी नैसर्गिक दुर्वलताओ तथा असुविधाओ के कारण स्वभावतः कोमल और सरल कार्य का ही सम्पादन करती रहीं।

समाज में पुरुष का प्रभुत्व

ऐसी अवस्था मे धीरे-धीरे स्त्रियों का स्थान दूसरे दर्जे पर रह गया। वे आनन्द-प्रमोद और गृह शोभा की सामग्री वन गयीं। उनका अधिकार क्षेत्र घर मे ही सीमित हो गया। परन्तु पुरुष अधिक परिश्रमी होने के कारण समाज मे अधिक प्रभावशाली वन गया। सदा, सर्वत्र कार्य करते रहने के कारण समाज मे पुरुष का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

१६. फिर भी, वात केवल इतने से ही पूरी नहीं होती। जव हम

गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं तो हमे पता चलता है कि स्त्रियों की दासता का श्रीगणेश इनके मासिक धर्म से होता है।

स्त्रियों की दासता का उद्गम और कारण

मासिक धर्म वन्दर, वनमानुष तथा कुछ दूध पिलाने-वाले पशुओं मे भी होता है परन्तु मनुष्य जाति में यह दशा स्पष्ट तथा विकसित अवस्था को पहुँच जाती है। देश, काल, जल-वायु, शारीरिक बनावट तथा स्वास्थ्य इत्यादि के कारण कुछ अन्तर अवश्य होता है परन्तु अधिकांशतः गुण और लक्षण सर्वत्र मिलते-जुलते से पाये जाते हैं। इस दशा का विशेप लक्षण शिथिलता है; अन्य वातें स्वास्थ्य पर ही निर्भर हैं। इस अवसर पर किसी प्रकार की शारीरिक स्फूर्ति का कार्य असुविधाजनक सिद्ध होता है। इस प्रकार वेचारी स्त्री प्रति मास पॉच-सात दिन तक सामाजिक संघर्प से अनुपस्थित रहने लगी। परन्तु पुरुप इस काल मे भी संघर्प करता रहा और स्त्रियों की अनुपस्थिति मे सामाजिक शक्ति को अपने हाथ मे करता गया।

मासिक धर्म

दासता का दूसरा कारण स्त्रियों के गर्भाधान से सम्बद्ध है। विकास की दौड़ मे स्त्रियो के लिए गर्भाधान प्राकृतिक असुविधा का कारण सिद्ध हुआ। हम नित्य देखते हैं कि गर्भावस्था मे स्त्रियाँ अधिक परिश्रम के योग्य नहीं रह जातीं। कुछ समय तक तो वे किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकतीं। आज हमारा जीवन पूर्णतः प्राकृतिक नहीं रहा है; इसलिए गर्भकालीन शिथिलता को लम्बी होने मे वहुत वड़ी प्रेरणा मिली है।

गर्भाधान

यही नहीं; चूँकि वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण हमारी आवश्यकताएँ सरलता से पूरी होने लगीं, इसलिए स्वभावतः हमें जीवन संघर्ष से वचने का भी अवसर मिलने लगा। परिमाण यह हुआ कि हमे कला और क्रीडा की सूझी। फलतः स्त्रियों को शृङ्गार देवी बना कर उन्हे संघर्ष से दूर-दूर रखने की चेष्टा की गयी। इस अवस्था का उचित या अनुचित लाभ उठाकर यदि पुरुष ने सामाजिक शक्ति को अपने हाथ में कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं। धीरे-धीरे हमारी सभ्यता केवल

सभ्यता केवल पुरुषों की मिलकियत रह गयी

पुरुषो की मिलकियत रह गयी, और उसमें स्त्रियो का कोई हाथ ही न रहा।

स्त्री और पुरुष का समझौता

विवाह शास्त्र

१७. स्त्रियो के इस पृथक्करण से भले ही हमारे विकास की गति रुक गयी, परन्तु जो कुछ संघर्ष करके हमने प्राप्त किया वह स्त्रियों के लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना पुरुषों के लिए। इसलिए पुरुषों ने स्त्रियों से समझौता किया—'पुरुष स्त्रियो की रक्षा और आदर करें और स्त्रियाँ पति-व्रत धर्म का पालन करें।' एक ओर आदर्श था मर्यादा पुरुषोत्तम राम का, दूसरी ओर था सती सीता का। परन्तु केवल "पति-लोक" का आदर्श खड़ा कर देना ही यथेष्ट न था। इसमे भी विद्रोह होने का भय था। इसलिए विवाह-शास्त्र की (और भारत मे तो वर्ण विधान की भी) एक जटिल (Complex) रचना करके प्रचलित अवस्था को स्थायी वना दिया गया। विवाह-विधान का विशेष महत्त्व पाति-व्रत धर्म मे ही प्रस्फुटित होता है। आज हम सैकड़ों स्त्रियों का गुणगान करते हैं क्योकि वे पतिव्रता थीं। देवी जोन या लक्ष्मी-बाई को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना सती सीता, सावित्री या हेलेन को। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र इसलिए नहीं प्रसिद्ध हैं कि वे पत्नी-भक्त थे, वरन् इसलिए कि वे वीर और न्याय के भक्त थे। हमारे उस विवाह-शास्त्र मे पुरुषो के लिए भी कड़े वन्धन भले ही थे, परन्तु यह न भूलना चाहिये कि वे सव केवल स्त्रियो के हित-साधन के लिए नहीं, वरन् समस्त समाज व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए थे। दूसरी वात यह भी है कि पुरुषों के अनेक कर्तव्यो मे से पत्नीव्रत भी एक था, जव कि स्त्रियों का सारा क्षेत्र पुरुषों में ही सन्निहित कर दिया गया।

१८. प्रारम्भ मे मनुष्य चाहे वद्दू रहा हो या खेतिहर, विज्ञान के अभाव से जीवन सम्वन्धी सुविधाओं की कमी तो थी ही. इसलिए निरन्तर सघर्ष लगा रहा। संघर्ष के लिए स्त्रियो की दुर्वलता और अयोग्यता के कारण स्वभावतः पुरुषो की वडी आवश्यकता थी, जो समाज-सचालक और सैनिक वन सकें। इसके लिए स्त्रियो की भी आवश्यकता थी जो पुत्र पैदा करें और उनका लालन-पालन करें। पुत्रो की रक्षा और विकास के

लिए सुन्दर गृहस्थाश्रम की आवश्यकता पड़ी। इसी से धीरे-धीरे 'बहु-पति' विधान के स्थान पर 'बहु-पत्नि' विधान का प्रचार बढ़ा। यह बात दूसरी है कि प्रारम्भ मे पुत्रियो का कोई मूल्य न था, परन्तु ज्यो-ज्यो हम शान्तिप्रिय और विकसित अवस्था को प्राप्त करते गये, पुत्र और पुत्री का भेद कम होता गया। सम्भव है, शान्ति के मध्य संघर्ष छिड जाने से लोग फिर उसी पहले के स्तर पर आ जाते रहे हो। परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि सन्तान की ममता मनुष्य को बार बार गृहस्थाश्रम की निश्चल छाया मे पहुँच जाने के लिए लालायित करती रही

सन्तान की ममता और गृहस्थाश्रम

क्योकि जहाँ सन्तान की ममता नहीं वह जाति शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होती है। जहाँ सन्तान की रक्षा नहीं वहाँ जनवृद्धि नहीं, जनवृद्धि बिना लोकशक्ति और मानव विकास कठिन है। अनेक देशो की घटती हुई आबादी ने उनके लिए जनक्षय का बड़ा भय उत्पन्न कर दिया है।

सन्तान की रक्षा और लोकशक्ति

स्त्री-पुरुष का भेद संघर्षकालीन समाज मे उत्कट हो जाता है और 'बहु-पत्नी' विधान की प्रथा चल पड़ती है।' विशेषकर युद्ध के पूर्व जब तक एक दल दूसरे को गुलाम नहीं बना लेता, स्त्रियाँ ही गुलामो का काम देती हैं। पुरुष संघर्ष और युद्ध करता है, स्त्रियाँ खेती, गृहस्थी, बोझा ढोना तथा सैनिको की सहायता करती हैं। परन्तु जब दल के दल लोग परास्त होकर गुलाम बनने लगते हैं तो स्त्रियो की गुलामी बहुत कम हो जाती है। फिर भी स्त्रियो की दशा और श्रम विभाजन मे संघर्षकालीन अन्याय लगा ही रहता है।

१६. समाज में राजनीतिक भेद का यहीं (हमारे गृहस्थाश्रम) से श्रीगणेश होता है। स्त्री और पुरुष गृहस्थाश्रम मे विभिन्न कार्य करते हैं; गृहस्थाश्रमो के समूह से समाज बनता है, इसीलिए समाज मे विभिन्न कार्य करते रहने के कारण स्त्री और पुरुष की अवस्था मे भिन्नता उत्पन्न हो जाती है जिससे हमारी राजनीतिक भेद-भावना का उदय होता है, शासक और शासित।

राजनीतिक भेद का श्रीगणेश—गृहस्थाश्रम से

' आज के युद्धो का अनुभव तो यह है कि 'स्वच्छन्द संयोग' की प्रचण्डता विराजने लगती है। सैनिको के छोडे हुए असंख्य अनाथ हरामी बच्चे और क्षत-विक्षत स्त्रियो का झुण्ड आज राष्ट्रो की समस्या है।

इसी के साथ शारीरिक विभिन्नता का भी श्रीगणेश होता है। निरन्तर कम परिश्रम और कम स्फूर्ति तथा कम सत्पर्ववाले कार्य करते रहने के कारण स्त्रियो का शारीरिक और मानसिक विकास भी कम हुआ, उसी प्रकार जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ से अधिक बलवान और कार्यशील होता है, या जिस प्रकार ब्राह्मण शूद्रो से अधिक चतुर और संस्कृत हुआ करते थे। सहस्त्रो वर्ष यही चक्र चलते रहने के कारण हमारी मनोभावना भी शासक और शासित के साँचे मे ढल गयी।

२०. इसीलिए मानव मात्र के सर्वोदय के लिए गांधी जी ने स्त्री-पुरुषो के कार्यों मे एकाधिकार को मिटा देने की सलाह दी है। गांधी जी कहते हैं कि कोई कार्य किसी के लिए वर्जित या सुरक्षित नहीं है। भले ही कार्यों के कोमल भाग को सम्पन्न करना स्त्रियो के लिए अधिक सुविधाजनक और स्वास्थ्यकर हो, पर पुरुषो के कठोर कार्य को पूरा कर लेने की भी स्त्रियो मे क्षमता और योग्यता होनी ही चाहिये। यही कारण है कि उन्होंने स्त्रियो को कताई के साथ बुनाई मे भी दक्षता प्राप्त करने का आदेश दिया है। उसी प्रकार पुरुषो को भी चक्की चलाने का अभ्यास होना चाहिये। कार्यों का यह भेद-भाव स्त्री पुरुष के बीच ही नहीं, मनुष्य मात्र के बीच दूषित वर्गों की स्थापना करता है। कुछ कार्य कुछ निश्चित लोग करते हैं इसलिए वे हरिजन और अछूत समझे जाते हैं। उन कार्यो को कुछ लोग नहीं करते क्योकि वे ब्राह्मण कहलाते हैं और उनके लिए दूसरे ही प्रकार का कर्मकाण्ड रचा गया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगो के लिए कार्यो का भिन्न-भिन्न कर्मकाण्ड रच देने से भिन्न-भिन्न वर्गों की स्थापना होती है और सारा समाज सम्प्रदायो या फिरको मे बँट कर हिंसात्मक संघर्ष का शिकार हो जाता है। इसीलिए गांधी जी कहते हैं कि इतना ही नहीं कि हरिजनों को कोई कार्य करने की मनाही न हो, बल्कि यह भी कि जिन कार्यों को निकृष्ट समझकर हरिजनों से कराया जाता है उन्हें अपने को ब्राह्मण समझने-वालो को पूरा करने मे दोष, बाधा, या लज्जा न होनी चाहिये। परिणामतः टट्टी साफ करना ही नहीं, वर्धा के चर्मालय मे ब्राह्मण कहे जानेवाले लोग भी कार्य करते हैं। इसके बिना यही नहीं कि सामाजिक गढ-बन्दी का

सर्वोदय दृष्टि

कार्यों के भेद से वर्ग-भेद

अन्त नहीं होगा, बल्कि, वर्णविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना भी नहीं हो सकती ।

२१. यह स्पष्ट है कि गाधी जी की योजना केवल भारत या हिन्दू समाज के लिए ही नहीं है । यह समस्त विश्व की एक जीवन-योजना है ।

सर्वोदय समाज में कार्यों का भेद

इसीलिए यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण या शूद्रों को ही ध्यान मे नहीं रखा गया है । यहाँ मनुष्य मनुष्य का सम्पूर्ण भेद समाप्त कर देने की योजना प्रस्तुत की गयी है । सर्वोदय मे विश्वास करनेवाले प्रोफेसर और अध्यापक को पुस्तकें पढ़ने और पढ़ाने तथा पाठशालाओं के व्यूह चक्र मे बैठकर शिक्षण और अध्यापन कार्य से ही पूर्णता नहीं प्राप्त होती, उसे कताई, बुनाई, धुनाई, गोपालन, कृषि तथा सामाजिक सेवा के अन्य अनेक कार्यों मे व्यावहारिक एवं सक्रिय रूप से भाग लेना होता है । व्यवहारो पर यह आग्रह केवल उसी समय तक है जब तक कि गाधी जी की नयी तालीम द्वारा उद्योगमय और उद्योगजन्य ज्ञान के आधार पर एक सम्पूर्ण सर्वोदय समाज की स्थापना नहीं कर दी जाती । सर्वोदय समाज मे बौद्धिक एवं शारीरिक कार्यों का भी भेद नहीं रह जाता । यहाँ ब्राह्मण और शूद्र का ही नहीं, प्रोफेसर और मजदूर का भी भेद मिट जाता है । उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के सचर्षात्मक और सञ्चयात्मक स्वाभाविक भेदो को सुरक्षित रखते हुए भी यहाँ उनके एकाधिकारो की अभेद्य गढ़ियाँ नहीं खडी होने दी जातीं । अतः दोनों के कार्यों मे भेद होते हुए भी दोनो का एक दूसरे के कार्यों से व्यावहारिक सम्बन्ध होना चाहिये ।

२२. खैर, भिन्न-भिन्न देशों के दाम्पत्य विधान मे विभिन्नता अवश्य होती है, परन्तु उसकी क्रियात्मक शक्ति, साधारणतः, सर्वत्र एक सी ही

स्त्री - पुरुष की असमानता से हानि

रहती है और परिणामतः स्त्री-पुरुष की पारस्परिक योग्यता और अयोग्यता के अनुसार श्रम और सामाजिक भेद स्थिर होता है । जेम्स नेविल का कहना है—"यदि आज से ४००० वर्ष पूर्व स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध आज ही जैसा रहा होता तो हमारा इतिहास अधिक प्रिय हुआ होता।" इसका यही अर्थ है कि मनुष्य का विकास उचित गति से न हो सका, जैसे दो भाइयों मे से एक के बीमार हो जाने के कारण व्यापार की उन्नति मारी जाती है ।

२३. दम्पति की प्रत्येक अवस्था मे, प्रत्येक काल, प्रत्येक देश और प्रत्येक धर्म मे, दो स्पष्ट पद्धतियाँ पायी जाती हैं : 'अपिण्ड-अगोत्र' या 'सपिण्ड-सगोत्र' (Exogamy or Endogamy)

दाम्पत्य के दो मुख्य रूप

२४. यह तो सर्वमान्य बात है कि प्रारम्भ मे प्रत्येक जाति किसी न किसी कारण से आपस मे निरन्तर युद्ध किया करती थीं। अब भी बहुत से स्थान हैं, जहाँ एक सम्प्रदाय या जाति या गॉव वाले दूसरे पर सामूहिक आक्रमण करते देखे जाते हैं। विजयी दल लूटमार के साथ पशु और स्त्रियो को भी ले जाता है।[1] सरहदी प्रदेश और पश्चिमी पंजाब मे ऐसे किस्से रोज सुनने मे आते हैं। ऐसी ही संघर्षकालीन परिस्थिति मे 'अपिण्ड-अगोत्र' की पद्धति प्रचलित हुई थी। धीरे-धीरे परास्त लोगो की स्त्रियो को छीन ले जाना सफलता का चिह्न गिना जाने लगा। अपिण्ड-अगोत्र अर्थात् दूसरी जाति और सम्प्रदाय की स्त्रियो को पत्नी बनाने की यह दूसरी सामूहिक प्रेरणा थी।

'अपिण्ड-अगोत्र' प्रथा

हम देखते हैं कि पुरुषो की कठोरता या बर्बरता अथवा अपनी स्वाभाविक लज्जा के कारण स्त्रियाँ पुरुषों से छिपना या भागना चाहती हैं। पुरुषो को इसलिए स्त्रियो पर आक्रमण करने का और भी प्रलोभन होता है। यह सारी छीन-झपट दूसरी जाति पर ही की जाती थी, ताकि आपस मे गृहयुद्ध और फूट न उत्पन्न न हो जाय। धीरे-धीरे इस प्रथा ने सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर ली। जब हम संघर्षकाल को समाप्त करके शान्तिप्रिय, सामाजिक स्थिति मे आ गये या जब अपने शासक प्रभुओ (क्षत्रिय तथा सैनिक) को प्रसन्न रखने के लिए अन्य जातिवालो ने भी इस प्रथा को प्रचलित रखना चाहा तो अनेक रूप से दूसरे सम्प्रदाय की स्त्रियों को पत्नी बनाया गया। सम्भव है, दूसरी जाति की स्त्रियों को पत्नी बनाने मे किसी अंश तक गौरव समझा जाता रहा हो, जैसे कैकेयी को कैकेय देश की नारी बनाकर या कृष्ण की बहन सुभद्रा को यादवो की कन्या कहकर, या द्रौपदी को द्रुपद पुत्री बताने से दशरथ और अर्जुन ने

---

१. इस वर्तमान युग में भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की नारकीय लीलाएँ इसी बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

गौरव समझा था। कुछ भी हो, क्षत्रियों ने जब अपिण्ड-अगोत्र प्रथा को अपनाया तो पण्डित पुजारियो ने इस पर धार्मिक मुहर लगाकर इसे सामाजिक जामा पहना दिया। यह न भूलना चाहिये कि अपिण्ड-अगोत्र विवाह के कारण सुन्दर, सुदृढ़, विकसित सन्तान होती है, परन्तु आदि-कालीन जातियो ने इसे वैज्ञानिक प्रेरणावश ही अपनाया था, यह नहीं कहा जा सकता।

'सपिण्ड-सगोत्र'

२५. दाम्पत्यशास्त्र का दूसरा रूप है: सपिण्ड-सगोत्र। जिस जाति मे सपिण्ड-सगोत्र प्रथा की चलन है वह निस्सन्देह व्यवसायी और शान्ति-प्रिय रही होगी। या तो वह कभी युद्ध और संघर्ष में पड़ी ही नहीं या बहुत काल से गृहशान्ति तथा पास-पड़ोसियो के साथ सुलहपूर्वक रहती आयी होगी क्योंकि दूसरी जाति की स्त्री लेना या तो युद्ध का लक्षण है, या कलह उत्पन्न करने का कारण है जो शान्तिप्रिय लोगों को स्वीकार नहीं।

एक साथ दोनों प्रथाएँ

२६. बहुत सी जातियो मे अपिण्ड-अगोत्र और सपिण्ड-सगोत्र दोनों प्रथाएँ प्रचलित हैं क्योकि विजय-पराजय उनका जीवनक्रम रहा है। सैकड़ों सहस्रों वर्ष के इस जीवनक्रम से एक ही जाति मे दोनों रीतियाँ परम्परा का रूप धारण कर लेती हैं।

अपिण्ड-अगोत्र रूप भेद

२७. अपिण्ड-अगोत्र के दो रूप होते हैं—बाह्य और आन्तरिक। संघर्षकालीन दशा को त्यागकर जब हम स्थिर व शान्तिप्रिय स्थिति में पदार्पण करते हैं तो विदेशी स्त्रियों को पत्नी बनाने का प्रयत्न युद्ध और संघर्ष का कारण बनता है जो विकास के लिए हानिकारक है और शान्त स्थिति मे आने के पूर्व ही अपिण्ड-अगोत्र प्रथा सामाजिक नियम बन चुकी है तो विवश होकर इसमे थोड़ा बहुत परिवर्तन करके इसे आन्तरिक रूप देना पड़ता है जैसे एक गोत्र के लोग उसी गोत्र मे शादी न करके दूसरे गोत्र वालों से सम्बन्ध करते हैं।

अपिण्ड-अगोत्र के कुछ समर्थक कहते हैं परोक्ष मे अधिक प्रीति होती है।[1] इतरवर्गीय योग मे वैयक्तिक आकर्षण के अतिरिक्त अन्य आकर्षण भी हैं जो नित्य साथ रहनेवालों में नहीं होते। साथ ही Eugenics

---

१ स्वामीदयानन्द सत्यार्थप्रकाश

का भी ध्यान रखना होगा जिसके अनुमार दो के गुण सवर्ण से तीसरा गुण प्रकट होता है और विकास मे सहायता मिलती है।

दाम्पत्य-चक्र और विकास

२८. इस प्रकार दाम्पत्यचक्र मानव समाज को एक निश्चित गति से, एक निश्चित साँचे में ढाल देता है।

(स) श्रम विभाजन और गार्हस्थ्य

इतिहासो से पता चलता है कि लोग अनेक काल तक युद्ध, सघर्ष और भूलने-भटकने के पश्चात् भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थायी रूप से बस जाते थे। गार्हस्थ्य जीवन और फिर सामाजिक संघटन का यहीं से श्रीगणेश हुआ।

दाम्पत्य विधान—आर्थिक कारण

२९. अस्तु, संघटन और विकास मे पुरुप ने बढ कर प्रथम स्थान लिया तो यह प्रकृति की एक सरल सी वात थी। स्त्रियो का झुण्ड का झुण्ड युद्ध में जीत कर गुलाम बना लिया गया तो इसमे पुरुषो ने उनकी सामूहिक दुर्वलता का ही लाभ उठाया था। परन्तु वात तो यह है कि स्त्रियों के विना सृष्टि ही नहीं, फिर समाज कहाँ? सघर्ष-कालीन उथल-पुथल से निकल कर स्थिर और शान्तिप्रिय जीवन में प्रवेश करते ही स्त्रियों का निर्वन्ध "आयात-निर्यात" वन्द नहीं तो कम अवश्य हो गया और साथ ही साथ पुरुप गुलामो की भी बाढ मारी गयी। फिर तो जीवन सघर्प और सञ्चय, उत्पादन और सञ्चालन में "विवाहित" स्त्रियो का ही सहारा मुख्य रहा। इस सहयोग व्यवस्था को अटल-अविच्छिन्न रूप देने के लिए शारीरिक वल नहीं, मानसिक बन्धन की आवश्यकता थी। "नारी धर्म" और "पति-लोक" की प्रेरणा इसी

सती और सद्गृहस्थ

आवश्यकता के अन्तर्गत हुई थी। कहने का अभि-प्राय यह कि स्त्री और पुरुप की परस्परता के पीछे स्थायी सुख, शान्ति और समृद्धि की अनंत कामना ही मनुष्य के सारे ऐहिक जीवन का प्रेरणा सूत्र रहा है। जरा गौर से देखिये :—

(अ) एक किसान प्रातःकाल से खेत मे परिश्रम करते-करते थक

कर, भूख और पसीने में डूबा हुआ, दोपहर को थोड़ा सा विश्राम करने के लिए, खेत के किनारे ही एक पेड़ के नीचे आ बैठा है। थोड़ी दूर पर, जलती हुई धूप मे, वृक्षहीन मार्ग से, प्रातः ४ बजे से अब तक लगातार, हजारों गृहकार्य निपटा कर, एक स्त्री सिर पर रोटी और मट्ठा और हाथ में पानी का लोटा लिये झपटती चली आ रही है। साक्षात् होते ही दोनों ने मुसकरा दिया—इस कठोर परिश्रम और कड़ी धूप मे भी ! पुरुष ने जो कुछ रूखा सूखा था, भोजन किया और घर की दो चार बातें कीं, फिर शारीरिक और मानसिक तुष्टि के साथ वह काम मे लगा और स्त्री लौट पड़ी, घर की गाड़ी हाँकने के लिए, बच्चों की व्यवस्था और सन्ध्या समय परिश्रान्त पति को भोजन और विश्राम का साधन प्रदान करने के लिए। यह सती और सद्गृहस्थ का आदर्श है, प्रेम और श्रद्धा का एक मनोहर दृश्य है। यदि स्त्री घर के आर्थिक और सामाजिक तत्वों से विमुख हो, यदि वह अपने व्यस्त पति को भोजन न पहुँचा सके, विश्राम और शान्ति का उपाय न सोच सके, तो खेती और व्यापार सब बन्द हो जायें, जीवन का सारा तार ही टूट जाये और सती तथा सद्गृहस्थ की कोई महिमा ही न रहे। यदि कृषि ट्रैक्टरो से नहीं,[१] हलो से ही करनी है तो स्त्री और पुरुष के बीच ऐसा सहयोग और कार्य सामञ्जस्य आवश्यक प्रतीत होता है।

(ब) एक व्यापारी आज महीनों पर घर लौटा है। घर पहुँच कर वह देखता है उसके बच्चे स्वस्थ और स्वच्छ, प्रसन्न मन खेल रहे हैं। उसकी अनुपस्थितियों में भी सारी गृहस्थी निश्चित ढङ्ग से चल रही है, उसकी सामाजिक मर्यादा सुस्थिर है, जो कुछ वह पिछली बार छोड़ गया था, सब सुरक्षित है। जीवन संघर्ष से बच कर विश्राम और शान्ति का साधन है, स्वस्थ शरीर और मन से नव शक्ति के साथ फिर जीवन-संघर्ष मे जा लगने की प्रेरणा है। यह सब उसी 'विवाहिता' नारी के कारण है जिसे 'गृह लक्ष्मी' कहा जाता है।

सती और सद्गृहस्थ, गृह लक्ष्मी और गृह देव के इन्हीं आदर्शों से एक सुदृढ़ समाज की रचना हुई थी जहाँ मनुष्य के जीवन व्यापार की

---

१ ट्रैक्टर और हलो का विवेचन कलयन्त्र एवं चर्खात्मक उद्योग व्यवस्था का विषय है जिस पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति और आर्थिक संघटन के प्रबल साधन थे। यह सत्य है कि मनुष्य को केवल आर्थिक कारणों से ही जीवन प्रेरणा नहीं प्राप्त होती, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि दो-चार या अनेन के परिमित और काल-बद्ध स्वार्थ के आयतन से बढ़कर जब हम समाज के सामूहिक और अनन्तकालीन संघटन की व्यापक परिधि मे प्रवेश करते हैं तो वहाँ हमें आर्थिक मसाले का बहुत बड़ा पुट मिलता है। और अब, हमारे नित्य निरंतर के नैमित्तिक व्यवहार ने काल-कालान्तर से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, सैकड़ो, हजारो वर्ष तक चलते रहने के कारण मानव-मनस्थिति और पूर्व-संस्कारो का रूप धारण कर लिया है।

अनन्तकालीन व्यवहार: पूर्व संस्कार

हमारा प्रस्तुत विषय बड़ा गम्भीर है, इसमें समाजशास्त्र और मानव के जीवन व्यापार की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं। यह एक स्वतंत्र विषय है। यहाँ हम केवल आधारभूत बातों के उल्लेख से ही बस करेंगे।

३०. जीवन-पदार्थों की छीन-झपट के लिए एक दल का दूसरे से युद्ध हो या प्रकृति के अनन्त भण्डार से ढूँढ़ लाने के लिए संघर्ष अथवा सहयोग हो, जब तक द्वन्द्वात्मक कटुता से दूर, एक स्थान या प्रदेश मे, भ्रामरी दशा (Wandering stage) को तजकर स्थिर और स्थायी जीवन की व्यवस्था नहीं हुई,[1] गृहस्थाश्रम, नारी धर्म या गृह-लक्ष्मी—कुछ भी सम्भव नहीं था। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि गङ्गा की तलहटी मे बसने के पूर्व आर्य जाति ने स्त्रियो का मूल्य न समझा था, परन्तु यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि उनका वह आदर-सम्मान सामाजिक नहीं, वैयक्तिक था जहाँ नित्य निरन्तर संघर्ष मे भूलने-भटकने, मरने-मिटने वाले दो साथी एक दूसरे का मूल्य समझ कर आदर और प्रेम करते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध मे व्यस्त रोमन और क्षत्रिय जातियो का एक अपना सुसंगठित समाज था। पर यह ध्यान मे रखने की बात है कि इस युद्धकालीन अवस्था के पहले इन

समाज संघटन के लिए शांतिकालीन स्थिति की आवश्यकता।

---

१ मनुष्य प्रारम्भ से ही समूहो मे, उच्चतम श्रेणी के दूध देनेवाले जानवरो की भाँति जातियों में विभक्त होकर रहता हुआ मिलता है। अत्यन्त मन्द और दीर्घकालीन विकास के पश्चात् ही इन समूहो को वंशागत संघटन का रूप मिल सकना सम्भव था। इसी तरह प्रकारान्तर से बहु-नारीत्व अथवा एक-नारीत्व के आधार पर बने कुटुम्ब के प्रथम बीज प्रकट होने के पूर्व वंशागत संगठन के लिए भी बहुत लम्बे विकास काल मे से होकर गुजरना आवश्यक था।

जातियों का समाज संगठन हो चुका था और साथ ही समाज का बहुत बड़ा अंश खेती और व्यापार मे व्यस्त था, सामाजिक तन्तुओ को कार्य-शील रख रहा था। यहाँ लड़ना, मरना या रक्षा-कार्य उसी प्रकार सामाजिक अंग बन गया था जैसे ब्राह्मण का विद्या दान या जुलाहो का कपड़ा बुनकर लोगो को वस्त्रयुक्त करना।

सामाजिक विकास के लिए विकसित गार्हस्थ्य आवश्यक

३१. हम यहाँ समाज के उस आदि कालीन युग से प्रारम्भ कर रहे हैं जब पुरुष तलवार और तीर के 'करतब' मे व्यस्त थे और स्त्रियाँ पुरुषों के लिए गर्भाधान, शिशु-पालन और जीवन जाल सम्हालती रहीं। उस समय कोई आर्थिक या व्यावसायिक संगठन दुष्कर था। आवश्यक समय, सुविधा और वातावरण को पाकर लोग स्थान-स्थान पर आबाद हुए और उन्हे सम्मिलित जीवन के लिए एक जटिल विधान करना पड़ा। स्त्रियों के सिर से संघर्षकालीन अनुचित बोझ और असंयत परिश्रम तो हटा, परन्तु स्थिर जीवन के साथ ही समाज के सम्मुख कार्य-विभाजन और उसके कुशल सम्पादन की नयी पेचीदगियाँ भी उपस्थित हो गयीं; यहाँ मिल-जुलकर कार्य करना और उसका संगठित संचय उससे भी अधिक आवश्यक था। यही नहीं कि पुरुषो ने जाति और समाज की आवश्यकताओ के अनुसार अपना-अपना कार्य बाँट लिया—जुलाहा, खेतिहर और कारीगर, बल्कि उससे भी पहले यह आवश्यक हुआ कि स्त्री और पुरुष भी अपना-अपना पारस्परिक कार्य क्षेत्र स्थापित कर लें। स्त्री और पुरुष से गृहस्थाश्रम, गृहस्थाश्रमो के समीकरण से समाज और फिर राष्ट्र निर्मित होता है। गृहस्थाश्रम के सुसंगठन का अर्थ था सामाजिक उत्थान और यह सर्वसिद्ध बात है कि संसार की अग्रसर जातियाँ गार्हस्थ्य विकास का दावा रखती हैं।

स्त्री-पुरुष का पारस्परिक श्रम विभाग

३२. अस्तु, संगठन और विकास की आवश्यकताओ से स्त्री-पुरुष का निम्न प्रकार से पारस्परिक श्रम-विभाजन (Division of Labour) हुआ :—प्राथमिक (Primary) और द्वितीय अथवा निम्न (Secondary)। प्राथमिक विभाजन[1] समाज की पूर्ति के लिए था, जैसे अन्न के लिए खेती किसानी, वस्त्र के लिए चर्खा इत्यादि।

---

१ प्राथमिक विभाजन को 'कार्य-विभाजन' (Division of work) और द्वितीय विभाजन को श्रम-विभाजन भी कहा जाता है। परन्तु हम प्राथमिक को भी श्रम-विभाजन के (शेष पृष्ठ ९९ पर)

परन्तु समाज के प्रत्येक कार्य को स्त्री और पुरुष को ही मिलकर करना था। इसके लिए लोगों ने अपने-अपने प्रबन्ध किये, या यो कि स्त्री और पुरुष का पारस्परिक "श्रम समझौता" हुआ। इसे हम द्वितीय की गणना मे ले सकते हैं।

प्राथमिक और द्वितीय कोटि में घपला

३३. संघर्षकालीन अवस्था मे न तो "प्राथमिक" का विकास और प्रसार हो पाता है और न "द्वितीय" की व्यवस्था और उसका माहात्म्य स्थापित हो सकता। दोनो की विभाजक रेखा का रूप भी स्पष्ट नहीं हो पाता। युद्ध और संघर्षकालीन अवस्था मे स्त्री-पुरुष के कार्यों के बीच बड़ी लम्बी खाई होती है, पुरुष अधिकांश मार-काट और छीन-झपट मे लगा रहता है और शेष सारा कार्य स्त्रियो को पूरा करना पड़ता है—रोटी पकाने, जनन और शिशु-पालन से लेकर बोझ ढोने और युद्ध मे सहायता देने तक। परन्तु यहाँ न तो प्राथमिक और द्वितीय का कोई सैद्धान्तिक निर्णय और संगठन हुआ है और न तो कोई सामाजिक मान। हो सकता है लोग इस प्रकार वर्षों वही कार्य करते-करते अपने कार्य मे दक्ष हो जाते हैं और जब हम शान्तिमय जीवन मे आकर समाज का निर्माण और संगठन करते हैं तो हमारे मजे हुए कार्य—जैसे पुरुषों की चौकीदारी और गल्लावानी या स्त्रियो का रोटी पकाना—प्राथमिक और द्वितीय का रूप धारण कर लेते हैं।

समाज के श्रम विभाग का बीजारोपण स्त्री-पुरुष के स्वभाव-भेद में होता है

परन्तु समाज के श्रम-विभाजन का बीजारोपण स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक भेद मे ही हुआ था। युद्ध और संघर्षकाल मे भले ही इसका अनादर कर दिया जाय, भले ही स्त्रियों पर अनुचित भार लाद दिया जाय, परन्तु शान्तिपूर्ण जीवन में समाज संगठन की आवश्यकता होते ही उनका स्वाभाविक भेद अपना रूप प्रकट करता है। फिर स्त्री और पुरुष श्रम-

---

अन्तर्गत ले रहे हैं क्योंकि यह न तो सम्पूर्णत कार्य-विभाजन है और न श्रम विभाजन—इनमें यदि श्रम-विभाजन प्रमुख नहीं तो कम से कम, कार्य और श्रम दोनो की स्पष्ट प्रेरणा है। उदाहरण के लिए कृषि एक कार्य है, परन्तु सम्पूर्ण किसानी एक ही वर्ग पूरा नहीं करता—श्रम-विभाजन की दृष्टि से किसान के उप-वर्ग बन जाते हैं जैसे अन्न और साग-भाजी तथा फलादि उत्पन्न करने वाले भिन्न-भिन्न वर्ग लुहार और बढ़ई का उप-भेद अथवा जुलाहे के वस्त्र उत्पादन कार्य में उसे समस्त समाज द्वारा स्वत्व प्राप्त होता है।

विभाजन मे आवश्यकता, स्वभाव, और परिस्थितियो के अनुसार अपना-अपना स्थान वना लेते हैं।

३४. दोप वहीं से उत्पन्न होता है जव स्त्री और पुरुप अपने-अपने काम को केवल अपना ही काम समझने लगते हैं, सारे घर का नहीं। वच्चे भूखों मरें, पर पुरुप रोटी पकाना या चक्की चलाना लज्जा समझता है क्योकि उन्हे वह स्त्रियो का अग्राह्य काम समझ वैठा है। सामाजिक जीवन ज्यो-ज्यो असलियत से दूर होता जाता है त्यो-त्यो यह अवस्था जटिल होती जाती है। आदिम वासियो को देखने से पता चलता है कि वहाँ पुरुप वहुत से काम कर लेता है जिसे आज के सभ्य समाज मे स्त्रैण समझा जाता है। मतलव यह नहीं कि हमे आदिम अवस्था की ओर लौटना है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि कार्यों का जव तक सम्मिलित उत्तरदायित्व स्थापित नहीं होता स्त्री-पुरुप का वर्ग-भेद मिट नही सकता। स्मरण रहे स्त्री-पुरुप के कार्यों मे स्वाभाविक भेद तो है पर उनका सम्मिलित उत्तरदायित्व भी है क्योकि दोनो समाज के अविभाज्य अङ्ग हैं।

दोषों का प्रारम्भ

स्त्री-पुरुप के वर्ग-भेद को मिटाने के लिए कार्यो का सम्मिलित उत्तर-दायित्व आवश्यक

कार्यों के इस प्रकार पृथक् रहने पर भी उनके सम्मिलित उत्तरदायित्व का उदाहरण आज के मंत्रिमण्डलो के सदस्यों से मिलेगा। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग का अलग और विशेपज्ञ-रूप से कार्य करता है परन्तु प्रत्येक मन्त्री पर सम्पूर्ण सरकार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व रहता है। उत्तरदायित्व ही नहीं, व्यवहार मे भी यही होता है। पं० जवाहरलाल नेहरु वाह्य विभाग मे दक्ष समझे जाते हैं, सरदार पटेल गृह विभाग मे। परन्तु आवश्यकता पडने पर दोनो एक दूसरे का कार्य करते हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रियो के कार्यो मे भी आवश्यकता पड़ने पर अदल-वदल होती रहती है। अध्यापक विद्यालय मे शिक्षण और घर मे आराम से अध्ययन करता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने रोज साफ होने वाले कपड़ो को स्वय न धो ले या वाजार से धूप मे जाकर घर के सामान न खरीदे। मेहनत-मशक्कत मजदूरो का और कुर्सी पर मौज से वैठकर पढ़ना-पढ़ाना प्रोफेसर का काम है—यह विलकुल गलत वात है, उसी प्रकार जैसे वच्चो को पालना-

पोसना स्त्रियों का काम होते हुए भी बच्चों के पालन से अनभिज्ञ न रहकर उसमें सक्रिय भाग लेते रहना या जरूरत से उन्हें पाल लेना—यह सब पुरुषों की कार्यशीलता और कार्यक्षमता में दाखिल होता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के कार्य में सक्रिय भाग नहीं लेती हैं तो जरूरत पर उन कार्यों को सँभाल लेने की क्षमता भी नहीं रख सकतीं। 'जरूरत पर कर लेंगे'—यह भाव उन कामों को दैनिक व्यवहार से अलग रखकर उनके प्रति धीरे-धीरे स्वभाव सिद्ध अरुचि और अनुत्तरदायित्व की भावना को जन्म देता है। इसलिए स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के कार्य में व्यावहारिक भाग लेते रहना ही श्रेयस्कर है।

प्राथमिक और द्वितीय विभाग का अन्योन्याश्रय

२५. खैर, प्राथमिक आवश्यकताओं को देखकर ही द्वितीय विभाजन का विधान होता है परन्तु यहीं यह भी ध्यान में रखने की बात है कि द्वितीय के विकास और सुसङ्गठन से प्रभावित होकर प्राथमिक का विस्तार एक निश्चित गति और एक व्यवस्थित ढंग से प्रभावित होने लगता है।

यहाँ पहुँच कर श्रम-विभाजन में उत्पादक दृष्टिकोण का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। परिणामतः, एक का कार्य दूसरे पर लाद देने अथवा एक की अनिच्छा होते हुए भी उसे दूसरे को पूरा करना होगा—ऐसा प्रश्न नहीं रह जाता। यहाँ तो एक दूसरे से मिल-जुल कर, एक दूसरे के कार्य में हाथ बँटाते हुए, सच्चे सहयोग से कार्य करना पड़ता है। इसलिए प्राथमिक कार्यों का पारस्परिक भेद तो रह जाता है—जैसे

प्राथमिक और द्वितीय का सान्निध्य

मछुए का लुहार से, जुलाहे का सुनार से और बढ़ई का किसान से—परन्तु प्राथमिक और द्वितीय में वह उग्र भिन्नता नहीं रह जाती जो युद्धकाल में थी क्योंकि पुरुष यदि पानी में रातों-रात खड़े होकर मछलियाँ पकड़ता है तो स्त्री झट पहुँचकर उसे बीनती बटोरती या पकाने अथवा बेंचने का प्रबन्ध करती है। इसी प्रकार जुलाहे के कार्य में उसकी स्त्री कातने से लेकर ताने-बाने तक उसके साथ लगी रहती है। जुताई-बुआई और फसल काटकर खलिहान से घर में सुरक्षित रखने तक, किसान और उसकी स्त्री, दोनों साथ लगे हैं।

२६. यद्यपि कलयुग ने हमारे श्रम विभाजन की प्राकृतिक भित्ति

को बिलकुल हिला दिया है (इस पर फिर विचार होगा) परन्तु उसका स्वाभाविक आधार अब भी ज्यो का त्यो है। देखिये, पुरुष हुंकार कर फावड़ा चला रहा है तो स्त्रियाँ मिट्टी ढोती हैं; पुरुष ऊपर दीवार चुन रहा है तो स्त्रियाँ नीचे से सामान पहुँचा रही हैं; पुरुष 'ब्वायलर' पर है तो स्त्रियाँ स्टोर मे कार्य कर रही हैं; पुरुष सगीन की मार और हवाई संहार मे हैं तो स्त्रियाँ स्टोर, अस्पताल और 'सप्लाई' मे व्यस्त हैं।

कलयुग का प्रभाव

मुख्य बात यह है कि अब समाज की सम्पदा मे स्त्री-पुरुष दो अलग-अलग जातियाँ नहीं, स्त्री और पुरुष के सम्मिलित हाथ लगे हुए हैं। यह स्त्री और पुरुष नहीं, अनेक घरो का समूह है। यहाँ आकर गृहस्थाश्रम ने श्रम-विभाजन द्वारा अपना सामाजिक माहात्म्य प्रकट किया।

यहाँ से समाज का उत्पादक श्रम और उसमे गृहस्थाश्रम का रचनात्मक अंश तथा दोनों की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ का विवेचनात्मक क्रम प्रारम्भ होता है।

(द) गार्हस्थ्य और सम्पत्ति

३७. दल-बादल, एक स्थान से दूसरे स्थान को चलायमान अवस्था, आदिकालीन जीवन और प्रकृति से संघर्ष, या युद्ध तथा अशान्ति की अव्यवस्थित दशा हो, मानव समूह के उस अस्थिर जीवन मे लोगों के सम्मुख उत्पादक श्रम या सम्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। पेट भरने, तन ढकने या अन्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए लोग कार्य कर लेते हैं, परिश्रम और उपाय भी। युद्ध के कैदी हो या गुलाम लोगो की स्त्रियाँ—उन्हे गुलाम के रूप मे स्वीकार करके जीवन आवश्यकताओ की पूर्ति करवाते रहना, स्वतः समय, सुविधा और आवश्यकतानुसार युद्ध और संघर्ष से बचे हुए समय और शक्ति को इच्छा या अनिच्छा वश, स्त्री और पुरुष गुलामो के साथ कार्य मे लगाना या गुलामहीन संघर्ष मे स्वतः तथा अपनी जीवन सगिनी के साथ कार्य करते रहना—यह सब एक बात है। यहाँ कोई संगठित विधान नहीं, कोई निश्चित व्यवस्था नहीं। परन्तु जब हम किसी स्थान को स्वार्थ-साधक समझकर या अपने ज्ञान और परिश्रम के भरोसे उसे स्वार्थ साधक बनाने के विचार से बस जाते हैं तो हमारी डाँवाडाल दशा स्थायित्व ग्रहण करती है। हमारे प्रत्येक कार्य

स्थायित्व की दृष्टि से ही प्रतिपादित होते हैं। जहाँ हम बसे हैं वह धरती, जिसे हमने बनाया वह मिलकियत, हमारी है और हमारी ही बनी रहे, उस पर दूसरे का अधिकार न हो—इसका मतलब स्वतन्त्र कुटुम्बों की स्थापना है।[1]

स्वतन्त्र कुटुम्ब

जिस छीन-झपट को तजकर हम एक स्थान पर आ बँधे हैं, उस छीन-झपट से बचते रहना ही हमें शान्तिप्रिय प्रतीत होता है, हम धरती के मालिक हैं, मिलकियत हमारी है, हम जोतेंगे, बोयेंगे, खायेंगे, कमायेंगे, हम, हमारे बच्चे, फिर उन बच्चों के बच्चे, खाते-कमाते जायेंगे और सर्वस्व सदा हमारा ही बना रहेगा—मिलकियत की यही ममता हमारे स्थायित्व को प्रगाढ बना देती है। स्थायित्व का अर्थ है शान्तिप्रियता अर्थात् सुदृढ गार्हस्थ्य। एक बार शान्तिमय जीवन मे पदार्पण करते ही हम चाहने लगते हैं कि हमारी नित्य, नैमित्तिक आवश्यकताएँ एक तार से पूरी होती रहे, जीवन निश्चित, निर्विघ्न रूप से चलता रहे, समाज हो, सामाजिक जीवन हो, परस्पर सहयोग द्वारा शक्ति और बुद्धि पूर्वक विकसित जीवन को प्राप्त हुआ जाय, परन्तु एक दूसरे के जीवन मे, एक दूसरा हस्तक्षेप न करे, अर्थात् सामाजिक जीवन के बीच प्रत्येक व्यक्ति सुख और शान्ति पूर्वक जीवन का आनन्द लेते हुए विकास पथ मे अग्रसर हो सके—सुख की इस आकांक्षा और शान्ति रक्षा के इस उपकर्म का अर्थ है गार्हस्थ्य सञ्चालन। गार्हस्थ्य संचालन अर्थात् अविचल शान्ति के लिए सघटन और व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

२८. सङ्गठित व्यवस्था का सूत्राधार कार्य-विभाजन मे छिपा हुआ है। कार्य-विभाजन के दो रूप हैं—

(अ) प्राथमिक, जिसे उद्यमस्थ (फङ्क्शनलः Functional) कहना चाहिये। सामूहिक सुख-शान्ति के लिए अन्न, वस्त्र, घर इत्यादिक का निश्चित साधन आवश्यक है। एक मनुष्य अकेले सारा कार्य पूरा कर नहीं लेता। समाज के सम्मिलित जीवन के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की आवश्यकता होती है; कोई खेती किसानी तो कोई लुहार, बढई, जुलाहा,

प्राथमिक—उद्यमस्थ

---

१ "स्वतन्त्र कुटुम्बों का अर्थ ही यह है कि उनकी पृथक सम्पत्ति हो और उनके लिए धन-दौलत का सग्रह किया जाय"—पृष्ठ १६३, "स्वतन्त्र कुटुम्बों का धीरे-धीरे दृढतापूर्वक विकास हुआ और सम्पत्ति पर वश, परम्परागत अधिकार स्थापित हुए"। पृ० १७१

—प्रिन्स क्रॉपॉट्किन (सघर्ष या सहयोग)

शान, मोची या धोबी का कार्य करने लगता है। एक-एक कार्य को लेकर लोगो का अलग-अलग एक-एक दल खडा हो जाता है। इसीलिए हम प्राथमिक विभाजन को उद्यमस्थ भी कह सकते हैं।

द्वितीय—आकारात्मक

(ब) परन्तु समस्या इतनी सरल नहीं। प्रत्येक उद्यम को उत्पादक रूप देने के लिए उप-विभाजन करना पड़ता है। इसे हम द्वितीय विभाजन के रूप मे स्वीकार करेंगे। अन्न के लिए किसान और वस्त्र के लिए जुलाहो का अपना-अपना दल बन जाने से ही बात पूरी नहीं हो जाती। दल या कार्य-विभाजन के सफल सम्पादन के लिए, प्रमुखतः, उद्यमस्थ आधार उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वय एक आकारात्मक (स्ट्रक्चरलः Structural) भेद का होना। 'उद्यमस्थ' को हम प्राथमिक गणना मे लें तो 'आकारात्मक' भेद का 'द्वितीय विभाजन' से ही परिचय प्राप्त करना होगा। कहने का तात्पर्य्य, शान्तिमय जीवन और उत्पादक श्रम के साथ सुख और समृद्धि की प्रेरणा से मानव समाज कार्य और श्रम विभाजन की शरण लेता है जो देश-काल के भेद से प्राथमिक और द्वितीय के तार मे बँधा हुआ आचार, विचार, व्यवहार, व्यापार तथा वैधानिक परिपाटी के रूप मे परिणत हो जाता है।

साम्पत्तिक निर्माण के लिए श्रम और कार्य-विभाजन आवश्यक

३६. यहाँ तक जो हुआ अधिकांश परिस्थिति और आवश्यकता वश ही था या यो कहना चाहिये कि हमारे सामाजिक जीवन का इतिहास प्रारम्भिक कार्य और श्रम-विभाजन का ही प्रतिकृत तथा परिवर्तित रूप है। बिना श्रम-विभाजन के पञ्चायती या सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक सम्पत्ति भी नगण्य सी रहती है। एक जुलाहा कपडा तैयार करता है जिससे समाज या समूह की वस्त्र समस्या सिद्ध होती है ; यदि किसान कपास न पैदा करे तो बेचारे जुलाहे को करघे के साथ खेती भी संभालना पडे और उत्पत्ति का अंश बहुत ही कम हो जाय। बस, यहीं कार्य और श्रम-विभाजन का महत्त्व स्थापित होता है। जुलाहे और किसान ने अलग-अलग कार्य क्षेत्र बाँट लिया है; दोनो के विभाजित श्रम और पारस्परिक सहयोग से वही एक कार्य समस्त समाज को सुखी और समृद्ध बनाता है जो अकेले एक के द्वारा इस आधिक्य को न प्राप्त होता।

४०. इस कार्य विभाजन का दूसरा कदम है श्रम-विभाजन। जुलाहे ने अपना कार्य क्षेत्र बाँट लिया है, उसके उत्तरदायित्व को भी अपने ऊपर ले लिया है। अब उसे योग्यता पूर्वक पूरा करने के लिए वह नजर उठाता है तो सदा उसके साथ रहने वाली उसकी जीवन-संगिनी उसके सहयोग में तत्पर मिलती है। स्त्री और पुरुष, दोनो का जीवन और सुख-दुख एक साथ है; स्वभावतः उनका श्रम और विश्राम भी मिल-जुल कर एक दूसरे की स्वार्थ रक्षा करते हुए चलता है। जुलाहा समाज को वस्त्र युक्त करने के लिए करघा सम्हालता है और उसकी स्त्री स्वयं उसी को सुखी, स्वस्थ, और कार्यशील बनाये रखने का साधन करती है। इतना ही नहीं; वह जुलाहे के लिए सूत की नरियाँ भी भर देती है; सुविधानुसार ताने-बाने मे भी हाथ बँटा देती है। इस प्रकार दोनो के सम्मिलित श्रम और कार्य से समाज की वस्त्र समस्या सहज ही कुशलता पूर्वक हल की जाती है। यदि जुलाहे को कर्घा और चूल्हा, दोनो सम्हालना पड़े या उसकी स्त्री को जनन और शिशु-पालन के साथ ही रोटी के लिए भी संघर्ष करना पडे तो यही नहीं कि उनके उत्पादन का साम्पत्तिक परिमाण परिमित हो जायगा, बल्कि उनकी स्वयं अपनी सुख और शान्ति भी खतरे मे पड सकती है। इसीलिए आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष, दोनो एक दूसरे मे रत होकर, कार्य और श्रम सिद्धातो की प्राकृतिक प्रेरणाओ के अनुसार, सहयोग पूर्वक कार्य करें ताकि वैयक्तिक और पारिवारिक सुख-समृद्धि के साथ ही सामूहिक और सामाजिक यंत्र-तंत्र भी चलता रहे।

कार्य विभाजन का दूसरा कदम श्रम-विभाजन

४१. इस नैमित्तिक सहयोग का अर्थ है गार्हस्थ्य बन्धन, या यों कहना चाहिये कि शान्तिमय जीवन अर्थात् सुव्यवस्थित गार्हस्थ्य के लिए उत्पादक श्रम की आवश्यकता से मजबूर होकर कार्य और श्रम-विभाजन करना पडता है। श्रम-विभाजन की वैयक्तिक नीति और उसके नैतिक उत्तरदायित्व से प्रेरित होकर समाज में सुन्दर, सुदृढ, गृहस्थाश्रम की नींव पडती है। यह है श्रम-विभाजन का महत्त्व; सम्पत्ति का उद्भव यहीं से प्रारम्भ होता है। समय का जितना ही सदुपयोग, शक्ति का जितना ही सम्मिलित प्रयोग होगा, वस्तु पदार्थ को उतनी ही तेजी से सुखद सम्पत्ति का रूप मिलेगा।

सुव्यवस्थित गार्हस्थ्य: उत्पादक श्रम: कार्य और श्रम विभाजन

४२. इतना लिखने के बाद यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि वैयक्तिक सम्पत्ति का सामूहिक रूप ही सामाजिक और राष्ट्रीय नाम से सम्बोधित होता है। उसके विकास मे प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और सहयोग का एक विशेष अंश है। यह न भूलना चाहिये कि साम्पत्तिक उत्पत्ति के लिए उत्पादक श्रम पहली शर्त है (उत्पादक और अनुत्पादक का आर्थिक विवेचन श्रम-सिद्धान्त का एक स्वतंत्र विषय है), इतना ही नहीं, उत्पादक श्रम से ही मानव समाज का अस्तित्व सुस्थिर और सुव्यवस्थित होता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति का सामूहिक रूप : राष्ट्रीय सम्पत्ति : सामाजिक सम्पत्ति

४३. साम्पत्तिक दृष्टि से श्रम और सहयोग का सम्बन्ध जहाँ तक अन्योन्याश्रित है प्रत्येक प्राणी के लिए परिस्थिति और वातावरण का एक विशेष महत्त्व है। यदि हम एक चतुर कलाकार को शस्त्रागार मे कुछ करने को कहें तो बेकार है क्योंकि वहाँ के उसके कार्य से हमारा साम्पत्तिक कोष बढ़ता नहीं। उसी प्रकार प्राचीन ब्रह्मचारी या आधुनिक विद्यार्थी विद्याध्ययन के सिवा स्वयं कोई उत्पादक श्रम नही करता जिससे कोई साम्पत्तिक उत्पत्ति हो सके। वह अभी साधनो की प्राप्ति में व्यस्त है जिसके द्वारा शायद आगे चलकर वह कोई उत्पादक कार्य कर सके। इसलिए यदि उत्पत्ति और उपयुक्त वातावरण का कोई सम्बन्ध है तो उत्पादक श्रम के लिए गृहस्थाश्रम को उपादेय मानना ही पड़ेगा। वैयक्तिक रूप से गृहस्थाश्रम का श्रीगणेश उसी समय होता है जब मनुष्य दाम्पत्य जीवन द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रत्यक्ष भार अपने ऊपर ले लेता है। परन्तु गृहस्थाश्रम की परिधि बडी व्यापक है। पति और पत्नी, पिता और पुत्र, भाई-बहन, माँ-बेटे, उसी गृहस्थाश्रम की छाया मे, एक दूसरे से बँधे हुए, सब सम्मिलित श्रम द्वारा उत्पादन कार्य मे व्यस्त हैं। हमारे प्राचीन गार्हस्थ्य की बेल इसी विधान से हरी-भरी रहती थी जिसे वर्तमान यन्त्र-युग ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। यही कारण है कि चारो ओर समाजवाद, साम्यवाद, समूहवाद या राष्ट्रवाद के प्रतिकूल 'भोजनागार मे भूख' के उत्पीड़क रोग से लोग मृतप्राय हो उठे हैं।

श्रम और सहयोग के साम्पत्तिक अन्योन्याश्रय मे परिस्थिति और वातावरण की विशेषता

४४. वास्तव मे, समाज की सुख-सम्पदा की कोई भी व्यवस्था,-वाद, या विधान हो, जब तक सुन्दर और सुसघटित गृहस्थाश्रम को इकाई मान कर भवन निर्माण नहीं किया जाता, लोगो के स्थायी कल्याण का विधान हो ही नहीं सकता।

गृहस्थाश्रम, सामूहिक सुख - सम्पदा की अनिवार्य इकाई

४५. हमने अब तक यह समझने की चेष्टा की है कि, यन्त्रयुग के प्रभाव के पूर्व तक, गृहस्थाश्रम और साम्पत्तिक उत्पत्ति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है, परन्तु अब मशीनो ने हमारे औद्योगिक आधार को उलट-पलट दिया ह। परिणामतः कार्यों मे चेतन श्रम का महत्त्व क्षीण हो गया है। बिजली, भाप, तेल और गैस द्वारा मशीनें मनुष्य से स्वतन्त्र, कार्य कर लेती हैं। एक स्थान पर खडे या बैठे-बैठे बटन दबाने या हैण्डिल घुमाने मात्र से हजारों मन गल्ले, लाखो गज कपडे आदि की उपज हो सकती है, सैकडो मील बिजली का प्रकाश और रेलगाडियो से करोड़ों मन माल ढुलवाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक महत्त्व को भी महत्त्वहीन बनाया जा रहा है। जो कार्य पुरुष करता है, स्त्रियाँ उसी को उतनी ही सुविधा और सरलता से कर लेना चाहती हैं। गर्भाधान और सन्तानोत्पादन से मुक्त करके उन्हे स्त्री के रूप मे दूसरा पुरुष बना देना हमे अभीष्ट सा हो गया है।

मशीनों का प्रभाव

४६. अस्तु, मशीनाश्रित हो जाने के कारण स्त्रियाँ अब जीवन-सघर्ष मे पुरुषो की आवश्यकता नहीं समझतीं। पुरुष से सम्बन्ध रखना या न रखना, इसे वह अपनी मर्जी की बात बनाती हैं। यही कारण है कि किसी भी पुरुष से सम्बन्ध हो जाना उन्हें अब विशेष दोषयुक्त नहीं प्रतीत होता। जो पुरुष करता है वही स्त्रियाँ भी करती हैं, इसलिए स्वभावतः स्त्री स्वातंत्र्य की आग प्रचण्ड हो उठी है। वह कहती हैं—"हमने केवल बच्चा पैदा करने के लिए जन्म नहीं लिया था"। परिणामत., स्वच्छन्द सयोग-वियोग, तलाक, गर्भपात—सामाजिक दिनचर्य्या मे दाखिल होने लगे हैं; वातावरण भी यथेष्ट प्रोत्साहन दे रहा है। इन सबका यही अर्थ है कि दाम्पत्य विधान और गार्हस्थ्य सम्बन्ध का कोई मूल्य ही नहीं रहा। उत्पादन क्षेत्र गृहस्थाश्रम की परिधि से उठकर कारखानो

मे केन्द्रित होता जा रहा है; लोगो का साम्पत्तिक सञ्चय अब घरों मे नहीं बाजार और सरकारी केन्द्रो मे होता है। "प्रत्येक प्राणी कमाये और खाये"—यही जीवन की नीति बन गयी है। यही कारण है कि पुरुष यदि स्त्री को सन्तुष्ट नहीं कर सकता तो परिस्थिति को सम्मिलित तथा पारस्परिक सहयोग द्वारा सुधार कर प्रिय बनाने की अपेक्षा वह तलाक दे देना अच्छा समझती है; सरकारी कानून भी उसे इसी ओर ले जा रहा है; समाज इसमे पक्ष या विपक्ष लेना अपना धर्म नहीं समझता। लोक व्यवस्था अब समाज की नहीं, सरकारी कानून और न्यायालय की जिम्मेदारी है। लोग भूखो रहे या प्यासे, अब समाज को इससे सरोकार नहीं। सरकार कहती है "कमाओ और खाओ।" कमाने का साधन विराट् हो जाने के कारण वह विराट् व्यक्तियो और विशेप दलो के हाथ मे केन्द्रित हो गया है। लोग बन्धन-मुक्त कर दिये गये हैं परन्तु स्वातंत्र्य रक्षा मे वे साधनहीन और असमर्थ हैं। इसका अर्थ? लोग घर से स्वतत्र होकर बाहर कैद कर दिये गये हैं,—कारखानो मे, सरकारी और व्यावसायिक केन्द्रो मे। लोग एक से छूटकर दूसरो के मुँहताज हो गये हैं। परन्तु उपहास की बात तो यह है कि इस नयी गुलामी को लोगो ने चाव से अपनाया है और भूख तथा रोग के शिकार हो गये हैं। उपहास है पर आश्चर्य नहीं। जो कमायेगा वही खायेगा, परन्तु कमाने के साधन यही नहीं कि, स्वभावतः, थोडो (मशीनाधिपतियो) के हाथ में केन्द्रित हो गये हैं बल्कि उनका आधार ऐसा है कि थोड़े से थोड़े लोगो को कार्य करने की गुंजाइश है। व्यावसायिक रूप से वही मशीनें टिक सकती हैं जो कम से कम समय मे अधिक से अधिक उपज, कम से कम लोगो द्वारा, कर लें। अर्थात् अधिक से अधिक लोग बेकार रहे। इस व्यापक बेकारी का लक्षण यह है कि अतिथि सत्कार अर्थ विरुद्ध समझा जाता है। बच्चा पैदा कर देना कुदरत का खेल है, पर उसके बुरे-भले तथा पालन-पोषण का उत्तरदायित्व सरकार या अनाथालयो पर है।

४७. गृहस्थाश्रम छिन्न-भिन हो गया है। अब यह सम्पत्ति का नहीं, रोग, दुःख, दरिद्रता और अनाचार का केन्द्र बनता जा रहा है। सम्पत्ति अब गृहस्थ से विमुख होकर राजा, अमीर, जमींदार, मिल-मालिक, बैंक या सरकारी खजानो मे निवास करती है। संक्षेप मे गृहस्थाश्रम और सम्पत्ति का सैद्धान्तिक सम्बन्ध नष्ट सा होता जा रहा है क्योकि उत्पत्ति का आधार अब मानव का श्रम (Human Force) या पारस्परिक सहयोग

नहीं, केवल मशीनो के जडवादी माध्यम पर अवलम्बित होता जा रहा है।
सारांश यह कि अब तक हमने व्यापक रूप से यह देखने की चेष्टा की है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का उद्भव किस प्रकार स्त्रियो से प्रारम्भ होता है, उनकी शारीरिक और स्वाभाविक विशेषता से किस प्रकार श्रम-विभाजन, गृहस्थाश्रम, सामाजिक और साम्पत्तिक विकास होता है। अब जीवन के कलमय हो जाने के कारण किस प्रकार गृहस्थाश्रम छिन्न-भिन्न हो गया है। परिणामतः सामाजिक ढाँचा ढीला पड गया है, साम्पत्तिक वैषम्य और अनियमन ने समस्त मानव जाति को उत्पीडित कर दिया है। सामाजिक अराजकता को दूर कर के सम्पत्ति को पुनः कारखानो से गृहस्थाश्रम मे केन्द्रित करने के लिए (ताकि सुख और शान्ति की सारी योजनाएँ मृतप्राय रोगी के स्वप्न के समान न रह जायँ और ससार बार-बार क्रान्ति और महायुद्ध के भँवर मे नष्ट-भ्रष्ट न होता रहे और अन्त मे दशा हमारी शक्ति के बाहर न हो जाय) हम अगले खण्ड मे समाज और उसकी गति-विधि पर दृष्टिपात करेंगे।

संक्षिप्त सार

दम्पति और समाज—नारी मानव समाज का आदि कारण और क्रियात्मक शक्ति है। मानव सम्बन्ध और सघटन के प्रारम्भिक रूपपर शरीर विज्ञानात्मक के अतिरिक्त अन्य बातो का परिणाम जनक प्रभाव। मनुष्य की प्रारम्भिक दशा, स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध सूत्र। दाम्पत्य का विकास अनिवार्यतः समाज सघटन के उत्तरोत्तर विकास के साथ आगे-आगे बढता है। 'स्वच्छन्द सयोग' और उसका भयकर परिणाम। गृहस्थाश्रम के बिना सामाजिक विकास असम्भव है। 'बहु-पति' विधान। पुत्र की आवश्यकता से 'बहु-पत्नि' विधान का घनिष्ट सम्बन्ध है। 'बहु-पत्नि' विधान के गुण और दोष। 'एक व्रत' और आर्य जाति। 'एक व्रत' विधान की श्रेष्ठता।

नारी और सामाजिक विकास—समाज चक्र—व्यष्टि के असगत समूह से मनुष्य क्योकर धीरे-धीरे सघटित समाज का रूप धारण करता है। इसमे पुरुष स्त्री से, प्रकृतितः, अधिक प्रामुख्य प्राप्त कर लेता है। स्त्री-पुरुषो का शारीरिक विभेद और स्त्रियो की दासता। स्त्री और पुरुष का जीवन संघर्ष के निमित्त व्यावहारिक समझौता। विवाह-विधान और पतिव्रत। मानव जाति की सुरक्षा और विकास के लिए सन्तान की ममता

अनिवार्य है । विभिन्न वैवाहिक पद्धतियाँ—अपिण्ड-अगोत्र और सपिण्ड-सगोत्र प्रथा ।

श्रम-विभाजन और गार्हस्थ्य—गृहस्थ जीवन का श्रीगणेश। समाज के सुदृढ़ विकास के लिए स्त्री-पुरुष के सहयोगपूर्ण कार्य की अत्यन्त आवश्यकता है । जीवन संघर्ष की दौड़ मे स्त्री और पुरुप का एक स्वाभाविक अन्तर है। सामूहिक शान्ति के बिना गृहस्थाश्रम में स्थायित्व आ ही नहीं सकता। गृहस्थाश्रमो के समीकरण से ही राष्ट्र का स्वरूप स्थिर होता है । स्त्री-पुरुप का समझौता। श्रम का प्राथमिक और द्वितीय विभाजन। समाज के निर्माण मे स्त्री और पुरुप, दो भिन्न-भिन्न जातियों के समान नहीं, एक प्राणी के रूप से ही कार्य करते हैं ।

गार्हस्थ्य और सम्पत्ति—मनुष्य की साम्पत्तिक ममता समाजको शान्त और स्थिर जीवन पर बाध्य करती है। संगठित व्यवस्था का उदय श्रम विभाजन से ही होता है। सामूहिक सुख-शान्ति के अनिवार्य साधन क्या हैं ? कार्य विभाजन का उद्यमस्थ और आकारात्मक आधार क्या है ? श्रम विभाजन बिना साम्पत्तिक निर्माण असम्भव है। स्त्री और पुरुप द्वारा समय और शक्ति का सम्मिलित सदुपयोग। सामाजिक और राष्ट्रीय विकास मे प्रत्येक व्यक्ति के श्रम और सहयोग का एक विशेप अंश है। उत्पादक श्रम के लिए गृहस्थाश्रम की उपादेयता। मशीनो का गृहस्थाश्रम पर विध्वंसक प्रभाव ।

तृतीय खण्ड

समाज

(व्यष्टि और समष्टि की पारस्परिक गति-विधि)

(अ) व्यक्ति और समूह

१. जब हम मनुष्य मात्र की सुख समृद्धि का विचार लेकर आगे आते हैं तो हमारे सम्मुख व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र इत्यादि अनेक शब्द एक दूसरे मे उलझे हुए प्रश्नात्मक चिह्नो की एक अभेद्य शृङ्खला के समान फिरने लगते हैं। युग-युगान्तर से ससार इसकी मीमासा करता आया है और आज उनमे से एक सर्वयुक्त व्याख्या को चुन लेना हमारे लिए एक नया ही प्रश्न बन गया है। जब हम देखते हैं कि समाज को व्यष्टि के समष्टि रूप से ही समझा जा सकता है तो हमे, स्वभावतः, सर्वप्रथम उस व्यष्टि को ही समझने की उत्सुकता होती है जिसके आत्यन्तिक हित-चिन्तन मे ससार के समस्त दर्शनो का निर्माण हुआ है, नीतिशास्त्र और कर्मकाण्डो की रचना हुई है और जिसके हल के लिए विश्व की विचार-धाराओ ने अपने ज्वारभाटो से हमे प्रक्षुब्ध कर रखा है। वस्तुतः, व्यक्ति के मौलिक स्वरूप को समझे बिना, उसके गुण, कर्म, स्वभाव, का रूप-निरूपण किये बिना, उसके सम्मिलित व्यवहार (कारपोरेट हैबिट्स) उसके सामाजिक लक्ष्य (सोशल एम), उसके सघटन अथवा अर्थशास्त्र की गति-विधि को निश्चित करना कठिन होगा।

प्रारम्भिक

२. अस्तु, मनुष्य है क्या? पादार्थिक दृष्टि से (फिजिकली) हम इसे भी प्राणी जगत् का एक पचभौतिक पिण्ड ही कहेगे। कुछ अन्य प्राणियो (स्पेसीज) के समान, इसका प्रमुख लक्षण यह है कि यह अपने समूह मे ही अस्तित्वमान होता है। इसीलिए यूनानी दार्शनिको ने व्यक्ति के विरुद्ध, समाज अथवा राज को ही महत्त्व दिया है। उन्होने व्यक्ति को समाजरूपी शरीर का अङ्ग मात्र ही स्वीकार किया है जो अङ्गी (शरीर) के हितार्थ उसी प्रकार बलि दिया जा सकता है जैसे शरीर को बनाये रखने के लिए व्रणग्रस्त अङ्ग को काटकर फेंक देना न्याय दीखता है। यूनान के दार्शनिको ने इस प्रकार व्यक्ति की स्थिति को स्थिर करने की प्रबल चेष्टा की है। परन्तु व्यक्ति के व्यक्तित्व का

मनुष्य क्या है?—
व्यक्ति और समाज

गतिक्रम (डाइनेमिक्स) समझने में हमें इससे कोई तुष्टि नहीं होती। परिणामतः, साम्पत्तिक स्वामित्व के वैयक्तिक तथा सामाजिक गुण-भेद, आर्थिक संघटन के लक्ष्य, उसके केन्द्रोन्मुखी तथा केन्द्रापसारी अवयवो की समीक्षा, कुछ भी निर्णायक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतएव, जब तक हम व्यक्ति को ही नहीं समझ लेते, अरस्तू और अफलातून की परिभाषाएँ हमारा पथ प्रदर्शन नहीं कर सकतीं।

३. संसार ने सृष्टि की भिन्न-भिन्न रूप से कल्पना की है। परन्तु उन सबको समेट कर उन्हें दो स्पष्ट श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। प्रथम पद्धति के अनुसार यह कहा जाता है कि सृष्टि के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं जैसे वे हमारी इन्द्रियो को गोचर होते हैं। इनके परे उनमें कुछ नहीं। एक वृक्ष को देखकर हम सहज ही अनुमान कर लेते हैं कि पृथ्वी मे बीज डालने से प्रकृततः अंकुर, अंकुर से वृक्ष, वृक्ष से फूल और फल का उदय होना प्रकृति का एक स्वभाव-सिद्ध नियम है। इसके पीछे किसी अन्य संचालक या सृजन शक्ति का अस्तित्व नहीं है। इस विचारधारा को आधिभौतिक कहते हैं।

सृष्टि का रूप-निरूपण— आधिभौतिक

४. इसका परिष्कृत रूप मार्क्स का प्रसिद्ध "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" (Dialectical Materialism—श्री सम्पूर्णानन्द इसे 'द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद' कहते हैं) है।

द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद

यहाँ आत्मा या चेतन की कोई स्वतत्र सत्ता मान्य नहीं है। मूल प्रकृति के विकार तथा रूपान्तर से ही इस अनन्त सृष्टि का अस्तित्व कायम होता है। चेतन का भी मूल सूत्र वही महत् प्रकृति है। वास्तव मे यहाँ चेतना को रासायनिक प्रक्रिया तथा प्राकृतिक उपकरण से अधिक नहीं समझा जा सकता। जो कुछ है प्राकृतिक तत्वो के सघर्ष-विघर्ष का परिणाम मात्र है। यथार्थतः मार्क्सवाद शुद्ध भौतिकवाद है, जिसे सरल सुबोध भाषा मे "अनात्मवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" कहना अधिक श्रेयस्कर होगा। इसकी अपनी निराली विशेषता को अमिश्रित बनाये रखने के लिए इसे इन तीनो शब्दों का संयुक्त साइनबोर्ड लिये फिरना होगा क्योंकि भारतीय दर्शन की सांख्य शाखा ने प्रकृति को ही सृष्टि का उपादान कारण मान कर मार्क्स के भौतिकवादी तथा द्वन्द्वात्मक गुणों को पहले ही स्वीकार कर रखा है, परन्तु अनेक जीवात्मा (पुरुष) का अस्तित्व मान लेने से

चेतना सांख्य के लिए प्रकृतस्थ रासायनिक क्रिया नहीं वरन् एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे प्रकट होती है। बौद्ध भी नास्तिक हैं परन्तु मार्क्सवादियो के समान द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं। इस प्रकार मार्क्स का भौतिकवाद अपनी ही विशेपता रखता है जिसने संसार के दुःख दारिद्र्य को मिटाने का अभूतपूर्व दावा पेश किया है।

मार्क्स का द्वन्द्व न्याय : जड और चेतन में कोई अन्तर नहीं है

५. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार हमारा यह जगत और इस जगत् के सारे व्यवहार—सब मूल प्रकृति के द्वन्द्वात्मक क्रम से ही अस्तित्वमान होते हैं। वन, पर्वत, पशु-पत्ती, मनुष्य और मनुष्य के अन्तःकरण—सभी उस मूल तत्व (मैटर) के नित्य अनन्त द्वन्द्वात्मक कारण से निर्मित होते हैं। अभिप्राय यह कि मनुष्य और पत्थर—दोनो एक ही न्याय के भागी और भोगी हैं। यहाॅ जड और चेतन के उद्भव तथा अस्तित्व मे कोई मौलिक भेद नहीं। दोनो का आदि और अन्त उसी एक शाश्वत द्वन्द्व न्याय के अन्तर्गत चलता रहता है। परिणामतः जहाँ चेतना की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं, वहाँ व्यक्ति का समूह से स्वातन्त्र्य क्योंकर समझा जाये? इसीलिए अरस्तू और अफलातून से हीगेल और हीगेल से मार्क्स और एँगेल्स ने हेर-फेर कर व्यक्ति को समाज का अङ्ग मात्र स्वीकार किया है। जहाॅ जड़ और चेतन मे कोई मौलिक अन्तर ही नहीं वहाँ व्यक्ति की दार्शनिक परिभाषा इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है? स्वभावतः मार्क्सवादी व्यक्ति को लेकर दार्शनिक जाल खडा करना व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी समझते हैं। व्यक्ति की कोई स्वतन्त्र चेतन सत्ता ही नहीं तो उसके गुण, कर्म, स्वभाव ऐपणा तथा कर्तृत्व आदि की मर्यादा कोई क्रियात्मक महत्त्व नहीं रखती। यहाॅ सारे प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही है कि सब उसी मूल प्रकृति का द्वन्द्वात्मक खेल है।

मार्क्स . सारी सृष्टि निरुद्देश्य है

६. इसीलिए वह निःशक होकर कहता है कि—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा मे नहीं है और न उसका कोई निश्चित उद्देश्य है" ('व्यक्ति और राज', पृष्ठ ४५, श्री सम्पूर्णानन्द)। सृष्टिक्रम के सम्बन्ध मे मार्क्स के इस मत को लेकर मार्क्सवादी अपनी ही "वैज्ञानिक शैली से चलता है।'" वह देखता है कि प्रकृति किधर झुकनेवाली है, और उसके अनुसार वह कार्य करता है, उससे लाभ उठाता

है" ('व्यक्ति और राज', पृष्ठ ५५)। यहाँ सबसे पहले तो इसी बात को समझ लेना चाहिये कि मार्क्स के ही इस उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने से मार्क्स के ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—-प्रश्न यह है कि इस जगत् को परिवर्तित कैसे किया जाय" ('समाजवाद', पृष्ठ ७३ श्री सम्पूर्णानन्द)—का खण्डन हो जाता है। जो "वैज्ञानिक परिस्थितियों का मुँहताज है वह जगत् को परिवर्तित करने की कल्पना भी कैसे कर सकता है? इन दो विरोधी बातो मे से एक को गलत होना ही होगा। इस स्वच्छेदक (सेल्फ कंट्राडिक्शन) को छोडकर, हमारा प्रयोजन अनुच्छेद के प्रारंभिक वाक्य से ही है—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा मे नहीं है, उसका कोई निश्चित उद्देश्य भी नहीं।" इस प्रकार प्रश्न यह नहीं कि "जगत् को परिवर्तित कैसे किया जाय", बल्कि वास्तविक प्रश्न यह हो जाता है कि जब सारी सृष्टि ही निरुद्देश्य है तो उसके किसी परमाणु अर्थात् किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा क्योंकर उद्देश्य-बद्ध हो सकती है? फलतः, व्यष्टि और समष्टि—दोनो ही किसी डिब्बे मे भर कर खड़खड़ाते हुए, गति तथा क्रमहीन रोड़ो के समान हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह ससार विकासमान अर्थात् आगे पीछे होकर भी, नित्य, निरन्तर एक उच्चतर और फिर उच्चतम दशा की ओर अग्रसर है। जब इस जगत की कोई निश्चित दिशा ही नहीं, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं तो इस सृष्टि-क्रम को समझा भी कैसे जा सकता है? निरुद्देश्य कार्यों मे तादात्म्य (कोहेरेन्स) कैसे स्थापित हो सकता है? यह तो हुआ समस्या का प्रश्नात्मक पहलू। इसी का प्रस्तावात्मक पहलू यह होगा कि सृष्टि की स्वभावसिद्ध परिवर्तनीयता को सुख-साध्य कैसे बनाया जाय? और यदि ऐसा नहीं है, यदि हमारी कोई दिशा ही नही, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं, कोई आदर्श या लक्ष्य ही नहीं, तो फिर भूत और भविष्य का सदर्भ भी कैसे स्थापित हो सकता है? और यदि वर्तमान का लक्ष्य-पूर्ण निर्देशन ही असम्भव है तो इन सारे आर्थिक और अर्थशास्त्रीय वितण्डो का प्रयोजन भी क्या?

परन्तु बात ऐसी नहीं है। ऐसा होता तो सृष्टि का व्यवहार शृंखला-बद्ध होने के स्थान मे विशृंखल नजर आता। इसमे चेतन के स्वतन्त्र और स्पष्ट व्यवहार देखने को ही नहीं मिलते।

७. अस्तु, संसार की जड़ और चेतन विषयक विचारधाराओं को

मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। व्यक्ति के पादार्थिक अस्तित्व के सम्बन्ध में दोनो पक्ष प्रायः एक से ही हैं। अन्तर वहीं से आरम्भ होता है जब हम व्यक्ति की भौतिक स्थिति के साथ ही, परन्तु उसमे पृथक्, और स्वतन्त्र, एक चेतन शक्ति की सत्ता स्वीकार करने लगते हैं। मानव जीवन का दार्शनिक विवेचन नवभारत का प्रस्तुत विषय नहीं है, अतएव अनात्मवाद, साख्य, द्वैत, अद्वैत, शाकर अथवा बौद्ध, ईसाई या इस्लाम धर्म—इसे उनमे से किसी की भी धार्मिक समीक्षा अभीष्ट नहीं है। हमारा अपना मूल प्रश्न तो केवल भौतिक और चेतन की दो भिन्न स्थितियो से ही सिद्ध हो जाता है। भौतिक के सम्बन्ध मे आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनो मे कोई व्यावहारिक अथवा परिणामजनक मतभेद नहीं। चेतन के सम्बन्ध मे हमने यही सिद्ध किया है कि बिना किसी चेतन सत्ता के सारा सृष्टि-क्रम विशृखल और निरुद्देश्य बन जायेगा और फिर उसमे किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित करना असम्भव हो जायेगा।

एक चेतन सत्ता के अभाव में सारी सृष्टि विशृखल हो जायेगी

सक्षेप मे, इस समस्त मानव समष्टि के मूल मे एक चेतन युक्त व्यष्टि ही घटक रूप से कार्य कर रहा है और उसी के आत्यन्तिक हित-चिन्तन को लेकर समाज का सामूहिक व्यापार मूर्तमान होता है। परन्तु जैसा कि प्रारम्भ मे कहा गया है कि मनुष्य एक सामाजिक जीव है और वह अपने समूह मे ही कीर्तिमान हो सकता है। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिको ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को, समूह के विरुद्ध, सर्वथा निर्मूल घोषित करने की प्रबल चेष्टा की है।

(अ) समाज है क्या? इसे जानने के पहले यह समझना होगा कि समाज क्या नहीं है। हम रेलगाडी मे सैकडों, हजारों आदमियो को एक साथ देखते हैं। इनका सोना-जागना, खाना-पीना, स्नान-ध्यान, नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ, खरीद-फरोख्त, आमोद-प्रमोद—जीवन का सम्पूर्ण कार्य-क्रम एक साथ होता है। परन्तु क्या यह समाज है? नहीं, यह समाज नहीं, यात्रियो का समूह है। जहाज मे इससे भी अधिक पूर्ण चित्र दिख-लाई पडता है। वहाँ पर लोगो का व्यक्तिगत और सामूहिक भोजन प्रबन्ध, टेनिस, नाच, गाना, नाटक, सिनेमा, रेडियो, गोष्ठियाँ

समाज क्या नहीं है

इत्यादि अनेकों अभाव की पूर्ति हो जाती है। परन्तु यह भी समाज नहीं है। हम प्रयाग और हरिद्वार के अवसर पर लाखों को एक साथ एक विशाल भू-भाग पर आबाद देखते हैं। यहाँ तरह-तरह के घर, बाजार, सभाएँ, सत्संग, व्यापार, सभी का सम्मिश्रण हो गया है। परन्तु यह भी समाज नहीं, मेला है।

समाज क्या है

(ब) इसके विरुद्ध हमे हजार, पाँच सौ की एक छोटी सी बस्ती नजर आती है। टूटे-फूटे, मिट्टी या फूस के अस्त-व्यस्त घरो की ही यहाँ सत्ता है। परन्तु यह पूरा समाज है क्योकि इनके जन्म-जन्मान्तर के निश्चित तौर-तरीके हैं, आपसी रस्म व रिवाज, नाते-रिश्ते के अमिट बन्धन हैं। मर्यादाओ और परम्पराओ के निश्चित दायरे मे ही इन्हें चलना पड़ता है। आदमी मरते जाते हैं और उनके काम चलते रहते हैं। परन्तु इतने से ही समाज नहीं बन जाता, समाज के साथ समाज के घर-बार, पशु-पक्षी, मन्दिर-मस्जिद, गिरजा घर, वेश-भूषा, कृषि, हल-बैल, उद्योग-धन्धे, आचार-विचार, सब का समुच्चय सामने आता है। इन सब के सम्मिलित अस्तित्व एवं जीवन व्यापार से ही समाज खड़ा होता है। हम कहते हैं "हिन्दू समाज"। "हिन्दू समाज" के श्रवण मात्र से हिन्दुओ का जीवन, वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, मन्दिर, व्रत, उपवास, सारा हमारे नेत्रो के सामने घूमने लगता है। उसी प्रकार जब हम "बद्दू समाज" कहते है तो घोड़ो और खच्चरो पर लदे फिरते रहनेवाले समाज का चित्र नेत्रो के सामने फिरने लगता है।

प्रत्येक जीव प्राणी स्थिर और स्थायी जीवन का सुख भोग करना चाहता है। चिड़ियाँ भी घोसला बनाकर रहती है। जो पक्षी या पशु घोसला बनाकर नहीं रहते उनके भी ठहरने के, सोने और आराम करने के, निश्चित अड्डे होते हैं। खाने के, चरने-चुगने के निश्चित क्षेत्र और खण्ड होते हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी जीवन की सुविधाओ के लिए कहीं-न-कही ठहर जाता है; फिर उसके इर्द-गिर्द दूसरे मनुष्य भी बस जाते हैं। धीरे-धीरे काल-कालान्तर मे वही उनका समाज बन जाता है। जो एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं बसते वे भी स्थायी रूप से साथ तो रहने ही लगते हैं,—यहाँ या वहाँ, वे जहाँ भी रहते हैं, उनका वही रोज का पारस्परिक जीवन होता है, वही सामूहिक रहन-सहन होती है। इसकी अमिट परम्परा और अमिट बन्धन तैयार हो जाते हैं। निश्चित

भू-खण्डो मे, निश्चित और स्थायी रूप से बसे हुए या घोड़ों और खच्चरों पर लदे फिरते रहनेवाले, दोनो प्रकार के समाज का इसी प्रकार अस्तित्व कायम होता है।

(स) समाज तो समझे, परन्तु यह "सभ्य" है या "असभ्य"? इस तरह प्रश्न होता है कि आखिर समाज के अतिरिक्त यह सभ्यता क्या चीज है? हमने अभी कहा है कि जब हम किसी समाज की कल्पना करते हैं तो वहाँ कुछ या बहुत से लोगों के सम्मिलित, नियम-बद्ध जीवन उनके घर-बार, पशु-पक्षी, धन-दौलत, व्यापार-व्यवहार, संस्थाएं. सब का समन्वित चित्र सामने आता है। इस तरह गाँव मे, शहर मे, जगलो मे, बसनेवालो का, खच्चरो पर लदे फिरनेवालो का, सब का समाज है। परन्तु जिन लोगो के रहने का तौर तरीका सुधरा हुआ नहीं है, उन्हे हम असभ्य कहते हैं। जिन लोगो ने पशुओं के समान नगा रहने के बजाय शरीर के लिए सुन्दर एवं वैज्ञानिक वस्त्रादि का व्यवहार शुरु कर, वृक्ष और बिलो मे रहना छोड कर, अच्छे स्वास्थ्यकर घरों की पद्धति कायम कर ली है, नैतिकता से प्रभावित रहते हैं, कला, विज्ञान और सगीत से जो ओत-प्रोत हैं, जिन्होने स्वास्थ्य और शिक्षा का अर्जन किया है, जिनके तौर-तरीके, आचार-विचार की सुनिश्चित एव उन्नतिशील परिपाटी होती है, उन्हे हम सभ्य कहते हैं।

सभ्यता

इस तरह, थोडे मे, मानव समाज की उन्नतिशील जीवन पद्धति को ही हम "सभ्यता" कह सकते हैं। सभ्यताएँ एक दिन मे नहीं, सैकडों, हजारों वर्ष मे लोगो की नियमित एवं प्रगतिशील पारस्परिकता से ही बनती हैं, इनके बनने मे पृथ्वी, जल-वायु, प्राकृतिक परिस्थितियाँ, मानवी चेष्टाएँ—सब का समन्वित सुपरिणाम होता है। परन्तु जहाँ तक स्वय सभ्यता का सवाल है वह तो व्यापक मानव समाज की दीर्घकालीन, सुनिश्चित, सुपरिचित एव उन्नतिशील जीवन पद्धति से ही परिलक्षित होती है।

(द) हम कह चुके हैं कि व्यापक मानव समाज की दीर्घकालीन एव सुनिश्चित जीवन पद्धति को ही सभ्यता कहते हैं और यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वी, जल-वायु, आकाश तथा अन्य प्राकृतिक और अप्राकृतिक परिस्थितियो के अन्तर्गत ही समाज की रचना होती है। इसीलिए भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार का समाज बनता है। इस तरह देशों

सभ्यताएँ

के अन्तर से लोगो की जीवन पद्धति में भी अन्तर होता है यानी भिन्न परिस्थितियों मे भिन्न सभ्यताओ का निर्माण होता है, जैसे रोमन, मिस्री और आर्य-सभ्यता, आंग्ल और भारतीय सभ्यता।

(य) इस तरह समाज और समूह का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यहीं यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति चेतन है, प्रत्यक्ष है, परन्तु समाज जड़ है, अप्रत्यक्ष है, अवैयक्तिक (इमपर्सनल) है।

समाज जड़, अप्रत्यक्ष और अवैयक्तिक है

व्यष्टि और समष्टि की यह एक ऐसी पतली लीख है जिसे सम्पूर्णतः सतर्क रहे बिना हम सहज ही समूहवादी जडत्व के खड्ड मे खो जायेंगे। अतएव यह परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि हम सबसे पहले संसार को वर्तमान सभ्यता की इन्हीं दो प्रमुख सामाजिक बनावटों पर दृष्टिपात कर लें।

(ब) समाज (शहरी और ग्राम्य)

(इस अध्याय की रचना मे अ० भा० ग्रा० उ० सस्था के पत्र-पत्रिकाओ, श्री जे० सी० कुमार अप्पा, डा० सीतारमैया तथा डा० भारतन की पुस्तको से विशेष सहायता ली गयी है जिसके लिए मैं उपर्युक्त संस्था तथा विद्वानो का अतीव आभारी हूँ।—ले०)

८. इस समय संसार का अर्थ विधान दो प्रमुख वर्गों मे विभक्त है—पूँजीवाद और समूहवाद (कम्युनिज्म)। पूँजीवाद का सामाजिक महत्त्व व्यक्ति को एक निर्बाध स्वच्छन्दता प्रदान करने मे ही निहित है। इसे "लैसेज़-फेयर" कहा जाता है अर्थात् प्रत्येक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार जीवन मे अवसर लेने के लिए बिलकुल निर्बन्ध और स्वच्छन्द है। इस प्रकार बल, चातुरी, षडयत्र अथवा और किसी भी सम्भव रीति से उसके स्वप्राप्त साधनो मे कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसे व्यक्तिवाद भी कहा जाता है परन्तु यह पश्चिमी ढंग का व्यक्तिवाद है जिसमे नैतिकता को कोई स्थान नहीं। भारतीय विचारधारा भी समूहवादी के विरुद्ध व्यक्तिवादी है क्योकि यह व्यक्ति की चेतन सत्ता पर ही अवलम्बित है। परन्तु पश्चिमी और पूर्वी व्यक्तिवाद मे महान् अन्तर है : एक जड़वादी है, दूसरा चेतन।

प्रारम्भिक

केन्द्रोन्मुखी

केन्द्रापसारी

परिणामतः, दोनों को लेकर दो प्रकार की समाज रचना, दो प्रकार की सभ्यता की सृष्टि हुई है—केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी। सम्प्रति हम इसे शहरी और ग्राम्य-सभ्यता के रूप मे समझने की चेष्टा करेंगे क्योंकि पूँजीवादी अथवा समूहवादी, पश्चिम की इन दोनों पद्धतियों में जडवाद का ही आधार है और, स्वभावतः, दोनो केन्द्रो से ही गति प्राप्त करती हैं। इस प्रकार इन दोनों का सामाजिक रूप शहरी वन जाता है जब कि प्राच्य, विशेषतः भारतीय सभ्यता का स्वरूप इसके चेतन घटको के योग से ही निर्मित होता है।

केन्द्र और आयतन

और भी स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह कहना होगा कि एक ओर यदि एक विन्दु को केन्द्र मानकर उसके लिए एक आयतन तैयार किया जाता है तो दूसरी ओर पूर्वस्थित आयतन के लिए, आवश्यक केन्द्र स्थापित कर दिया जाता है। केन्द्र द्वारा सचालित होनेवाले आयतन का अस्तित्व केन्द्रो के साथ ही वनता-विगड़ता रहता है। रोम और वेवीलोन की सभ्यताएँ इसी प्रकार लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु इधर यह वात नहीं—हस्तिनापुर और दिल्ली मिट्टी मे मिल गये फिर भी भारतीय सभ्यता सदा सर्वदा जीवनदायिनी वनी रही। उसे यदि हम केन्द्रित अर्थात् शहरी पद्धति कहे तो इसे हम ग्राम्य सभ्यता ही कहेगे। यहाँ हम इसी पर विचार कर रहे हैं।

समाज संघटन की बुनियादी बातें

१. कुछ निश्चित उष्णता और सर्दी, निश्चित हवा और पानी, के विना कोई भी समाज संघटन या संगठित कार्य होना कठिन है। ध्रुववर्ती स्थानों मे लोगो की कोई निश्चित कर्म-शृंखला असम्भव है। हमारे समाज संघटन पर पृथ्वी के धरातल का कम प्रभाव नहीं पडता—नैपाल, तिव्वत, चीन, जापान, युनान, साइवेरिया, मैक्सिको, अफ्रीका, उत्तरी भारत के सपाट मैदान, दक्षिणी भारत के गर्म देश, तथा ब्रह्मा के पहाडी देशों मे भिन्न-भिन्न रूप से समाज-सगठन हुआ। भिन्न-भिन्न देशो की उपज-शक्ति का समाज रचना पर विशेष प्रभाव पडता है—पजाव की सैनिक स्वच्छन्दता गुजरान के सरल निष्ठावान जीवन से भिन्न है। गगा की उपजाऊ भूमि और वुन्देलखण्ड के पहाडी प्रदेश में भिन्न भिन्न समाज-व्यवस्था है। भिन्न-भिन्न पैदावार के कारण भी वड़ा प्रभाव

पड़ता है—गंगा की घाटी में चावल, गेहूँ, दाल, शाक-सब्जी, फल, जड़ी-बूटी आदि का आधिक्य होने के कारण यहाँ संसार की सर्वश्रेष्ठ शाकाहारी सभ्यता का विकास हुआ। भोजन और औषधि सहज प्राप्ति के कारण हम सुखी और स्वस्थ रहते हैं, हमारे सामाजिक जीवन मे एक प्रकार की नश्चिंतता का समावेश होता है। नरम या कड़ी मिट्टी के भेद से हमारी गृह-रचना की सारी पद्धतियो में ही भेद हो जाता है। साराश यह कि हमारा समाज संगठन खाद्य पदार्थ, पैदावार, जल-वायु, पशु-पक्षी, प्राकृतिक साधनों तथा वातावरण से प्रभावित होकर ही साकार होता है।

समाज सगठन की मूल प्रेरणा—आर्थिक स्वार्थ

१०. (अ) मनुष्य हो या पशु, आर्थिक स्वार्थ से प्रेरित होकर ही वह किसी समाज या संघटन का रूप धारण करता है। भोजन, वस्त्र या निवास की व्यवस्थित पूर्ति के लिए वह जब सामूहिक और सम्मिलित प्रयत्न करता है, तब एक संगठित दल में कार्य करना उसके लिए नितान्त आवश्यक होता है। प्रत्येक समाज संघटन के पीछे यही मूल प्रेरणा कार्य करती है। दलवद्ध हो जाने पर वह फिर वाह्य आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपो (हवा, तूफान, महामारी) का सफल सामना करने मे अपने को समर्थ पाता है। संघटित और दल-वद्ध अवस्था मे धीरे-धीरे उसके कार्य और व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी वन जाती है; उसकी व्यक्तिगत नीति और उसके विचार सामूहिक हित और पारस्परिक सहयोग[1] की भावनाओ से प्रतिपादित होते हैं जो सैकड़ो सहस्रो वर्ष, पुश्त-दर-पुश्त, आचार-विचार, कार्य-व्यवहार, धर्म और नीति के चक्र मे पड़कर संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं। या यों कहिये कि हमारी अपनी एक सभ्यता और एक संस्कृति वन जाती है।

संस्कृति का निर्माण

(व) सभ्यता के निश्चित एवं निर्वाध प्रवाह से ही संस्कृति का उदय होता है। जब एक प्रगतिशील एवं सुनिश्चित जीवन पद्धति के अनुसार समाज का जीवन प्रवाह चलने लगता है तो सारे समूह का,

---

१ सहयोग अथवा संघर्ष—समाज के निर्माण और उसके विकास में इन दोनो का क्रियात्मक महत्त्व क्या है, इस पर फिर विचार किया जायगा।

समूह के प्रत्येक सदस्य का, वैसा ही स्वभाव बन जाता है जो उसके प्रत्येक कार्य और व्यवहार मे, प्रत्येक आचार और विचार मे प्रस्फुटित होता है। यह स्वभाव, अभ्यास या चेष्टा के बिना भी, प्राणी को पैतृक देन मे प्राप्त होता है जिसे हम सस्कार कहते हैं।

संस्कार और संस्कृति

समाज के इसी सामूहिक सस्कार को हम सस्कृति कहते हैं। अंग्रेजी भाषा मे सस्कृति का बोध "कलचर" से कराया जाता है। सस्कार जन्मजात होते हैं और सैकडों-सहस्रों वर्ष के सामूहिक जीवन से इनका जो सामूहिक रूप स्थिर होता है उसी को हम संस्कृति कहते हैं।

११. अभी कहा जा चुका है कि प्रत्येक सभ्यता का मूल कारण आर्थिक है। इसीलिए प्रत्येक जाति या सभ्यता का सामाजिक विकास आर्थिक आधार पर ही होता है। प्रारम्भ मे मनुष्य प्राकृतिक देन पर ही निर्भर था, धीरे-धीरे वह प्रकृति को भी अपने वश मे करने लगा और अपने अनुकूल उत्पादन भी करने लगा,—अब वह किसान या खेतिहर बना। इसे मानव समाज का दूसरा युग कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य की उत्पादक प्रेरणा और प्रकृति पर स्वामित्व की अभिलाषा अपनी निरन्तर गति से जारी थी, वह एक कदम और आगे बढ़ा, उत्पादन मे उसने मानव-कृतियो की भरपूर सहायता ली वह साधारण औजारो से बढ कर कल पुर्जों द्वारा काम करने लगा, मशीन और कारखानो का प्रभुत्त्व स्थापित हुआ और इसे अब हम कलयुग कहते हैं।

सामाजिक विकास का आर्थिक सूत्र

१२. यहाँ आकर संसार, स्वभावत, दो दलो मे विभाजित हो गया:—

(अ) वह, जो मशीनों और कारखानों के मालिक हैं तथा जिनका जीवन यापन कल-कारखानों पर अवलम्बित है। कारखानों में दूर-दूर तथा देश-विदेश से कच्चा माल लेकर उपज होती है और उसमें कार्य करनेवाले भी विभिन्न स्थान, प्रान्त और देश के होते हैं। केन्द्रीकरण कारखानो का स्वाभाविक गुण है। उपज और जीवन व्यापार थोड़े से स्थल मे केन्द्रित हो जाता है। केन्द्रित उपज की खपत भी, स्वभावतः, भिन्न भिन्न स्थानों मे केन्द्रित हो जाती है, जो हमे बड़े-बडे बाजार, कसबे और शहर के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। कारखानों की विराट

उपज को सफल बनाने के लिए उनके वाहक और साधक भी, स्वभावतः, विराट होते हैं। रेल, तार, जहाज, बिजली घर, फिर इनके अपने बड़े-बड़े कारखाने और उन कारखानो के मजदूर, मजदूरो के घर, अस्पताल, खेल-तमाशे, स्कूल इत्यादि। इनकी रक्षा और नियन्त्रण के लिए पुलिस और सेना, अदालत और हाईकोर्ट, मुसफी और जजी, स्थावर और जङ्गम की जमघट ने एक बिल्कुल नयी दुनिया का नमूना पेश कर दिया है। उत्पत्ति का उत्तरदायित्व कल कारखानो के मालिको पर है; उत्पादन का साधन भी उन्हीं के हाथ मे है। लोगो को कल-कारखानो के चारो ओर,

केन्द्रित व्यवस्था

उनके सहारे, सगठित बस्ती मे, कल-कारखानो के क्रमानुसार जीवन व्यतीत करना अनिवार्य हो गया है। रेल और ट्राम, कब और कहाँ से आती-जाती हैं—हमे उन्हीं के आस-पास, उसी समय पर चलना फिरना पड़ता है, बसना होता है और अपना कार्य-क्रम बनाना पडता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, अंग्रेज, अमेरिकन, जापानी, पार्सी या यहूदी—सब के सम्मुख यही एक प्रश्न है। अब धर्म या जाति की कोई विशेष कीमत नहीं रही। कारखाने कब और कैसे चलते हैं—सबको उसी समय जागना और सोना पड़ेगा, रहन-सहन भी उसी हिसाब से बनानी पड़ेगी। साराश, कल-कारखानो ने हमारे जीवन को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि हम और हमारे नीति-धर्म, सभी मे मशीनो की संचालक प्रेरणा है, कल की स्फूर्ति है। हम एक नयी गुलामी मे जकड़ दिये गये हैं—मशीनो की गुलामी। रूस का समूहवादी और जापान का सैनिक, कोई भी मशीनों के चगुल से स्वतन्त्र नहीं।

(ब) दूसरी ओर है चरखा, करघा, तेली का कोल्हू, हल, बैल, गाड़ी और खलिहान वाला किसान और मजदूरो का स्वच्छन्द ग्राम्य जीवन,

विकेन्द्रित व्यवस्था

जो 'ट्राफिक रूल' और 'ट्रेसपास' के शिकजों से मुक्त, टेलीफोन की चीख-पुकार और मोटर, रेल तथा ट्राम के शोरगुल, खतरे और उलटफेर से दूर सरल जीवन की साकार प्रतिमा बना हुआ है। यहाँ हवाई जहाज पर उडते फिरने की आवश्यकता ही नहीं। सैनिक छावनियो के बिना भी इन्हे कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। यदि गाँव वाले अदालतो मे भरे रहते हैं तो केवल इसलिए कि शहरी सभ्यता का आर्थिक बोझ इनके सिर है और उसे हलका करने के लिए सरकारी कानून उन्हे हठात् जजी

और हाईकोर्ट या तहसीलदार की तहवील मे घसीट लाते हैं। बाजार का प्रतिक्षण बदलने वाला उतार-चढाव या निरंतर दलालों की चख-चख इसे परेशान नहीं करती। जितना ही वह इससे दूर है, उतना ही सुखी है।

मशीन और मजदूर

१३. मशीनो का आविष्कार ही समय और परिश्रम की बचत के लिए हुआ था और उनका सञ्चालन तथा स्वामित्व स्वभावतः इने-गिने लोगों के हाथ मे है। उत्पादन और मुनाफा, यहाँ यही दो यम और नियम हैं अर्थात् कम से कम लागत और अधिकाधिक मुनाफा। लागत के नाम पर मजदूर और उनकी मजदूरी पर ही सदा जोर डाला जाता है। कम से कम लोग, कम से कम मजदूरी और कम से कम समय मे अधिकाधिक उपज करें—यह है मुनाफे का सीधा सा मार्ग। मुनाफा मालिको का, मेहनत-मशक्कत मजदूरो की, यह है पूँजीवाद। समूहवाद मे भी कलकारखानों की मालिक सरकार है। एक ओर वैयक्तिक तो दूसरी ओर सरकारी अधिकार है। सार्वजनिक जीवन कहीं भी स्वतन्त्र नहीं। नात्सी और फासिस्टी विधान मे मजदूरो के बजाय मध्यम श्रेणी का प्रभुत्व हुआ। उत्पादन क्रम और जीवन का आधार वही रहा—मशीन; केवल अधिकार भर बदलते रहे।

कलमय विधान : शहरी समाज : केन्द्रीकरण

१४. यह सारे कलमय विधान "शहरी" समाज की सृष्टि करते हैं और विस्तृत मानव समाज से विलगाव, असन्तोष और आर्थिक परेशानियाँ ही इनकी विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि भरे भण्डारों के विपरीत भी चारो ओर भूख और रोग का ताण्डव हो रहा है। मनुष्य की मानसिक स्थिति खराब हो रही है। न्यूयार्क मे प्रत्येक बाईसवाँ व्यक्ति पागलखाने मे है। और क्या चाहिए? भारत मे हैजे और ताऊन का प्रकोप इतना भयंकर नहीं, जितना अमेरिका का तलाक, गर्भपात और उन्माद रोग। यह है शहरी सभ्यता का दिग्दर्शन। शोषण, दमन और हिंसा इसकी विशेषता है। दूसरो को निचोडकर स्वय पनपना—यहाँ इसी मे जीवन रस है। केन्द्रीयकरण इसका गति-गीत है। चारो ओर से सिकुड-सिकुड कर थोड़े मे भरते जाना और केन्द्राधिपतियो की हुकूमत को ही जीवन का कानून समझ कर जीवित रहना—जीवन व्यापार बन गया है। लोगो की कठिन कमाई मिल और

मशीनों के नकली माल से परे और तन ढकने भर को भी नहीं, उस पर से चुंगी, मालगुजारी, हाउस टैक्स, वार टैक्स, प्युनिटिव टैक्स, इनकम टैक्स, प्राफिट टैक्स, सुपर टैक्स इत्यादि, न जाने कितने टैक्स देने पडते हैं।

१५. विलायत की एक मिल ने लाखो जूते बना कर भारत भेज दिये हैं। काशी मे बसनेवाला एक बाबू दूकान पर पहुँचता है और किसी न किसी जूते मे पाँव घुसेड देता है, एड़ी, पंजा बराबर हुआ कि पैसे देकर जूता घर लाता है। विलायत की कम्पनी को क्या मालूम कि काशी मे एक अमुक बाबू को जूते की जरूरत है; ऐसा ध्यान होना भी कारखानो के स्वभाव के विरुद्ध है। लाखो-करोड़ो की लागत वाला कारखाना जितना ही जल्द, जितनी ही अधिक उपज कर सके, उतना ही लाभदायक है। बाजार और खरीददार की न उसे चिन्ता करने का समय है, न बाजार और खरीददार से उसका सम्बन्ध रह जाता है। गुणविहीन, अस्वास्थ्यकर एवं कृत्रिम वस्तुओ की उत्पत्ति हो जाने पर उसकी खपत करनी पड़ती है, फिर प्रचार, चालबाजी, संघर्ष, युद्ध और फिर महायुद्ध प्रारम्भ होता है। युद्ध मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था का एक आवश्यक अङ्ग है, इसलिए कि नकली घी, 'कण्ट्रासेप्टिव्स' (कृत्रिम मैथुन के कृत्रिम साधन) बमवर्षक, राइफलें, अलकोहल (मादक द्रव्य), स्पिरिट, सफेद चीनी, कल-कारखानो के 'बाइप्रोडक्ट्स' तथा 'सिनथेटिक फूड्स' (नकली भोजन) और सिन्थेटिक गुड्स (नकली माल) को मनुष्य के माथे मढ़ने के लिए संघर्ष अनिवार्य है।

युद्ध और संघर्ष उद्योगवाद की अनिवार्य शर्त है

१६. दूसरी ओर है ग्रामीण समाज और ग्राम्य सभ्यता। किसान खेती करता है। उसके पास ही हल, बैल, चरखा, करघा और कोल्हू-सी मशीनें हैं; पर यह इनका स्वामी है, कारखानो के व्वायलर का खलासी नहीं। उसकी मशीनें उसकी इच्छा पर निर्भर हैं न कि वह स्वयं मशीनो का गुलाम है। उसकी इच्छा और सुविधा होती है तो वह उन्हें चलाता है अन्यथा बन्द रखता है। जितनी उसे आवश्यकता है वह उतनी उपज कर लेता है। एक मनुष्य को जूते की आवश्यकता है। वह सीधे चमार के पास जाता है। चमार उसके नाप और मर्जी के

ग्रामीण समाज : ग्राम्य सभ्यता

अनुसार जूता बना कर दे देता है। ठाकुर साहब की लड़की का विवाह है—चार मन तेल चाहिये। तेली चार मन तेल पेर देता है। हमे कपड़ा, मसाला, हींग, मूँगा, मोती या बरतन की आवश्यकता है। सप्ताह मे दो बार आस पास वाले अपनी-अपनी चीज लेकर आ जाते हैं और लोग लेन-देन कर लेते हैं। यह है हमारा बाजार-हाट। यहाँ २४ घण्टे खुली रहनेवाली शीशो और बिजली मे सजी हुई चमाचम दूकानो की नुमाइश की जरूरत नहीं। यहाँ तो जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के तरीके हैं, न कि अनावश्यक नुमाइश मे धन और शक्ति फूँकने का बन्दोबस्त। यहाँ लोगो को धोखा देकर गलत काम या गलत वस्तु के व्यवहार का प्रलोभन नहीं है। यहाँ यही नहीं कि कपड़ा देकर अनाज और अनाज देकर गहने मिल जायेगे, बल्कि सैकड़ो बात बिना पैसे के ही होती हैं—धोबी, चमार, नाई, मेहतर, सभी अपना-अपना कार्य करते रहते हैं और बदले मे उनको "साली" दी जाती है अर्थात् साल भर के हिसाब से उनको अनाज या खेत दे दिया जाता है। उत्पादन का उद्देश्य जीवन व्यवस्था और जीवन सुविधा है, न कि पैसा और प्रभुत्त्व।

यहाँ उत्पादन का उद्देश्य जीवन व्यवस्था और जीवन सुविधा है

१७. इस तुलनात्मक विवेचन से मूल तत्त्व यह सिद्ध हुआ कि आज की कलमय सभ्यता मे उत्पादन का लक्ष्य पैसो पर है और इसने मनुष्य के जीवन मे साधन से साध्य का स्थान प्राप्त कर लिया है। कारखानो ने इसे सहज सिद्ध भी बना दिया है। फिर हमारे दुखो का अन्त हो कैसे? उलटे हिंसा और अनाचार बढ़ते जायेंगे। इसलिए जब तक हम मशीनों का मोह छोड़ कर ग्राम्य सभ्यता को न अपनायेंगे तो कल्याण नहीं क्योकि मशीनो का उद्देश्य ही ग्राम्य सभ्यता का शहरीकरण है।

पैसा : साधन से साध्य

१८. जन समाज के भौतिक तथा नैतिक कल्याण पर लक्ष्य रखनेवाली किसी भी भारतीय सस्था को ग्रामसुधार की ओर ध्यान देना ही होगा, क्योकि गॉव ही यथार्थतः हिन्दुस्थान है।

गॉव ही हिन्दुस्थान है

१६. अभी कहा जा चुका है कि आजकल की पाश्चात्य सभ्यता तत्वतः नगर-सस्कृति यानी शहरी है। बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के केन्द्र उत्पन्न हो गये हैं। वहाँ विशाल पैमाने पर पक्का माल तैयार होता है। लाखो आदमी वहाँ खिचे जा रहे हैं और एक ही साँचे मे ढल रहे हैं।

पश्चिमी सभ्यता शहरी चीज है

२०. भारतीय संस्कृति का मूल आधार खेती है। खेती की बुनियाद पर ही हमारी सस्कृति की इमारत खडी हुई थी। ऐसी स्थिति मे पश्चिम का अन्धानुकरण करना हमारी राष्ट्रीय परम्परा के प्रतिकूल और हमारी सास्कृतिक गठन के लिए घातक होगा, क्योकि प्राच्य और पाश्चात्य मे मौलिक अन्तर है।

कृषि: भारतीय सस्कृति का मूल आधार है

भारतीय सभ्यता की नींव मे समय के घात-प्रतिघात को सहने का गुण है और वह नींव हजारो वर्षों तक टिकी रही है। अतः यह समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है कि हमारी प्राचीन सस्कृति की इमारत मे हमारे आदि निर्माताओ की योजना क्या थी? उसके आधारात्मक तत्त्व क्या थे?

प्राचीन सस्कृति के आधारात्मक तत्त्व

(अ) समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीविका के अत्यन्त आवश्यक साधनो का अवश्य मिलना। इसके लिए काम करनेवाले मजदूरो को वस्तु पदार्थ के रूप मे वेतन दिया जाता था। इस तरह उनकी खाने-पीने की जरूरत पूरी हो जाती थी। यह समझने मे कठिनाई न होगी कि ऐसी पद्धति से किसी को भूखो नहीं मरना पड़ता था। इस लक्ष्य की सिद्धि का दूसरा उपाय था—सम्मिलित परिवार-पद्धति। इससे सम्पत्ति मे अधिक वैषम्य नहीं होता था।

जीविका के आवश्यक साधनों की गारन्टी सम्मिलित परिवार द्वारा

(ब) स्पर्धा तथा स्वार्थ वृत्ति को निरंकुश न होने देना और सहयोग की वृद्धि करना। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा समाज का काम लोगो मे बँट गया था। अलग-अलग समुदाय अपना-अपना कार्य समुचित रीति से करता था। इससे यह होता था कि यदि कोई धधा किसी समय फायदेमन्द हो गया, तो सभी

स्पर्धा तथा स्वार्थपरता पर अकुश—वर्ण व्यवस्था द्वारा

के सभी एकदूसरे की स्पर्धा करने, तथा जितना हो सके, उतना नफा प्राप्त करने के लिए उस पर टूट नहीं पडते थे, जैसा कि आजकल होता है। ऐसा करने से सारी सामाजिक व्यवस्था भग हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब वकालत के व्यवसाय मे खूब पैसे मिलने लगते हैं, तब सभी वकील बनने लगते हैं; समाज को कितने वकीलो की आवश्यकता है, इस पर कोई विचार ही नहीं करता। वर्णव्यवस्था सघ-निष्ठा तथा पारस्परिक सहयोग का भाव भी पैदा करती थी। जिनका जन्म तथा पालन-पोषण शहरो मे हुआ है, उनमे इन भावो का प्रत्यक्ष अभाव देखा जाता है।

वर्णव्यवस्था से सघ-निष्ठा और सहयोग भावना को जन्म मिलता था

(स) प्रत्येक गाँव को इस प्रकार स्वावलम्बी बनाना कि वह अपनी आवश्यकता खुद ही पूरी कर ले और जीवन की मुख्य जरूरतो के लिए परमुखापेक्षी न रहे। ऐसा होने पर, गाँवो के भिन्न-भिन्न उद्योग-धधे सुचारु रूप मे चलते थे। बाहरी शक्ति या विदेशी सत्ता के द्वारा गाँव की आर्थिक लूट नहीं हो पाती थी। शासन की दृष्टि से भी गाँव स्वतत्र था। गाँव का कारबार गाँव ही चलाता था। प्रत्येक गाँव मे पंचायत थी। पंचायत की देख-रेख मे प्रत्येक गाँव स्वय एक प्रजासत्तात्मक राज्य था। ग्राम्य जीवन के सभी पहलुओ का ठीक-ठीक कार्य संचालन पंचायत के हाथ मे था।

गाँवों में स्वावलम्बन और आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था— पचायत द्वारा

(द) आध्यात्मिक बातो को प्रथम स्थान दिया जाता था, यह बात इसी से प्रकट है कि राजा या व्यापारी को नहीं, बल्कि ज्ञानी पुरुषो तथा धर्मोपदेशको का सब से अधिक सम्मान होता था। राजा चाहे कितना ही धनवान या बलवान होता, वह अपने दरबार मे अकिंचन परिव्राजक या दरिद्र ऋषि की पूजा करता तथा उसके पाँव छूता था। इसी प्रकार केवल धनोपार्जन या धनसचय का कोई विशेष मूल्य नहीं था। इसके विरुद्ध सन्यास या त्याग ही मानव जीवन के विकास की सर्वोच्च स्थिति मानी जाती थी।

आध्यात्मिक विकास का महत्त्व

२१. पाश्चात्य सस्कृति इन आदर्शों के बिलकुल विपरीत है। जैसा कि

पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी समाज की नींव दरबारी जीवन है।

पश्चिमी सभ्यता प्राणघातक स्पर्धा पर अवलम्बित है

उसमे जीवन की सादगी का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व है तो आमोद-प्रमोद के साधनो का बाहुल्य तथा सुख-सम्पदा की सामग्री की अधिकता का। जो धनवान है उसी का सम्मान होता है। राजा उसे ऊँचा पद प्रदान करता है और इस प्रकार सहज ही उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य समाज का आर्थिक सगठन प्राणघातक स्पर्धा पर अवलम्बित है। जो कमजोर हैं, वे गर्त मे गिरते चले जाते हैं। जो बलिष्ठ हैं, वे दुर्बलो को लूट कर अधिक बलवान होते जाते हैं। वहाँ के आर्थिक विकास के पीछे कोई विचारपूर्ण योजना नहीं है। नतीजा यह हुआ कि माँग के हिसाब से उत्पत्ति मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी है, उत्पादन तथा वितरण मे कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है और इस प्रकार सारी आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी है। लोभ की कोई सीमा नहीं है, और प्राणघातक स्पर्धा कच्चे माल तथा बाजार के लिए मुँह खोले हुए खडी है। उसे मनुष्यता तथा नैतिकता से क्या मतलब ? रक्त मे लुण्ड-मुण्ड पश्चिमी राष्ट्रो की इन दिनो जो भयंकर स्थिति है, उसे देखकर हमे चेत जाना चाहिये। अन्यथा पुनर्निर्माण के नाम पर पश्चिमी उद्योगवाद का अंधानुकरण हमे खाकर रहेगा। परन्तु पश्चिमी पद्धति को निकम्मी कहकर फेंक देने और पुनर्रचना का कार्य आरम्भ करने के पहले हमे ससार की प्रचलित पद्धतियो की भी संक्षेप मे समीक्षा कर लेना जरूरी है ताकि हम यथार्थ से दूर न हो जाये—

२२. आजकल दो मुख्य आर्थिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं—(अ) पूँजीवाद और (ब) समूहवाद।

२३. जिस प्रकार पूँजीवाद मे व्यक्ति पूँजीवाद का गुलाम था उसी प्रकार समूहवाद मे वह सार्वजनिक सत्ता के हाथ का खिलौना बन बैठा,

समूहवाद और व्यक्ति

क्योकि स मू ह मे सार्वजनिक सत्ता सर्वोपरि है। कुछ इने-गिने पुरुष राष्ट्र के लिए योजनाएँ बनाते और उन्हे कार्यान्वित करते हैं और शेष लोग उनके आदेशो का पालन करने के सिवा कुछ कर ही नहीं पाते। यह बात समूहवादियो को अवश्य मान्य न होगी। वे यह दावा करते हैं कि मुट्ठीभर व्यक्तियो के हाथो मे कार्य सचालन की बागडोर नहीं रहती, किन्तु लाखो श्रमजीवी कौसिलो मे इकट्ठे होकर अपने भाग्य का निर्णय करते हैं। जिसे

लाखो व्यक्तियो को राय से किया गया निर्णय कहा जाता है, उसका कतिपय सत्ताधारियो की हाँ मे हाँ मिलाने के अतिरिक्त और क्या अर्थ हो सकता है ? चाहे ऐसा न भी हो, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि समूहवाद के भीतर, जहाँ तक उत्पत्ति का सम्बन्ध है, व्यक्तिगत कर्तृत्व शक्ति, सृजन शक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और इनके अभाव मे उन असख्य चीजो की कीमत ही क्या, जिनका निर्माण समुदायवाद मजदूर वर्ग के लिए करना चाहता है ? आखिर मनुष्य अपने व्यक्तित्व को ही सबसे मूल्यवान वस्तु समझता है और व्यक्तित्व का अर्थ है विचार स्वातंत्र्य तथा विकास स्वातंत्र्य। इसके विपरीत यदि उसे अन्य व्यक्ति के इशारो पर नाचना पड़ता है तो वह अपने व्यक्तित्व से, जो मनुष्य के नाते उसकी सबसे बडी सम्पत्ति है, हाथ धो बैठता है और समाज व्यवस्था का इससे बढकर दूसरा दोष क्या हो सकता है ? आखिर व्यक्तियो के समूह का हा तो दूसरा नाम समाज है ? जो सामाजिक पद्धति व्यक्तित्व को नष्ट करती है, वह अपने पैरो पर आप ही कुठाराघात करती है। परन्तु समुदायवाद इसका इलाज नहीं कर सकता।

समुदायवादियों ने पूँजीपतियो की निरंकुश लाभ-लिप्सा का विरोध किया, किन्तु उन्होने स्वयं सामूहिक उत्पत्ति पूँजीवादियो से ज्यों की त्यो ले ली। सामूहिक उत्पत्ति है क्या ? यही न कि कुछ बलवान लोग एक जगह बैठकर विचार करें और उत्पादन की योजना का ठेका ले लें और शेष लोग उनके हाथ के कठपुतले बने रहे ? उत्पत्ति के केन्द्रीकरण का यही तो मतलब है। श्रमजीवी वर्ग अथवा जन-समूह को तो पूँजीवाद तथा समूहवाद, दोनो मे एक सामान्य रोग से पीडित होना पडता है और वह यह कि मजदूर या तो विना चीं-चपड़ किये काम करे अथवा भूखो मरे। इसके सिवा दूसरा चारा ही नहीं।

एक अचूक ओषधि

२४. इस पर यह शंका की जा सकती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसके इच्छानुसार वस्तु बनाने की आज्ञा दे दी जायगी तो घूम फिर कर पूँजीवाद आ जायगा। उसमे भी तो एक ही मनुष्य अपनी अर्थ लोलुपता के द्वारा सारी उत्पत्ति पर अपना एकाधिकार कर लेता है। इसे तो हमे टालना ही होगा और सरलतापूर्वक टाला भी जा सकता है। हमे केवल बडे पैमाने पर अपरिमित पैदावार करनेवाली बडी-बडी मशीनो को इस प्रकार छोटे पैमाने पर वस्तुएँ उत्पन्न करनेवाली बना देना होगा ताकि उनको चलाने-

वाला भी एक ही व्यक्ति हो और वह अपने पौरुष और परिश्रम से, बिना किसी अन्य व्यक्ति का सहारा लिये ही, क्रियाशील हो सके। उदाहरण के लिए हम सीने की मशीन को ले सकते हैं। इस तरह हमे सारे रोग की एक अचूक औषधि प्राप्त हो सकती है।

स्वदेशी का आदर्श और व्यवहार

२५. इसके अतिरिक्त, हमे जनसमूह को स्वदेशी के आदर्शों की शिक्षा देनी होगी। इसके अनुसार वह अपना यह कर्तव्य समझेगा कि दूर-दूर से आये हुए माल की अपेक्षा अपने निकटतम पड़ोसी द्वारा बनाये हुए माल को प्रोत्साहन देना चाहिये। इसका मतलब यह है कि हमे गाँवो को स्वावलम्बी बनाने के प्राचीन आदर्श को कार्यरूप मे परिणत करना होगा ताकि लोगो की प्राथमिक आवश्यकताएँ पर्याप्त रूप से गाँव के भीतर ही पूरी की जा सकें। इस प्रकार जब प्रत्येक ग्राम कम-से-कम अपनी मुख्य आवश्यकताएँ पूरी करने मे स्वावलम्बी हो जाता है और जब अपनी तथा अपने निकटतम पडोसी की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए चीजें पैदा करना श्रमिक का ध्येय बन जाता है, तब गाँव मे ही उसके माल के लिए निश्चित माँग हो जाने से, उसकी पैदावार नियन्त्रित हो जायगी और ऐसा हो जानेपर अत्युत्पादन का प्रश्न ही न खड़ा होगा और बाजार ढूँढने की समस्या भी न रहेगी। स्वदेशी के आदर्श पर चलने से खपत के लिए वैदेशिक बाजारो के लिए परेशानी दूर हो जायगी और फिर किसी भी व्यक्ति के लिए उत्पादन पर अपना एकाधिकार करने की आवश्यकता ही न रह जायेगी।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वकुटुम्ब से ही श्रीगणेश

२६. ऐसे जमाने मे जब कि रेडियो, वायुयान तथा तार ने मनुष्यो को एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे ला दिया है तथा दुनिया मे एक स्थान से दूसरे स्थान का अन्तर कम हो गया है ससार को टुकड़ियो मे इस तरह बाँट देना कि जिससे पारस्परिक प्रभाव के आदान प्रदान का मार्ग ही अवरुद्ध हो जाय, सरीहन मूर्खता होगी। स्वदेशी के प्रचारको का वास्तव मे ऐसा ध्येय नहीं है। "खैरात घर से शुरू होती है"—इस लोकोक्ति से स्वदेशी का अर्थ प्रकट हो जाता है। हमारा प्रथम कर्तव्य अपने निकटतम पड़ोसियो के प्रति है और फिर धीरे-धीरे यह कर्तव्य वर्त्तुलाकार मे विस्तृत होकर समस्त मानवता मे व्याप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए कुटुम्ब को ही लीजिये।

दूसरो की अपेक्षा उसका यह कर्तव्य अधिक है कि वह अपने कुटुम्ब का पालन पोषण करे। कुटुम्ब के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने से ही वह समाज तथा मनुष्य के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर देता है।

२७. कुटुम्ब, समाज या मानव जाति को यदि वर्तुल की उपमा दी जाय, तो इन तीनो का केन्द्र एक ही बिन्दु पर होगा, अलग-अलग नहीं।

स्वदेशी का व्यावहारिक अर्थ

छोटे और बड़े वर्तुल मे विरोध होना जरूरी नहीं है और जब हम छोटे वर्तुल की सेवा करते हैं, तो बडे की सेवा अपने आप हो जाती है। हम इर्द-गिर्द रहनेवालो के प्रति कर्त्तव्य पालन करें—यही अर्थ हमको स्वदेशी का लगाना चाहिये।

२८. इस प्रकार विचार यह है कि गाँवो मे से बाहर की दुनिया मे जानेवाले धन का प्रवाह रोक कर उसे गाँवो की ओर मोड दिया जाय, ताकि वे फिर से फूलें-फले। पहले भारतीय गाँव

भारतीय ग्रामोद्योग का लक्ष्य

अपनी जरूरत की सब चीजें खुद बना लेते थे और उनके रूई, रेशम, गलीचे, पीतल और हाथी दाँत की कारीगरी आदि के कुछ उद्योग तो ससार के लिए ईर्ष्या की वस्तु थे। कोई वजह नहीं मालूम होती कि अब भारत निरा खेती करनेवाला देश ही क्यो रह जाय और इससे भी बुरी बात यह है कि सर्वसाधारण की दरिद्रता दिन-दिन बढती जा रही है। इससे पता लगता है कि यदि ग्रामोद्योग इसी तरह अबाधित रूप मे नष्ट होते रहे तो सर्वसाधारण का सफाया ही हो जायगा।

२९. हमने बार-बार दुहराया है कि किसी भी समाज के सामूहिक संघटन मे उसके आर्थिक स्वार्थो का एक विशेष स्थान होता है। फलतः उन स्वार्थों की सञ्चालन विधि से समाज की बनावट पर

समाज की बनावट में आर्थिक स्वार्थो का विशेष स्थान

बहुत बडा असर पडता है। इस प्रकार हमने देखा है कि आर्थिक स्वार्थों की अपनी निश्चित प्रणाली द्वारा समाज की एक निश्चित रूपरेखा बन जाती है। यही कारण है कि ससार की सामाजिक बनावट ने प्रमुखतः दो निश्चित प्रकार का रूप धारण कर लिया है—शहरी और ग्राम्य। और साथ ही साथ हमने यह भी देखा है कि इन दोनो मे से सर्वोपरि व्यवस्था कौन है।

अब हमें भारतीय समाज की इस ग्राम्य प्रधान व्यवस्था के आधारात्मक तत्व को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

(स) भारतीय समाज का आधारात्मक तत्व

समाज की वर्तमान स्थिति

३०. घर, बाहर, देश-विदेश, जहाँ भी देखिये, लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही जीवन का परम लक्ष्य समझने लगे हैं। धोखादेही, चोरी, फरेब, मक्कारी या हत्या—जैसे भी सम्भव हो, अपनी बात बना लेना ही लोगो का ध्येय हो गया है। और नतीजा ? ज़रा आँख उठाकर देखिये। खून की नदियाँ बह रही हैं, मुजरिम, बेगुनाह, सब उसी एक चक्की मे पीसे जा रहे हैं। किसी की स्त्री ले भागना, किसी को लूट लेना या कत्ल कर देना, लाखो को निचोड़ कर स्वय धन के गुलछर्रे उड़ाना या सारी कौम को गुलामी के शिकजे मे कसकर स्वयं फूलते-फलते जाना—यह है हमारी वर्तमान सभ्यता का चित्र, राजनीतिक स्वतंत्रता का सीधा-सा रास्ता। धर्म और नीति, त्याग और बलिदान—जो है, सब यही है। वर्तमान समय मे सारा सामाजिक चक्र स्वार्थ की नारकीय लीलाओ का गर्हित पिण्ड बन गया है।

भारतीय सभ्यता अमिट है—क्यों ?

३१. हमे तनिक भी विरोध नहीं कि समाज के सामूहिक सुख और समृद्धि के लिए उत्पादन चक्र को निश्चल, निर्विघ्न रूप से चलते रहना चाहिये। उसका व्यापार-व्यवहार एक जबर्दस्त आर्थिक स्तम्भ पर खड़ा होना चाहिये अन्यथा सारा जीवन क्रम ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। जीवन पदार्थों की पूर्ति के लिए एक समुन्नत विधान की आवश्यकता है; यह एक ऐसी बात है, जिससे किसी भी जाति या समाज को अमिट अस्तित्व प्राप्त होता है। बैबिलॉन की सभ्यता ऐसी मिटी कि उसका कोई नामोनिशान भी नहीं। अफलातून का प्रजातन्त्र ऐतिहासिक विस्मृति बन चुका है। रोमन वैभव की गाथाएँ उपाख्यानो मे ही शेष रह गयी हैं। परन्तु नित्य-निरन्तर विदेशियो के आक्रमण और हत्याकाण्ड का शिकार होते रहने पर भी, हूण से लेकर गजनी, गोरी, मुगल, अङ्गरेज, पोर्चगीज और फ्रांसीसियो की गुलामी मे पड़े रहने पर भी भारतीय समाज का अस्तित्व कायम है। किसी भी समाज की अटल नींव का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। उस गठन का विश्लेषण करने से ही हम भूत और

वर्तमान के सन्तुलन मे सफल होगे और यह विचार कर सकेंगे कि वास्तव मे तब क्या था और अब किसकी आवश्यकता है।

वर्तमान समस्याओं का सामाजिक मान्यताओं पर घातक परिणाम

३२. हमारे अर्वाचीन विचारको का कहना है कि—"तब और अब मे महान अन्तर है, तब हमारी आज जैसी समस्याएँ न थीं।" समस्याओ से इनका अर्थ है—तब आज की बढ़ती हुई आबादी का सवाल न था; इसलिए डाक्टरी गर्भपात, फ्रासीसी औजारो, अंग्रेजी दवाइयो द्वारा जनन निग्रह को मानव-धर्म का पहला नियम बना कर वे रोटी और जीवन पदार्थों के प्रश्न को हल किया चाहते हैं। मतलब यह कि रोटी के आगे मानवता का मूल्य नहीं, जो बातें तब पाप समझी जाती थीं, अब वही समाज के धर्म मे शामिल की जाती हैं, उन्हे हमारे आर्थिक उद्धार का साधन बनाया जा रहा है। परन्तु आबादी के इन महापण्डितो के पास किताबो या व्यावसायिक केन्द्रो का सैर के सिवा कोई विशेष साधन नहीं है। कलकत्ता या बम्बई की तग गलियों मे कुर्सी पर बैठे-बैठे, मोटर या रेल की तेज़ सवारियो मे उडते हुए उन्हे स्वप्न सवार हो गया है कि सारी दुनिया ठसाठस भर गयी है, चलने-फिरने को भी जगह नहीं। भिन्न-भिन्न जातियो या भिन्न-भिन्न भागो मे पहुँच कर उन्होने कोई समस्या का साक्षात् अध्ययन नहीं किया, फिर भी, वे शोर मचा रहे हैं कि दुनिया की आबादी बे-शुमार बढ़ गयी है, इसलिए गर्भाधान की फजीहत को खतम करके जनसंख्या को फौरन घटा देना चाहिये। इस तरह वे समाज की सारी मान्यताओ को उलट-पुलट देना चाहते हैं।

३३. अर्थशास्त्र के विद्वान् डा० ग्रेगरी का भारत की आबादी के बारे मे ठीक यही मत है :—

जनाधिक्य—डा० ग्रेगरी का मत

"जनाधिक्य का भय भारतीयो को उसी प्रकार परेशान कर रहा है जैसे जनक्षय का भय इग्लैण्ड को। परन्तु प्रत्यक्ष बातें भी वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वहीन हो सकती हैं। यह ठीक है कि यदि पैदाइश मृत्यु से अधिक हो, तो जनाधिक्य का भय होगा, परन्तु भिन्न-भिन्न जातियो मे, भिन्न-भिन्न भागो मे, पैदाइश और मृत्यु का अनुपात क्या है, इसके न तो आँकडे हैं, और न कुछ साधिकार कहा जा सकता है। देखा जाय

तो वास्तव मे पैदाइश की रफ्तार जरूरत से ज्यादा नहीं और लोगों ने व्यर्थ ही भय को विराट् रूप दे दिया है।"

अमेरिका के कृषि विभाग के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, भू-तत्ववेत्ता, डा० चार्ल्स ई० केलॉग, लिखते हैं—"आज यह हर्गिज समस्या नहीं है कि संसार की बढ़ती हुई आबादी के लिए धरती की उत्पादन शक्ति बढ़ायी जाये, बल्कि समस्या यह है कि सामाजिक संस्थाओ द्वारा बेकार जमीनो में उत्पत्ति की जाये। नयी जमीनो की उत्पत्ति और पुरानी जमीनो की अधिक पैदावार से इतनी पैदावार हो सकती है कि जो हमारी जरूरत से बहुत ज्यादा होगी।"

डा० केलॉग का मत

यह अभिमत अमेरिका को लेकर खडा होता है। संसार के अन्य अनेक देशों के प्रसग मे तो यह कल्पनातीत पुष्टि धारण करता है। भारत, रूस, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, चीन तथा अन्य एशियायी देशो के सम्बन्ध मे तो यह विशेष रूप से लागू होता है।

इन अर्थशास्त्रीय तथा वैज्ञानिक सम्मतियो को देख कर जनन-निग्रह के आधार पर नये समाज की पुकार करनेवालो को सावधान हो जाना चाहिये।

जनन निग्रह की प्राकृतिक समाज व्यवस्था

३४. हमारा मतलब यह नहीं कि बिना रोक-टोक बच्चे पैदा करते जाइये। पहले तो यह स्मरण रहना चाहिये कि प्रकृति स्वतः किसी बात को हद से आगे नहीं बढ़ने देती और दूसरे यदि हम प्राकृतिक नियमो का अनुसरण करें तो हमे बनावटी तरीको का शिकार न होना पड़ेगा। एक जनन निग्रह की ही बात लें। हिन्दू शास्त्र ने हजारो वर्षो के अनुसन्धान और मनन के पश्चात् निश्चय करके मानव जीवन को चार भागो मे बाँट दिया था:—(१) ब्रह्मचर्य्य (२) गार्हस्थ्य (३) वानप्रस्थ (४) संन्यास। आप देखेंगे कि सन्तानोत्पत्ति का अधिकार केवल गृहस्थ को ही था और वह भी यम-नियम और संयम के साथ। कैसा अच्छा विधान था, कैसा सुन्दर नियमन ! जनन निग्रह का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। क्या आप कहेंगे कि आबादी की बाढ़ रोकने का इसमे इलाज नहीं ? झूठे यह चिल्लाने से क्या लाभ कि तब आज जैसी समस्याएँ न थीं ? कहिये तब की समस्याएँ थीं क्या ? क्या आपने खोज और अध्ययन किया है या रात मे पड़े-पड़े किसी

उजडे हुए भारत का स्वप्न देखते रहे हैं ? यहाँ हम केवल दो-चार उदाहरणों से आपका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि किसी समाज की दीवार विज्ञान और अर्थशास्त्र की एक अटल नींव पर क्योंकर खडी हो सकती है।

प्राचीन सभ्यता एक दृष्टि

३५. अस्तु, पहले आज का सा ससारव्यापी 'ट्रान्सपोर्ट और कम्युनिकेशन' (सवारी और सन्देश) का विधान न था। परन्तु कुबेर और राम के 'पुष्पक विमान', कृष्ण और अर्जुन के 'रथ', शल्य का 'वायुयान' कैकेय देश की कुमारी महारानी कैकेयी का अयोध्या के राजा से विवाह, इत्यादि कुछ ऐसी बाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि हम सवारियो के अच्छे से अच्छे तरीके जानते थे। महल मे धृतराष्ट्र के पास बैठे बैठे सजय ने कुरुक्षेत्र का दृश्य देखा था—ऐसा क्योकर सम्भव हुआ ? वेद और ब्राह्मणो मे यन्त्रो का सलक्षण वर्णन है। महाभारत मे एक से एक शस्त्रो का विस्तृत उल्लेख है। वैभवशाली अट्टालिकाओ और सुसज्ज नगरो का चारो ओर चित्र मिलता है। ताजमहल की इजीनियरिंग या हजारो मन के पत्थर बिना क्रेन या मशीन के सैकड़ो फुट ऊपर पहुँचा देना कैसे सम्भव हुआ ? तो क्या इतने पर भी हम कह सकते हैं कि हम बिलकुल यन्त्रहीन, असभ्य और जगली थे ? हो नहीं सकता। और न तो हम यही कहते हैं कि हम यन्त्रहीन अवस्था के भक्त हैं। चर्खा, कर्घा, बिलोनी, दतमजन के लिए दातन और तो क्या, स्वय हमारा यह शरीर ही एक यन्त्र है।[१] फिर बात क्या है ? बात केवल इतनी सी है कि अब यन्त्रो का लक्ष्य केवल उत्पादन रह गया है न कि जीवन सुविधा। परिणामतः मशीनें बडे-बड़े कारखानो मे केन्द्रित हो गयी हैं और हम उनके चारों ओर एकत्र होकर समूहवाद को जन्म देने लगे हैं। समूहवाद का अर्थ है व्यक्तिवाद और व्यक्तित्व का ह्रास। बस! भेद और सघर्ष यहीं से उत्पन्न होता है। हमारे समाजशास्त्र मे व्यक्ति को प्रथम स्थान था, जो समूहवाद का अन्तिम ध्येय है, और जो हमारे धर्म और समाजशास्त्र में कूट-कूट कर भरा है। आप ही कहे, हमने देश और काल पर विजय प्राप्त करके कौन सा सुख पा लिया है ? हम तो समझते हैं सुख के बजाय उलटे दुःख की सृष्टि हुई है।[२] चारो ओर अधर्म और अनाचार, पाप

१ गाधी जी, Young India १३।११।२४ और, १७।३।२७

2 I whole-heartedly detest this mad desire to destroy time and distance, to increase animal (See P 138)

और हत्या का साम्राज्य फैल गया है। यह केवल बौद्धिक बहस नहीं, घटनाएँ सिद्ध कर रही हैं कि हम गलत रास्ते पर जा पड़े हैं और वहीं से घबड़ाये हुए रोगी के समान उलटी-सुलटी बातें सोचने लगे हैं। इस गलती का सबूत दो एक बातो से मिल जायगा। लार्ड लिनलिथगो ने कृषि सुधार और गो रक्षा की दृष्टि से डेयरी फार्म और साँडो का आन्दोलन उठाया। यह आन्दोलन सरकारी कोष और प्रोत्साहन के बल पर चलाया गया जो मरुभूमि मे ओस की एक बूँद के समान था। हिन्दूशास्त्र मे साँड़ छोड़ना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म अर्थात् वैयक्तिक कर्त्तव्य था; यह साँड़ समाज की सम्पत्ति[१] बनकर प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यो द्वारा कीर्तिमान सुरक्षा को प्राप्त होते थे। इस प्रकार व्यक्ति के स्वतन्त्र कार्य से समाज की सामूहिक आवश्यकता की सहज परन्तु निश्चित रूप से पूर्ति होती थी। इसी प्रकार अन्य हजारो बातें थीं जिनके लिए बड़ी-बडी सेनाएँ और पुलिस, शासन-विधान और 'ताजीरात हिन्द' की ईजाद करनी पड़ रही है, 'नैशनल प्लैनिंग कॅमिटी' और अर्थमन्त्री, सभी परेशान हैं, फिर भी पेचीदगियाँ बढ़ती जा रही हैं। इस संज्ञाहीन दशा को देख कर कहना पडता है कि हमारा बाह्य और अन्तारिक जीवन एक दूसरे से अलग हो गया है, जिसका प्राचीन समाजशास्त्रियो ने सुन्दर सामञ्जस्य कर रखा था। जब तक हम एक बार फिर उसी को नहीं अपनाते, समूहवाद, नाजीवाद, पूँजीवाद, अर्थात् सारे वाद व्यर्थवाद सिद्ध होगे, वैयक्तिक स्वतन्त्रता कहीं भी न मिलेगी; परिणामतः अनाचार और दमन का विस्तार होगा।

समाज के आर्थिक जीवन का उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर अवलम्बित है

३६. इस संक्षिप्त उल्लेख से हम केवल यही सिद्ध करना चाहते हैं कि आप इस गलतफहमी को छोड दे कि हमारे सामने तब आज सी आर्थिक समस्याएँ न थीं या हमारे समाज की नींव अर्थहीन आधार पर रखी गयी थी। यह भी नहीं कि तब यन्त्र न थे; यन्त्र थे पर मनुष्याधीन, न कि मनुष्य ही उनके अधीन हो गया था। इसी प्रकार आज भी, वर्तमान युग और परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए, यदि आप बाह्य और आन्तरिक जीवन का सामञ्जस्य नहीं करते, तो लाख करने पर भी

---

appetites and go to the ends of earth in search of their satisfaction —गाँधीजी, यंग इण्डिया १७-३-२७।

१. प्रिंस क्रोपॉट्किन ने अपने 'Mutual Aid' में फ्रॉस के किसी 'एम' समुदाय का उल्लेख करते हुए बताया है कि वहाँ—"साँड समस्त समुदाय की सम्पत्ति माने जाते है।"

उद्धार असम्भव है, जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व हमारे नैतिक जीवन पर नहीं, 'प्लैनिग कॅमिटी' के प्रस्ताव या समूहवादी सुधार, पुलिस, सेना या 'ताजीरात हिन्द' के भरोसे हम नवभारत की कल्पना भी नहीं कर सकते। विकराल बेकारी की दुरूह पीडाएँ समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी।

साराश, समाज के आर्थिक जीवन का उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन पर ही अवलम्बित होना चाहिये अन्यथा उसके वाह्य और आन्तरिक जीवन मे सामञ्जस्य कदापि स्थापित न हो सकेगा और परिणामतः सारा सामाजिक जाल क्षत-विक्षत हो उठेगा। भारतीय समाज रचना की यही एक मुख्य विशेषता रही है और आज भी समाज की पुनर्रचना मे उन सिद्धान्तो से बहुत कुछ प्रेरणा प्राप्त की जा सकती है।

(द) सहयोग या संघर्ष

३७. समाज की बनावट और उसके आधारात्मक तत्व को समझ लेने के पश्चात् अब हमे यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राच्य या पाश्चात्य, मनुष्य के सामूहिक जीवन का प्रेरणात्मक सूत्र क्या है। इस सम्बन्ध मे हमारी दृष्टि सर्वप्रथम ससार की परिवर्तनीयता पर जाती है।

यह एक अति सुबाध बात है कि यह जगत् परिवर्तनशील है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि यह परिवर्तन तात्त्विक है या उपकरणगत? और है भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न। मार्क्सवाद की प्रत्येक प्रचलित विचारधारा इसी द्वन्द्वमान तर्क-वितक को लेकर खडी होती है। वास्तव मे संसार के सम्मुख यही दो मुख्य प्रश्न हैं—अन्तर्द्वन्द्व अथवा सहयोग। अवश्य ही वस्तुओ (भारतीय दर्शन की भाषा मे वस्तुओ के रूप तथा प्रकृति) मे नित्य जो परिवर्तन अथवा विकास हो रहा है, उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व कार्य कर रहा है, पर यह अन्तर्द्वन्द्व तात्त्विक नहीं है, उपकरणगत है। यह वस्तुओ की प्रकृति मे है। यह पदार्थों मे है। सब पदार्थों के मूल मे जो तत्त्व है वह एक है, वह अव्यक्त और अरूप है। यदि मार्क्स दर्शन के तात्त्विक विरोध को हम मान लें तो पूर्ण सामञ्जस्य की किसी भी अवस्था की कल्पना असम्भव हो जायगी। तात्त्विक विरोध को कम भले ही किया जा सके, निर्मूल नहीं किया जा सकता। आश्चर्य यह है कि इस तात्त्विक अन्तर्द्वन्द्व को

जगत की परिवर्तनीयता — तात्विक या उपकरणगत?

मानकर भी मार्क्सवादी श्रेणीविहीन समाज का स्वप्न देखते हैं। जब मार्क्स के 'डायलेक्टिक्स' (अन्तर्द्वन्द्व) की धारणा को हम मान लेते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि समाज के मौलिक अन्तर्द्वन्द्व का भी अन्त न होगा। फिर यह कहना बिलकुल गलत है कि एक समय श्रेणीविहीन समाज की स्थापना होगी।[1]

३८. "प्रत्येक प्रकार के प्राणियों के जीवन में अन्तर्संघर्ष चलता है और उसी में उन्नति का मूल निहित है—ऐसा मान लेना किसी ऐसी बात को मान लेना है जो न तो अब तक सिद्ध हुई है और न तो प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि ही हुई है।[2] और यदि यह बात नहीं सिद्ध हुई है या प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि नहीं हुई है तो हम कहेंगे कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त का एक अङ्ग खण्डित है। खण्डित सिद्धान्त कभी पूर्ण अर्थात् द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त मान्य सिद्धान्त नहीं हो सकता। यदि विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व कोई प्रमुख महत्त्व नहीं रखता तो सारे द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का ही महत्त्व क्षीण हो जाता है। इस बात पर तनिक सूक्ष्म दृष्टि डालिये,—एक पड़ोसी के घर में आग लगी, लोग बिना बुलाये बुझाने दौड़े। यह स्वयम्भू प्रेरणा प्रकृति की स्वाभाविक सहयोग भावना है।[3] जुगाली करनेवाले पशुओं या घोड़ों का भेड़ियों से मुकाबिला करने के लिए गोलाकार बनाना, भेड़ियों का झुण्ड बनाकर शिकार में एक साथ निकलना,[4] बकरी के बच्चों और मेमनों का एक साथ खेलना, अनेक पक्षियों का साथ-साथ दिन बिताना, एक विस्तृत भू-भाग में फैले हुए हजारों लाखों हिरनों का प्रवास के काल में एक स्थान पर एकत्र होना—इत्यादि सिद्ध करता है कि मनुष्य और पशु, दोनों ने सहयोग और सहायता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति का परिचय पा लिया है जिससे ये सामाजिक जीवन में आनन्द का अनुभव करते हैं।[5] इस

---

१ 'गांधीवाद की रूपरेखा' पृष्ठ १५१ श्री रामनाथ सुमन।

२ 'संघर्ष या सहयोग' पृष्ठ ८ प्रिन्स क्रोपॉट्किन के 'Mutual Aid' का अनुवाद।

३ 'संघर्ष या सहयोग' पृष्ठ ७

४ इसी प्रकार असंख्य मछलियों का दलबद्ध होकर सामूहिक जीवन बिताना सिद्ध करता है कि 'मत्स्यन्याय' वाली प्रख्यात युक्ति सृष्टि का कोई आधारभूत नियम नहीं बन सकती। अपने न्याय और युक्ति को नैतिक जामा पहनाने के लिए ही आततायियों ने तर्क शास्त्रियों की सम्पूर्ण तर्क श्रृङ्खला में से इस एक लड़ी को लेकर अलग रख लिया था।

५ 'संघर्ष या सहयोग' पृष्ठ ७—८।

प्रकार सहयोग की भावना एक अनुभूत सत्य का आधार लेकर प्राणी मात्र का स्वभावसिद्ध गुण बन जाती है और पारस्परिक सहयोग का यही स्वभावसिद्ध कानून, न कि मार्क्स के अन्तर्द्वन्द्व की उत्पीडाएँ, सृष्टि के विकास का एक क्रियात्मक कारण बनता है। पारस्परिक सहयोग की यह शाश्वत भावना प्राणियो मे सदा-सर्वदा से चली आयी है। डारविन ने भी स्वीकार किया है कि "एक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी पर निर्भर है, सन्तति की उत्पत्ति और सुरक्षा एक दूसरे के सहारे ही वृद्धिमान स्थिति को प्राप्त होती है।"[1] जीवन या संघर्ष के क्रान्तिकारी सिद्धान्तो के इसी विश्व विख्यात प्रणेता ने आगे चलकर अपने "दि डिसेण्ट आव् मेन" नामक पुस्तक मे सिद्ध किया है कि असंख्य प्राणी समूहो मे पृथक्-पृथक् प्राणियो का परस्पर द्वन्द्व मिट जाता है, संघर्ष के स्थान मे सहयोग का अस्तित्व स्थापित होता है और परिणामतः उसका बौद्धिक और नैतिक विकास आरम्भ होता है। प्राणियो के अस्तित्वमान होने मे यही विकास क्रम सहायक होता है। डारविन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ऐसे समुदायो मे अधिक बलवान या चतुर को नहीं, समाज हित के लिए पोषक शक्तियो के संगठनकर्ता को ही योग्यतम (Fittest) गिना जाता है। जिस समुदाय मे ऐसे प्राणियो की बहुतायत होगी वही उन्नतिशील और फलीभूत होगा।

इतना सब होते हुए भी डारविन प्रभृति प्रकृतिवादियो ने जो सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाला है वह यह है कि सृष्टि की उन्नति का मूल संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व मे ही निहित है। इन प्रकृतिवादियो के इस गलत निष्कर्ष ने ही विश्व की विचारधारा मे एक गलत दृष्टिकोण की स्थापना करके मनुष्य को दिशा-च्युत करने मे बहुत बडा भाग लिया है।

सृष्टि का विकास संघर्ष से नहीं, सहयोग से ही सम्भव है

३६. आप ध्यानपूर्वक विचार कीजिये। प्रागैतिहासिक युगो में हम एक से एक बलशाली एवं विशालकाय तथा जीवन संघर्ष मे श्रेष्ठ सामर्थ्य रखनेवाले जीवधारियो का हाल पढ़ते हैं। वे चींटी और चूहो के समान भी न टिक सके। उनका नाम और निशान भी मिट चुका है। आज भी गोरिल्ला और शेर बब्बर भूतल से विलुप्त होते जा रहे हैं। क्यो? क्योकि ये संघर्ष प्रधान जीव हैं, सहयोग-प्रधान नही। इन प्रत्यक्ष सत्यो को देखकर हम

1 "Origin of Species by Darwin

निर्विरोध रूप से इसी लक्ष्य पर पहुँचते हैं कि सृष्टि का विकास संघर्ष द्वारा नहीं, सहयोग द्वारा ही सम्भव हुआ है।

योग्यतम (Fittest) कौन ?

४०. हम जब ध्यानपूर्वक देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि सब से योग्य वही होते हैं पारस्परिक सहयोग जिनका जीवन क्रम बन जाता है। इन्हीं के लिए जीवन सघर्ष मे विजय की अधिकतम सम्भावनाएँ होती हैं। अपनी-अपनी जाति मे वे शारीरिक अथवा बौद्धिक उन्नति की सबसे ऊँची सीढी पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विकास के लिए पारस्परिक सहयोग न कि अन्तर्द्वन्द्व सर्वोपरि सत्य है।

सहयोग प्राणी समाज का प्राकृतिक गुण है

४१. सन् १८८० ई० मे प्रिन्स क्रोपॉट्किन ने अपने एक भाषण मे कहा था—"मै जीवन-सघर्ष के अस्तित्व से इनकार नही करता परन्तु मेरा कहना है कि पारस्परिक सहयोग द्वारा प्राणी ससार तथा मानव समाज का कहीं अधिक विकास होता है।.....सब सेन्द्रिय प्राणियो की दो मुख्य आवश्यकताएँ होती हैं। एक तो यह कि उनको खाने को मिले, दूसरी यह कि वे अपनी जातियो की वृद्धि करे। पहली बात उनको पारस्परिक सघर्ष की ओर ले जाती है, दूसरी बात उनको पारस्परिक सयोग और सहयोग पर बाध्य करती है। परन्तु सेन्द्रिय प्राणियो के विकास के लिए अर्थात् उनकी शारीरिक घटा-बढ़ी के लिए पारस्परिक सघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग अधिक महत्त्व रखता है। भोजन के लिए भी पारस्परिक सघर्ष को एक निश्चित नियम मान लेना गलती होगी। यथार्थतः यहाँ भी समस्या का हल पारस्परिक सहयोग द्वारा ही सम्भव होता है। जब हम जीवन संघर्ष के प्रत्यक्ष और व्यापक, दोनो पहलुओ का अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम पारस्परिक सहयोग के ही उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं जो नस्ल के पालन-पोषण मे ही नहीं व्यक्ति के रक्षण और उसके लिए आवश्यक खाद्य सामग्री जुटाने के लिए होते हैं।"[1] कहने का अभिप्राय यह कि सहयोग तथा सामाजिकता, न कि

---

१. जीव-जन्तु, कीडे-मकोडे पशु और मनुष्य में एक समुदाय के प्राणियो का आपस में, तथा एक समुदाय के प्राणियो का दूसरे समुदाय के प्राणियो के साथ सहयोग के उदाहरण देखने के लिए "सघर्ष या सहयोग" देखिये।

अन्तर्द्वन्द्व, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, दोनो रूपो से, सृष्टि के विकास का मुख्य कारण है।

जीवन संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व

४२. परन्तु कुछ विद्वानो का मत है कि व्यक्तियो के स्वार्थ भिन्न हैं। भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। इसलिए उनके आचरण मे भी वैषम्य होता है।[1] भले ही देखने मे बात ऐसी ही हो परन्तु इसे कोई प्राकृतिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इसका खण्डन स्वतः उन्हीं के अगले वाक्य से हो जाता है—"जो परिस्थिति को ज्यो की त्यो रखना चाहते हैं और जो परिस्थिति को बदलना चाहते हैं, दोनो के दृष्टिकोण मे अन्तर है।"[2] भले ही सम्प्रदाय, समुदाय, जाति या समूह के स्वार्थो मे भेद नजर आ रहा है परन्तु व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थ मे तात्विक भेद होने के कारण सबका एक सम्मिलित उद्देश्य कैसे सम्भव हो सकता है ? यदि व्यक्ति के स्वार्थ मे भेद है तो वैषम्य व्यापक और अमिट होगा और अमिट मतभेदो मे साम्य स्थापित हो ही नहीं सकता। या यो कि लोग आपस मे लडने के सिवा मिलकर कभी समाज बना ही नहीं सकते। तनिक ध्यान से विचारिये—एक गॉव या प्रान्त मे गर्मी अधिक पड़ती है, वर्षा खूब होती है, चावल ही वहॉ की उपज है। वहॉ के प्रत्येक व्यक्ति की रहन-सहन गर्मी और वर्षा के अनुपात से और उसका खाद्य चावल होगा। इसके विरुद्ध स्वभाव वाले को उस देश से कहीं अन्यत्र का होना होगा और रहना भी अन्यत्र ही होगा, अन्यथा वह स्वतः क्षीण हो जायगा, कम से कम, जीवन मे तो वह स्वतत्र प्रगति प्राप्त कर ही नहीं सकता। इसी बात को यो कहा जायगा कि उस प्रदेश के समस्त प्राणियो का भोजन और उनकी रहन सहन एक सी होगी और इसी तदरूपता मे उनका स्वार्थ सिद्ध होगा अर्थात् किसी स्थान या प्रदेश के निवासियो का सामूहिक स्वार्थ और परिणामतः उनकी रहन-सहन, उनके आहार-व्यवहार आचार विचार तथा जीवन के मूल लक्ष्य एक समान होगे। इस प्रकार सामूहिक, जातीय, प्रादेशिक भेद हो सकते हैं—व्यक्ति-व्यक्ति मे नहीं। मतलब यह कि जीवन संघर्ष हो सकता है, अन्तर्द्वन्द्व नहीं। यथार्थतः सामूहिक विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो

---

१ समाजवाद, प्रथम सस्करण पृ० २० श्री सम्पूर्णानन्द जी।

२ समाजवाद प्रथम सस्करण पृ० २०, श्री सम्पूर्णानन्द जी।

कुछ प्राकृतिक वैषम्य होता है वह केवल उसी प्रकार जैसे किसी वृक्ष की विभिन्न आकार-प्रकार वाली पत्तियाँ सामान्यतः एक सी ही होती हैं और उनकी इस विषमता अथवा विभिन्नता से ही पत्तियों की स्थिति दृष्टिगोचर होती है अथवा जैसे स्त्री-पुरुष के आकार-प्रकार और भेद से ही दोनों का पृथक् पृथक् बोध होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक न होकर एक दूसरे के विरोधी हैं।

४३. आज समुदायो मे आन्तरिक सघर्ष छिडा हुआ नजर आ रहा है। परन्तु इसका कारण ढूँढने के लिए इसके रूप को ही समझना होगा।

समुदाय और अन्तर्संघर्ष

यह सघर्ष धनवान और दरिद्रों का, समर्थ और असमर्थों का है या यो कहिये कि एक कृत्रिम अवस्था जो उत्पन्न हो गयी है उसे मिटाकर लोग व्यक्ति-व्यक्ति की स्वाभाविक तद्रूपता को पुनः स्थापित कर देना चाहते हैं। कहने का अभिप्राय, आन्तरिक संघर्ष समुदाय को उत्पीडित कर देता है और उसे मिटाकर एक स्वाभाविक सामञ्जस्य के लिए लोग प्रकृतितः बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत का सचालन अन्तर्द्वन्द्व से नहीं, सहयोगी और सामाजिक प्रेरणाओं से ही होता है। इस सम्बन्ध मे दूसरी परन्तु पहली से अधिक महत्त्व की बात यह है कि मानव जगत की वर्तमान दशा कृत्रिम है और परिणामतः एक कृत्रिम स्वार्थ की भावना ने लोगो के मन मे घर कर लिया है। अतएव यदि व्यक्ति-व्यक्ति के आचार-विचार मे भेद दिखलाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। यह कृत्रिम अवस्था क्यों और क्योकर उत्पन्न हुई जहाँ पहुँच कर पारस्परिक सहयोग के स्वाभाविक प्रामुख्य के स्थान मे एक कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व को अवसर प्राप्त हुआ? यह है कलयुग। इसके पहले यदि पारस्परिक सघर्ष था तो केवल उसी प्रकार जैसे एक पिता के संरक्षण मे, एक ही घर मे, एक ही उद्देश्य लेकर दो भाइयों की, अथवा पति-पत्नी की, या एक ही मुँह मे अनेक दाँतों की टक्कर। परन्तु इन टक्करो को लेकर सारे मनुष्य स्वभाव को अन्तर्द्वन्द्व का रूप दे देना उचित नहीं दीखता। इतिहास के अगाध सागर से, दारा, औरंगजेब, शाहजहाँ अथवा कौरव-पाण्डवो के कुछ इने-गिने दृष्टान्तो को लेकर मानव-समाज की प्रेरणा स्वरूप व्यापक सहयोग भावना पर अन्तर्द्वन्द्व की वैसे ही झूठी चादर चढ़ाना है जैसे हिन्दुस्तान की ही हवा, मिट्टी और खून से बने हुए लोगो को हिन्दुस्तान भिन्न, हिन्दुस्तान के बाहर का, एक दूसरा पाकिस्तानी राष्ट्र बताना।

फिर रामराज और वर्तमान कलयुग के मध्य के काल मे भी तो संघर्ष और वैषम्य था, उसका कारण ? उसका कारण सुख और वैभव में पड़े हुए समाज का अपनी ही संचालन शक्ति से उदासीन हो जाना था, जिससे स्वच्छन्दता को अवसर मिला और आगे बढ़ जाने की लालसा मे वलवानो ने अपने समूह के दुर्वल लोगो को पीछे छोड़ कर या स्थितिवश दवा कर अपना झण्डा बुलन्द किया। फलतः सामन्तो की सृष्टि हुई या यों कि समाज धीरे-धीरे राजा और प्रजा मे, शासक और शासितो मे, स्वामी और दास मे वँट गया। स्वार्थ का कुचक्र चला। राजा या सरकार की सत्ता स्थापित हुई। उसने अपना शासनाधिकार भी तीव्र किया और समाज की स्वयम्भू नियमन और नियन्त्रण शक्ति मे हस्तक्षेप होने लगा। इससे समाज या तो अपनी नियामक शक्ति को सीमित समझने लगा और समय-समय पर अपने ही अवयवो के झगडे के निपटारे के लिए राजा का मुँह देखने लगा, या इस गुरुतर उत्तरदायित्व से ही वह विमुख हो बैठा क्योंकि राजा ने समाज के निर्णय को या तो ठुकरा दिया या उसका मान रखते हुए भी उस पर अपनी छाप लगाना चाहा। इस प्रकार स्वार्थी लोगो को समाज की उपेक्षा का साहस और एक अप्राकृतिक

समाज की नियामक सत्ता, समाज की निश्चेष्टा, समाज तत्र मे सरकारी हस्तक्षेप, अधिकार और कर्त्तव्य, बपौती का अनुचित रूप

प्रोत्साहन प्राप्त हुआ परन्तु जहाँ भी समाज की व्यवस्थापक शक्ति अब भी कुछ शेष रही (जैसे वर्ण विधान मे) वहाँ अधिकार तो चिपट कर पकड़ लिये गये परन्तु अधिकारियो के कर्त्तव्य जाते रहे। ब्राह्मण समाज का संचालक तो बना रहा परन्तु ब्राह्मण पद के योग्य बनने के लिए उसे क्या करना था, वह भूल गया। उसने इस प्रकार निराधार, स्वच्छन्द होकर अपने दण्ड का प्रयोग किया जिसके कारण विषमता और भी घातक होती गयी। परिमाणतः प्रत्येक ने अपनी-अपनी स्थिति को समाज से स्वतन्त्र होकर सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। अपनी-अपनी का अर्थ था बपौती प्रथा के एक अनुचित स्वरूप का उदय होना जिसका वैयक्तिक स्वार्थों को सुदृढ़ बनाने मे सर्वथा अनुचित रूप से प्रयोग किया गया। फलतः सामाजिक वैषम्य बे-लगाम होकर रूप विस्तार करने लगा।

४४. परन्तु, जिस प्रकार हवा मे तूफान के कारण, सागर मे भँवर

के उपरान्त, जल पुनः अपने धरातल मे आ जाता है, उसी प्रकार लोग कृत्रिम अवस्था से ऊबकर उसे सम करनेपर कटिबद्ध हो जाते हैं। भगवान् कृष्ण ने समीकरण की इसी प्राकृतिक प्रेरणा शक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था—

समाज में समीकरण की प्राकृतिक प्रेरणा—कृष्ण और गाधी

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।... ..

इतिहास इसका स्वतः प्रमाण है। महाभारत इसी वैषम्य के मूलोच्छेदन का एक प्रयास मात्र था। भगवान बुद्ध, ईसा, हजरत मुहम्मद—सब उसी कृत्रिम वैषम्य के मूलोच्छेदन पर आरूढ़ हुए थे। महात्मा गाधी उसी प्रकार अवतरित हुए और हम प्रमाण पूर्वक यह कह सकते हैं कि इस परिवर्तनशील और विकासमान सृष्टि का गतिक्रम मार्क्स के अन्तर्द्वन्द्व से नहीं, गाधी के अनुसार जगत् की स्वभावसिद्ध सहयोग भावना से ही संचालित होता है। अन्तर्संघर्ष का जो भी रूप दिखाई पड़ता है वह सर्वथा कृत्रिम और विकास-क्रम के लिए उपेक्षणीय है।

४५. हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि सृष्टि का विकास एक प्राकृतिक और स्वयम्भू सहयोग भावना के द्वारा ही सम्भव होता है। उसी को लेकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पुष्ट स्थिति का निर्माण करते हुए एक सम्पन्न समाज और सबल राष्ट्र के सामूहिक अस्तित्व को सुखद रीति से सम्भव बनाता है। समाजशास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप पर दृष्टि डालने से भी यह बात सिद्ध होती है कि समाज उसी समय बनता है जब भिन्न-भिन्न गिरोह परस्पर सहयोग के साथ काम शुरू करते हैं। बहुत से लोगों का आपस मे मिलकर एक दल हो जाने पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता का नाश हो जाता है और एक साथ रहनेवालो को पास-पड़ोसियो की सुविधा के ध्यान से अपनी जाति को सीमाबद्ध करके चलना पड़ता है—यहाँ घातक स्वच्छन्दता के स्थान मे एक परिणामजनक सहयोग का उद्भव होता है। सहयोग होते ही पारस्परिक निर्भरता का श्रीगणेश होता है। जुलाहे का बढ़ई के बिना, शिकारी का लुहार बिना, ब्राह्मण का क्षत्रिय और वैश्य बिना, काम अटकने लगता है और जब यह ऐक्य सम्पूर्ण हो जाता है तब हमारा समाज भी पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु केवल सहयोग कह देने से ही बात पूरी नहीं होती।

सहयोग और समाज

सहयोग का नियमित और निश्चित रूप से उपयोग करने के लिए, ताकि कोई स्वच्छन्द प्राणी समाज-चक्र में बाधा न डाल दे, संघटन की आवश्यकता होती है।

४६. सहयोग तीन प्रकार का होता है : प्रथम वह जो प्रारम्भिक दशा में वैयक्तिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक दूसरे की सहायता के विचार से स्वतः हो जाता है। दूसरा—जब संगठित हो जाने के उपरान्त, समाज दण्ड के भय से लोग सहयोग करने के लिए बाध्य होते हैं। तीसरा वह जो उन्नत दशा में जीवन की सुविधाओं के सुवितरण के लिए होता है। परन्तु जब तक लोगों का दल झुण्ड-बद्ध स्थिति में 'आज यहाँ मारा, कल वहाँ खाया' की तरह भटकता रहेगा तब तक कोई संगठन नहीं हो सकता, यदि हुआ भी तो स्थायी नहीं रह सकता। एक दल का दूसरे दल से संघर्ष होते रहने के कारण, युद्धकालीन व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाने के लिए, एक सरदार नियत करके ज्यों-ज्यों लोग अधिक संगठित होते जाते हैं सामाजिक संस्थाओं में भी वृद्धि होती जाती है। पहले बहुत से लोगों के संगठन से एक दल और एक जाति बनती है, फिर उस दल और राष्ट्र के सामाजिक जीवन को स्थिर रखने के लिए विभिन्न संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, पुजारी, व्यापारी, कारोबारी, अध्यापक, वैद्य, सैनिक, सेवक तथा नाना प्रकार के लोग उसी एक समाज संस्था के विभिन्न अङ्ग हैं। संघटन का गुण है कि कार्य और कर्तव्य के स्पष्ट हो जाने से संस्थाओं का क्रियात्मक निर्माण होता है। नृत्य, संगीत, युद्ध, वाणिज्य, सेवा, शिक्षा आदि की निरन्तर आवश्यकता पड़ते रहने के कारण, नर्तिकाएँ, गायिकाएँ और फिर उनका अपना-अपना कर्तव्य विधान बन जाता है। इस प्रकार जब लोगों के सहयोगी कार्यों द्वारा जीवन सुविधाएँ और साधन, अधिक सरलता से प्राप्त हो जाने के कारण संघर्ष की माया क्षीण होने लगती है तो समाज में वास्तविक उन्नति का प्रादुर्भाव होता है। संघर्षकालीन शासन और दण्ड की कठोरता से निकलकर लोग समाज संचालन में स्वयं सहयोग देने लगते हैं—प्रतिनिधित्व और जनसत्ता की स्थापना होती है।

सहयोग के प्रकार और प्रभाव

अब हमें यह देखना है कि इस सहयोग भावना को प्रत्येक व्यक्ति कार्यान्वित करने के लिए कार्य कैसे करता है। उस कार्य प्रणाली को

समाज का श्रम-विधान कहते है। अब हम सब से पहले इसी श्रम समस्या पर दृष्टिपात करेंगे।

(य) श्रम और कार्य

(१)

वस्तुस्थिति

४७. वास्तव मे देखा जाय तो श्रम और विश्राम के पारस्परिक सम्बन्ध से ही हमारे सामाजिक सघटन का सुसञ्चालन होता है। मानव समाज की आर्थिक भित्ति इसी आधार पर खड़ी है, यह जितना छोटा-सा प्रश्न है, उतना ही गूढ़ भी है।

परिश्रम के पश्चात् विश्राम करना जीव मात्र का प्राकृतिक स्वभाव है। कार्य से थक कर विश्राम करना एक बात है, परन्तु विश्राम का नाता फुरसत अर्थात् अवकाश से जोड़ देना दूसरी समस्या है। यह उलझन हमारे कार्य को शैली बदल जाने से ही पैदा हुई है। लोगो का उद्यम, उनकी कारीगरी और दस्तकारी स्वयं उनके पुरुपार्थ—(हाथ, मन, बुद्धि) और आवश्यकताओ के वशीभूत नहीं रही। जुलाहा जो ताना-बाना से लेकर सुन्दर सुरुचिपूर्ण कर्घे से थान उतारता था अब चर्खा-कर्घा छोड़कर किसी कपड़े की मिल मे सुबह से शाम तक कलो को सूत पकड़ाने या मशीन का हैण्डिल घुमाने मे बिता देता है। मोची कलापूर्ण और मजबूत जूते तैयार करने के बजाय किसी कारखाने मे जूते का कोई एक हिस्सा तैयार करते-करते जिन्दगी गुजार देता है। बडी-बड़ी मिलो से ढेर का ढेर माल तैयार हो रहा है; लोग मिल और मालिक की मर्जी तथा आवश्यकतानुसार काम पूरा करते-करते समाप्त हो जाते हैं, परन्तु न तो उन्हे इसमे दिलचस्पी है, न आत्म-सन्तोप। उन्हे यह भी तो नहीं मालूम कि वह कर क्या रहे हैं। उनका किया हुआ कहाँ, किसके पास जाता है—उन्हे कुछ भी पता नहीं। वह किसी एक काम के पूरे जानकार भी नहीं। किसी कारखाने मे धोती तैयार होती है, परन्तु उस एक धोती को पूरी उतारने के लिए पचीसो आदमी को पचीसो काम करने पड़ते हैं। परिणामतः, लोगो का अपने काम की सम्पूर्णता या सौन्दर्य से नहीं, काम की मजदूरी से नाता रह गया है।

४८. यह तो हुई मजदूरो की; मजदूरो के मालिक भी अपनी उपज

के ढेर, कहीं, कैसे भी, बेंचकर लागत और मुनाफा सीधा कर लेना चाहते हैं। जावा की चीनी की बोरियाँ भारत में खपें या जर्मनी मे, कलकत्ते के जूट की बोरियाँ फौजी खाइयो मे इस्तेमाल हो, या गल्ले के गोदामो में, बाटा के जूतो को कौन, किस उमर के, किस श्रेणी के लोग खरीदेंगे—मालिक या मजदूर—किसी को भी इन बातो से सरोकार नहीं। सरोकार है तो बस पैसो से। साराश, हमारे कार्य का उद्देश्य जीवन की आवश्यकता या निश्चित माँग नहीं, उत्पादन मात्र रह गया है और पैसा ही उसकी कसौटी है।

कार्यों का उद्देश्य

४९. हमारे कार्य का उद्देश्य ही जब हमारी सच्ची माँग और जीवन की आवश्यकताओ से दूर है, फिर भला श्रम और विश्राम, कार्य और उत्पत्ति का सच्चा सम्बन्ध कैसे स्थिर रह सकता है? परिस्थितियाँ ही बनावटी हैं तो अनुपात का बनावटी होना स्वाभाविक है। इतने पर भी लोग शोर मचा रहे हैं "फुर्सत" चाहिए। फुर्सत जीवन-विकास और मनोरञ्जन के लिए प्रथम आवश्यकता है। ठीक है, फुर्सत हो, परन्तु हमने तो रास्ता ही गलत अख्तियार किया है, फिकर केवल यह है कि किस तरह अधिक से अधिक उपज की जाय, किस तरह हमारा कार्य और हमारी उपज दूसरो से सस्ती और अधिक हो, या यों कि प्रतिस्पर्धा इस युग का एक सरल सा नियम बन गया है। जहाँ प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है, अवकाश की मात्रा कम होगी और यह प्रतिस्पर्धा जब तक दूर नहीं हो सकती जब तक सामूहिक उपज है, एक एक के बजाय राष्ट्र-राष्ट्र मे प्रतिस्पर्धा होगी, राष्ट्र का अर्थ है व्यक्तियो का समूह। फिर भी लोग जीवन की आवश्यकता और सच्ची माँग से दूर रहकर उसी अधिक पैदावार और अधिक पैसे के लिए कार्य करेंगे। इसलिए श्रम का कार्य से सच्चा अनुपात स्थिर होना कठिन होगा।

अवकाश— जीवन विकास के लिए

५०. दूसरा पहलू और भी दुखद है। सामूहिक उपज बड़े से बड़े कारखानो द्वारा ही सफल हो सकती है। बड़ी-बडी मशीनो का अर्थ है यदि प्रत्येक व्यक्ति समुचित रूप से श्रम करे तो कम से कम लोगो को काम मिले। या यो कि अधिक से अधिक लोग बेकार रहे, भूख और रोग की उत्पीड़ा से परेशान हो। इस तरह सच्चा

प्रश्न अवकाश का नहीं, श्रम के साधन और तरीकों का है

प्रश्न यह है कि सही तरह से पूरा श्रम किया जाये या कम से कम श्रम करके अधिक से अधिक लोगो को काम करते रहने का भ्रम खड़ा किया जाय? यानी प्रश्न अवकाश का नहीं, हमारे श्रम के साधन और तरीको का है। बेशक, हमारी कार्यशैली त्रुटिपूर्ण है। हमे उसमे सुधार करना होगा और फिर अवकाश की समस्या स्वतः सुलझ जायगी।

५१. यह कहा जा चुका है कि कारखाने मे काम करनेवाले किसी काम को आदि से अन्त तक पूरा-पूरा नहीं करते और स्वभावतः उनकी दृष्टि कार्य पर नहीं, कार्य की मजदूरी पर होती है। इसीलिए उन्हे किसी काम मे हर्ष या आत्मसन्तोष नहीं होता। माँ को बच्चा जनने मे बड़ा कष्ट होता है, परन्तु बच्चे को गोद मे लेते ही उसे जनन पीड़ा से दुगुना हर्ष भी होता है। इस प्रकार उसके शारीरिक ह्रास की सहज ही पूर्ति हो जाती है। ठीक यही दशा पहले हमारी थी—जुलाहा ताना-बाना, और भरनी से लेकर कर्घे पर से पूरा थान उतारने तक मनपूर्वक कार्य मे व्यस्त रहता था और जब उसके मनानुकूल उसकी कृति उसके हाथो मे आती थी तो वह पहले स्वयं गद्‌गद हो जाता था। किसान की पैदावार और जौहरी के जेवरात—सबका यही हाल था। इस प्रकार कार्य मे नीरसता और कष्ट के बजाय हर्ष और पुरुपार्थ का अनुभव होता था। दूसरे महत्त्व की बात यह थी कि कर्ता अपनी कृति मे समा जाता था। उसे विश्राम और अवकाश का विचार भी नहीं उठता था। यह नहीं कि वह मोटर के डाइनमो की भाँति चलने लगा तो चलता ही रहता था—इस प्रकार निरन्तर कार्य करते रहने की उसे आवश्यकता ही न थी। वह कपड़ा भी बुनता था, वक्त आ पड़ने पर रोते हुए बच्चे को प्यार पुचकार लेता और उससे मन भी बहला लेता था; मित्रो से बात-चीत और हँसी-मजाक का भी मौका उसे मिल ही जाता था। थक जाने पर वह चल-फिर कर या लेटकर आराम भी कर लेता था। जब उसे जरूरत होती तो वह काम बन्द कर देता क्योंकि उसे शादी-विवाह, त्यौहार और रिश्तेदारी मे भी शामिल होना था। वहाँ यह प्रश्न न था कि नजर चूकते ही जान-माल का खतरा पैदा हो जायगा या कारखाना थम जाने से हजारों-लाखों का टोटा बैठ जायगा। उसी के गाँव मे चार स्त्रियाँ मजदूरी किया करती थीं;

कलमय और चर्खात्मक श्रम-तुलना

सुवह से शाम तक अनाज या अन्य चीजें उन्हे मजदूरी मे मिलती थीं। चारो आपस मे हँस-खेल कर, खाते-पीते, कार्य पूरा कर देतीं। इस प्रकार उनकी आवश्यकता भी चैनपूर्वक पूरी हो जाती और मालिक का काम भी। यहाँ न तो 'फैक्टरी ऐक्ट' की पावन्दियाँ थीं और न यह चिन्ता थी कि एक मिनट वेकार हो जाने से मशीनो का खर्च मुफ्त मे बढ़ेगा। यहाँ मशीन अपने हाथ से चलनेवाली, अपने वश की चीज थी ; वही मालिक, वही मज़दूर और उसी के घर मे कारखाना था—सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य का राज था। आजकल के समान काम के पीछे दीवानगी और नतीजा—भूख और दारिद्र्य, सो वात नहीं। उस कार्य शैली मे प्रत्येक परिवार जीवन की आवश्यकताओ से परिपूर्ण था ; वह अपनी चीज, अपने काम की वस्तु दूसरो से ले लेता था। प्रत्येक ग्राम सम्पन्न था। परन्तु अव ? किसी गॉव मे घुस जाइये। तन पर जापान का नकली रेशम, दाँत का मञ्जन और ब्रश विलायत का, कागज़ात नारवे के बने हुए, दूध हालैण्ड के डब्बो मे, चाय कहीं और से, चीनी जावा की, बिस्कुट इग्लैड से—आखिर यह है क्या ? इतनी हाय-हाय और यह लाचारी ! हमे काम का ऐसा ढंग पसन्द नहीं और हम फैक्टरी ऐक्ट के मुताविक अवकाश मे वृद्धि भी नहीं चाहते। हम चाहते हैं कार्य हममे हो, हम कार्य मे हो, कार्य ही अवकाश हो, और अवकाश ही कार्य हो; कार्य मे ही हमे आनन्द और मनोरञ्जन होगा, न कि मिल से थके-मॉदे लौटने पर शरीर की पीडा सिनेमा की घूँट से मिटायी जाय। कार्य से ही हम ज्ञान प्राप्त करेंगे, उसीमे हमारा मनोरञ्जन होगा और उसीसे हमारा व्यक्तित्व वनेगा ; कार्य से ही हम स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट होगे, न कि दिन भर कारखाने और वैको अथवा वपौती के धन पर मुफ्तखोरी करके हाजमा दुरुस्त करने के लिए शाम को 'पिग-पॉग' और वैडमिण्टन की चिड़ियाँ उडाते फिरें। हमारा कार्य उत्पादक होने के साथ ही हमारे शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक विकास, नैतिक उत्थान तथा ज्ञान और मनोरञ्जन का एक साथ ही कारण होना चाहिये।

यदि ऐसा न हो तो श्रम के घटे घटाते रहने पर भी (मशीनो के उपयोग से वह स्वतः घटता जायगा) वेकारी की वाढ़ रुकेगी नहीं। जो वेकार हैं उनका नाश तो होगा ही, जो काम पर लगे हैं उनका भी कम काम होने से शारीरिक और मानसिक,[1] दोनो रूप से ह्रास होगा।

---

1 Gandhism and Socialism—Dr. P Sitarammaya P 136.

यह तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि मशीन तथा अन्य कारणों से भारत बेकारी के संक्रामक रोग से मरणासन्न हो चला है। अतएव, वास्तव मे देखा जाय तो समस्या छुट्टी बढ़ाने या काम के घटों को घटाने की नहीं, बल्कि लोगों को काम देने की या उनके फालतू समय को सकार्य्य बनाने की है।

परन्तु यह कल कारखानो के 'बेकार-कुन' तरीको से नहीं, चर्खात्मक उत्पादन से ही सम्भव होगा। कलमय उद्योग और कृत्रिम अवकाश के दुष्परिणामो से शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये अन्यथा दशा आत्म-हत्या से भी अधिक शोचनीय हो जायगी। यदि हम शीघ्र अपनी कार्य-शैली को बदल नहीं देते, अपने उत्पादन क्रम को बाजारू तेजी और प्रतिस्पर्धा से पृथक् करके मानव के स्वाभाविक कर्मकाण्ड में नहीं बदल देते तो यही नही कि श्रम का सच्चा हल असम्भव हो जायगा, बल्कि नवभारत की कल्पना एक मरणासन्न रोगी के सुख-स्वप्न के समान रह जायगी, सरकार की निर्माणकारी योजनाएँ बाँझ की पुत्र लालसा के समान रह जायँगी।

श्रम और सञ्जीवन

५२. यह बात स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य मे 'श्रम' और 'सञ्जीवन' के सम्मिलित अंश व्याप्त रहते हैं। एक बढ़ई को लीजिये। वह एक मेज बनाता है। मेज बनाने मे उसे परिश्रम करना पड़ता है, कभी-कभी कठोर परिश्रम भी करना पड़ता है। परन्तु इस मेज के बनाने मे वह अपनी कला और कारीगरी को व्यक्त करता है। उसके अन्दर छिपे हुए गुण मेज के सहारे बाहर आते हैं, जिससे दूसरो को लाभ मिलता है, दूसरो पर प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार के लाभ और प्रभावों के समुच्चय से उस बढ़ई का व्यक्तित्व बनता है, बढता है और सुस्पष्ट होता है। मेज बनाने मे वह बढ़ई मेज बरतनेवाले की वैयक्तिक अभिरुचि और आवश्यकता, उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करता है; मेज मे लगने-वाली लकड़ी के सहारे ऋतु सम्बन्धी तथा भौगोलिक ज्ञान का भी उसे लाभ और अभ्यास होता है। इस प्रकार वह कुछ लेता है, कुछ देता है। और कुल मिलाकर समाज मे जीवन और संस्कृति का संचार होता है। यह है कार्य का सञ्जीवन भाग जो चर्खात्मक विधान की एक स्वयम्भू देन है। परन्तु जब हम कार्यों के श्रम को उसके सञ्जीवन सूत्र से अलग कर देते हैं तो वह बोझ बन जाता है, गुलामी की सृष्टि होती है, समाज विकास

से हटकर पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। जब कुछ लोग केवल परिश्रम पर बाध्य किये गये और कुछ लोग उस परिश्रम से प्राप्त होनेवाले आनन्द और वैभव को श्रम-कर्ता से छीन कर अपने लिए सुरक्षित रखने लगे तो समाज में गुलामी, बेगार और सामन्तशाही का उदय हुआ। उसी बात को मशीनों ने जघन्य रूप दे दिया है। अब बढ़ई मेज नहीं बनाता। अब वास्तव मे बढ़ई रहा ही नहीं। अब तो कारखानो मे बडी-बडी मशीनो के सहारे एक आदमी लकड़ी काटता है, दूसरा उसे चीरता है, तीसरा उसे रंदा करता है, चौथा एक हिस्सा जोड़ता है, पाँचवाँ दूसरा हिस्सा और ये सब के सब किसी एक बिलकुल ही अलग से तैयार किये हुए नकशे और योजना की पूर्ति मात्र करते हैं। इनमे से किसी को न तो मेज की लकडी का ज्ञान है, और न उसमे दिलचस्पी ही है। निश्चित घंटो के अन्दर जी तोड कर मेहनत करना और उसकी मजदूरी

कार्य और श्रम की शुद्धतम प्रणाली

प्राप्त करना ही इन लोगो का काम रह गया है। यह एक नये प्रकार की गुलामी है जिससे मनुष्य उदासीन भाव से मेहनत करते-करते घिसता तो जाता है पर उसे ज्ञान और आनन्द कुछ भी प्राप्त नहीं होता, वह केवल श्रम का भागी रह गया है सञ्जीवन का नहीं। इस प्रकार कलमय कार्य पद्धति ने श्रम को सञ्जीवन से अलग करके मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक—व्यापक ह्रास का कारण उपस्थित कर दिया है। इस कार्य पद्धति मे मनुष्य का व्यक्तित्व बनने के बजाय बिगडता जा रहा है। संक्षेप मे मनुष्य चेतन व्यक्ति नहीं, मशीनो का निष्प्राण पुर्जा मात्र रह गया है।

अतः आवश्यक है कि श्रम और सञ्जीवन का विकासमान सामञ्जस्य कायम रखने के लिए कलमयता से मुक्त होकर चर्खात्मक विधान का आश्रय लिया जाय। कार्य और श्रम की यही शुद्धतम प्रणाली है। कम से कम भारत का तो इसी प्रणाली से उद्धार होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे नेत्रो के सामने आ गया है। भारत सरकार ने अरबों की व्यय साध्य योजना से राष्ट्रीय नियोजन का प्रयोग चलाया परन्तु वह बीच मे ही जवाब दे रहा है क्योंकि उसमे काम करने का ढङ्ग कलमय है, चर्खात्मक नहीं।

(२)

५३. यहाँ आकर हमे श्रम के एक दूसरे आवश्यक पहलू पर भी

विचार कर लेना है अर्थात् हमारे उत्पादन क्रम को केवल मनुष्य की कर्तृत्व शक्ति पर ही नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक भेद पर भी अवलम्बित होना चाहिये।[1]

श्रम में स्त्री-पुरुष के स्वभाव भेद की आधारात्मक आवश्यकता

हमने देखा है कि स्त्रियाँ स्वभावतः हलके और कम कठोर कार्य के लिए ही उपयुक्त हैं; यदि पुरुष चर्खा चलाता है तो स्त्रियाँ ताना-बाना और नरियाँ भरने मे सहायक होती हैं, यदि वह हल जोतता है तो स्त्रियाँ कटाई करती हैं, यदि वह मोर्चों पर लडाई करता है तो स्त्रियाँ स्टोर और अस्पतालों को सँभालती हैं, यदि वह फावड़ा चलाता है तो स्त्रियाँ ढुलाई करती हैं, यदि वह कारखाने का व्वायलर सँभालता है तो स्त्रियाँ बिजली का स्विच, दफ्तर मे टाइप राइटर, टेलीफोन का चोगा सँभालती हैं। वर्तमान समय मे स्त्रियो का कुछ उपेक्षणीय अंश मर्दों का-सा भारी कार्य भी करने लगा है जैसे हवाई जहाज उड़ाना या लड़ाई लड़ना। इस सम्बन्ध मे जब हम देखते हैं कि यह भारी कार्य केवल वह संकटकालीन व्यवस्था है जब पुरुपो की कमी के कारण अपने अस्तित्व को स्थितिभूत रखने के लिए हम बाध्य हो गये हैं तो उपर्युक्त कथन की मर्यादा कम नहीं होने पाती अर्थात् इस बात पर आँच नहीं आती कि स्त्री-पुरुष के कार्य मे सरल और कठोर के भेद से स्वाभाविक अन्तर हैं। यह बात इससे भी पुष्ट हो जाती है कि कहीं भी किसी कार्य मे हो, रजकालीन, गर्भकालीन, शिशु-पोपणकालीन या ऐसी ही अनेक परिस्थितियो मे इन्हे पुरुपो से अपेक्षाकृत अधिक विश्राम की आवश्यकता पड़ती है।[2] परिणामतः स्त्रियाँ पुरुपो के समान ही निरन्तर

---

१ देखिये पिछले पृष्ठ

२ भारत की संक्रामक दरिद्रता को मिटाना हमारे लिए उसी प्रकार आवश्यक है जैसे घर में लगी हुई आग को बुझाना। अन्यथा इस तीव्र गति से बढती हुई महामारी में सारा देश नष्ट हो जायगा। गाधी जी इस अवस्था को युद्धकालीन मानकर लिखते हैं —

"When the war was raging, all available hands in America and England were utilised in naval yards and they built the ships at an amazing race. If I would have my way I would make every available Indian do a certain fixed work every day"

"It is contrary to experience today that vocation is reserved for any one sex only Cooking is predominantly (पृष्ठ १५५ पर)

कठिन परिश्रम मे नहीं लगी रह सकतीं और यह निर्विरोध स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे श्रम का आधार स्त्री-पुरुष के स्वभाव भेद पर ही अवलम्बित है और हमारा श्रम-विधान तथा कार्य-विभाजन इसी के अनुसार होना चाहिये।

इसी बात को यो व्यक्त किया जा सकता है कि पुरुष का कार्य संघर्षात्मक हो तो स्त्रियो का कलात्मक होगा। विस्तार के लिए कहा जायगा कि पुरुष यदि खेत मे हल चलावेगा तो स्त्रियाँ खलिहान से लाकर अनाज को घर मे सुरक्षित रखेंगी। पुरुष जंगल या कोयले की खान से ईंधन इकट्ठा करेगा तो स्त्रियाँ उसके सदुपयोग का भार वहन करेंगी। पुरुष कर्घा चलाता है तो स्त्रियाँ शान्तिपूर्वक शिशु और संगीत के मध्य—चर्खे चलाकर कर्घे के अस्तित्व को सम्भव बनावेंगी। पुरुष वनपर्वत से लाकर जब पशुओ को घर पहुँचा देता है तो स्त्रियाँ दूध, मक्खन और घी का कार्य सम्पादन करेंगी।

एक के कार्य मे दूसरे को दक्ष होना चाहिये

५४. इसका मतलब यह नहीं कि कोई कार्य जो एक करता है, दूसरे के लिए वह वर्जित है, ठीक उसी प्रकार जब प्रसवकालीन दशा मे पुरुष यदि स्वय चूल्हा न सम्हाले तो उसे अपनी स्त्री और सन्तान के साथ ही स्वयं भी भूखो मरना पड़ेगा, या पति की बीमारी मे यदि स्त्री स्वय पारिवारिक व्यवस्था तथा सामाजिक उत्तरदायित्व को हाथ मे न ले तो सारी व्यवस्था ही भ्रष्ट हो जाय। या सकट के समय जिस प्रकार स्त्रियो को तोप और संगीन की मार करनी पडती है या हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन मे चर्खे का पुनरुद्धार स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो पर अधिक निर्भर है।

५५. गाधी जी इस सम्बन्ध मे और भी स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि कोई कार्य स्त्री या पुरुष, किसी का एकाधिकार नहीं समझा जा सकता। कार्यो को लोगो का एकाधिकार बना देने से ही समाज मे वर्गों की सृष्टि होती है, एक ब्राह्मण बन कर हुकूमत करना ही अपना हक समझता है जब कि शूद्रो

---

the occupation of women But a soldier is worthless if he cannot cook his own food Fighting is predominantly men's occupation but women have fought side by side with their husbands"—Gandhi ji, Young India, 11-6-26

को सेवा के नाम पर मेहनत-मशक्कत की अवाञ्छित यातना मे ही प्राण गवाँते रहने का आदेश दिया जाता है। इसीलिए गाधी जी ने यदि स्त्रियो को कताई की अधिष्ठात्री बनने को कहा तो साथ ही साथ उन्हे बुनाई मे भी दक्ष और समर्थ होने का आदेश दिया है ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे किसी भी कार्य को स्वतंत्र रूप से सँभाल सकें और पुरुषो के बिना पंगु न बन जायें। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियो पर से पुरुषो की कटु हुकूमत का अन्त कर देने की एक वैज्ञानिक योजना दी है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि स्त्री और पुरुष के कार्य मे कोई स्वाभाविक भेद नहीं है। भेद तो है परन्तु चूँकि दोनो उसी समाज के समान रूप से पूरक हैं इसलिए दोनो को सामाजिक चक्र को गतिमान रखने के लिए अपने-अपने कार्य सँभालते हुए भी एक दूसरे के कार्य के लिए उद्यत और तत्पर रहना चाहिये। इसीलिए यदि स्त्रियाँ चक्की चलाती हैं तो पुरुषो को भी चक्की चलाना कर्तव्य और हक होना चाहिये। भले ही साधारण रूप से स्त्रियाँ चक्की चलाती रहे, परन्तु यदि स्त्री किसी कारणवश चक्की नहीं चला रही है तो पुरुष को चक्की चलाने से इसलिए नहीं बचना चाहिये कि चक्की स्त्री का काम है और जब भी होगा वही चलावेगी, चाहे आटे बिना भूखो मरने की नौबत आ जाये।

कार्यों पर एकाधिकार के कारण वर्गों की घातक सृष्टि होती है

इसी सिद्धान्त पर यह नहीं कहा जा सकता कि टट्टी साफ करना हरिजनो का ही कार्य है। साफ और स्वस्थ रहने के लिए, साथ ही साथ समाज को भी स्वस्थ रखने के लिए हम स्वयं क्यो न टट्टी साफ कर लें? यदि कार्यो के सम्बन्ध मे हम अपना दृष्टिकोण नहीं बदलते तो वर्गो की घातक सृष्टि मिट नहीं सकती। ब्राह्मण, शूद्र, स्त्री और पुरुष का अलग-अलग वर्ग एक दूसरे को खाता और सताता रहेगा। समाज मे शुद्ध श्रम और सम्पत्ति, उद्योग और उत्पत्ति, की परम्परा स्थापित हो ही नहीं सकती।

५६. इसी सम्बन्ध मे यह भी समझ लेना चाहिये कि कुछ कार्य औद्योगिक की अपेक्षा अपनी सर्वव्यापकता के कारण सामाजिक अधिक हैं[1] (जैसे चर्खा और गो पालन)। प्रत्येक मनुष्य किसी भी अवस्था मे,

---

१ सर्वव्यापकता (Universality) का अर्थ किसी वस्तु के सर्वव्यापक उपयोग से नही, उसके सर्वव्यापक उत्पादन से सम्बद्ध है। हम श्रम पर विचार कर रहे है, श्रम के (पृष्ठ १५७ पर)

इनको (विशेषतः चर्खे को) हाथ मे ले सकता है। घर मे, यात्रा मे, मन्दिर मे, मसजिद मे, स्त्री, बच्चे, बूढ़े, रोगी, छोटे या बड़े—सभी प्रत्येक स्थान पर और प्रत्येक समय थोड़ी-बहुत कताई कर सकते हैं जिस प्रकार सभी खाते-पीते और सोते हैं,[1] उसी प्रकार कताई को भी सुबह-शाम, चलते-फिरते, घर मे, या बाग में, जब इच्छा या अवसर हो, लिया जा सकता है। कताई की इस विधि मे वैयक्तिक आवश्यकता पूर्ति की दृष्टि ही प्रधान होती है, यद्यपि इस प्रकार वैयक्तिक कर्म और आत्म-तुष्टि का अर्थ है समष्टि की सहायता और रक्षा; कताई अच्छे प्रकार के चर्खों पर मुनाफे और मजदूरी की दृष्टि से भी की जा सकती है। उद्देश्य कोई भी हो, विशेषतः दूसरे के लिए तो अवश्य ही कताई की पूर्व और पश्चात् की दशाओ पर ध्यान रख कर कार्य किया जाय, जैसे अच्छी रूई का स्थानीय उत्पादन, उसकी ओटाई, धुनाई, फिर करघे द्वारा

सामाजिक कार्य

परिणाम पर नही। कपड़ा एक सर्वव्यापक वस्तु है परन्तु वह कुछ ही लोगो के परिश्रम का फल हो सकता है जब कि उसका उपयोग सभी करते हैं। कपड़े के लिए कताई एक सर्वव्यापक श्रम बन सकता है जब कि बुनाई वाले इस श्रेणी में नही रह सकते। कताई कोई कही, किसी भी अवस्था मे कर सकता है जब कि बुनाई के लिए एक निश्चित स्थान और कुछ लोगो के सम्मिलित श्रम की आवश्यकता होती है। इस सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में गाधी जी स्पष्ट रूप से कहते हैं—"The test is not the universality of an article, but the universality of participation in its production..."

इस सम्बन्ध में शका यह उठाई जाती है कि यदि कोई कार्य इस प्रकार सर्वव्यापक होगा, तो उसमें पेशेवरो, विशेषत गरीबो को हानि होगी जिनके लिए यह जीविका के रूप में है। परन्तु यह कहना अर्थशास्त्र के एक कानून को भूल जाना है। सर्व साधारण जो कताई करेंगे (यदि उसे त्याग और सेवा से परे, कोरे वैयक्तिक स्वार्थ तक ही परिमित रखा जाय) तो वह अधिकाधिक वैयक्तिक आवश्यकता को ही कठिनाई से पूरा कर सकेगा। परन्तु शेष लोग नियमित विधान और एक निश्चित समय तक उत्पादन करेंगे जो उनकी जीविका का कारण बनेगा, उसी प्रकार पेशेवरो का कार्य आधिक्य स्थापित करने मे सहायक होकर व्यापार और व्यवसाय का साधन बनेगा।

१ गाधी जी तो यहाँ तक कहते है कि हाथ कताई श्रम-विभाजन के सिद्धान्त से मुक्त है जैसे खाना-पीना और सोना—

"Do you have a Division of Labour in eating and drinking? Just as one must eat & drink and clothe oneself even so every one must spin also—" Young India, 28 8-25

कपड़े की तैयारी आदि। इन बातो पर यदि हमने ध्यान दिया तो चर्खा अन्य उद्योगों को भी जीवित कर देगा अर्थात् हमारे सरल से कार्य द्वारा अन्य लाखो की रोटी की समस्या हल हो सकती है। चर्खे (कताई) की इसी व्यापक सरलता ने इसे हिन्दू धर्म मे एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया था। यदि शूद्र समाज सेवा के लिए, वैश्य अर्थ और वाणिज्य की दृष्टि से, क्षत्रिय स्वावलम्बन की दृष्टि से तो ब्राह्मण अपने यज्ञ और पवित्र यज्ञोपवीत के लिए ही चर्खे की शरण लेता है।[1] चर्खे के समान ही गोपालन एक कार्य है जिसे स्त्री, बच्चे, जवान, बूढ़े, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि—सब सरलता पूर्वक सम्पादित कर सकते हैं।

चर्खा और गोपालन

परन्तु, हाँ, यह चर्खे के समान सस्ता और सर्वव्यापक नहीं है। परन्तु इस कार्य की महत्ता चर्खे के समान ही विशेष स्थान रखती है। कहने का तात्पर्य, उपर्युक्त दोनो कार्य सर्वव्यापक और समाज रक्षक होने के साथ ही भारत जैसे कृषिप्रधान देश के लिए अति लाभदायक और सहयोगी धन्धे भी बन जाते हैं, विशेषतः जब कि लाखों किसान खेती के कार्यों के समय मे बेकार ही रहते हैं, अथवा भारतीय कौटुम्बिक विधान के अन्तर्गत जब स्त्रियो का अधिकाश समय और शक्ति व्यर्थ की गड़बड़ी मे लगती है। चर्खा तो और भी महत्त्वशाली बन जाता है जब कि दुष्काल और युद्ध के समय आत्मरक्षा के लिए यह हमारा संकट कालीन औद्योगिक हथियार बन जाता है।

साराश, हमारा श्रम विधान जबतक उपर्युक्त सिद्धान्तों को दृष्टि मे रखते हुए सम्पादित नही होता हम नवभारत का निर्माण कर ही नहीं सकते।

(३)

५७. यह एक सर्वनिष्ट और अत्यन्त सुबोध बात है कि समष्टि का अस्तित्व उसके अपने घटक रूपी व्यष्टियो के सम्मिलित श्रम का ही फल होता है। इसमे किसान, कताई वाले, बुनाईवाले तथा अन्य अनेक लोगो के सहयोग ने पादार्थिक रूप धारण किया है या यो कि सामूहिक सहयोग का ही दूसरा नाम सामाजिक श्रम है। यही सहयोग (न कि मार्क्स का अन्तर्द्वन्द्व) समाज का बीज रूप

सामूहिक सहयोग बनाम सामाजिक श्रम

---

१ पं० सातवलेकर ने अपने 'वेद और चर्खा' में वेद मन्त्रो द्वारा सिद्ध कर दिया है कि ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री और पुरुष, राजा और प्रजा सभी चर्खा कातते थे।

है। और हमने यह भी देखा है कि वर्तमान युग की कार्य प्रणाली लोगों मे स्वार्थ भावना की सृष्टि करके उन्हे एक दूसरे की आवश्यकता से दूर ले जाती है। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि कलमय विधान हमारी जीवन दायिनी सहयोग भावना के प्राकृतिक आधार को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, और उसे सरकार अथवा समूह के कृत्रिम कानूनो द्वारा गतिमान करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। परन्तु यह एक बिलकुल स्पष्ट बात है कि कृत्रिम कानूनो द्वारा एक कृत्रिम अवस्था की ही सृष्टि होगी। यही कारण है कि नवभारत मशीनाश्रित श्रमविधान से सर्वथा दूर ही रहना चाहता है।

५८. अब भारत मे कलमय उत्पादन को दृष्टि मे रखते हुए, श्रम के एक दूसरे पहलू पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है—

कलमय उद्योग और सामूहिक श्रमफल की राष्ट्रीय तुला

भारतीय जल-वायु मे, एक भारतीय श्रमिक कारखानो मे कार्य करके उतनी ही मात्रा मे उत्पादन नहीं कर सकता जितनी कि यूरोप और अमेरिका का श्रमिक क्योकि भारत की जल-वायु ऐसी है जहाँ सुविधानुसार अवकाशयुक्त (Intermittent) कार्य किया जा सकता है, जहाँ ११२–११८ डिग्री तक के तापमान वाले देश के निवासियो को कारखानो की भट्टियो के सम्मुख नित्य, निरन्तर सघर्षापेक्षी श्रम प्रणाली का शिकार न होना पड़े। ठीक है, भारत मे भी सफलता पूर्वक कारखानो का सचालन हो रहा है। परतु यदि अमेरिका मे एक श्रमिक के उतने ही समय के श्रम-फल की भारतीय श्रमिक के उतने ही श्रमफल से तुलना की जाय तो अन्तर स्पष्ट हो जायगा। प्राकृतिक बाधाएँ कार्य करती हैं। यह ठीक है कि भारत मे टाटा जैसे कारखाने भी हैं जो किसी भी विलायती कारखाने से पीछे नहीं हैं। परन्तु क्या आपने इस पर भी विचार किया है कि एक भारतीय श्रमिक और अमेरिकन श्रमिक के स्वास्थ्य मे अन्तर क्यो है? टाटा के मजदूर अच्छा वेतन पा रहे हैं फिर भी कारखाने का जीवन उनके स्वास्थ्य पर अपनी छाप डाले बिना नहीं रह सकता। इस बात का निम्न प्रकार से परिणाम होता है—

(१) या तो उतने ही समय मे उतने ही जनबल द्वारा उससे कम

कार्य (२) या अधिक अथवा उतना ही कार्य परन्तु मानव स्वास्थ्य पर अधिक दुष्प्रभाव।

पहली दशा में राष्ट्र की तत्काल साम्पत्तिक क्षति होती है, दूसरी दशा में कुछ समय के पश्चात् क्षति होती है क्योंकि अस्वस्थ व्यक्तियों का समूह न तो सुखी और समृद्धिशाली राष्ट्र का पोषक हो सकता है और न ऐसे व्यक्तियों का समूह दीर्घायु ही प्राप्त कर सकता है। परिणामतः ७० वर्ष तक समाज को अपने श्रम का फल देने वाला व्यक्ति ४०–५० वर्षों में ही समाज को अपने श्रम से वंचित कर बैठता है। यदि वह बिलकुल ही मर गया तो समाज को कुछ कम ही क्षति उठानी पड़ती है, पर यदि वह श्रम के अयोग्य होकर रुग्णावस्था को प्राप्त हो गया (जैसा कि होता ही रहता है) तो समाज को उसके श्रम-फल से वंचित तो होना ही पड़ा, साथ ही साथ उसके दवा, दारू तथा प्राण रक्षा में धन और जन-बल का व्यय भी करना पड़ता है। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि भारत में कलमय उत्पादन श्रम सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान अभी हाल में ही हुए इङ्गलैण्ड के कुछ खाद्य प्रयोगों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।[1] एक व्यक्ति ने दो प्रकार के भोजनों पर कार्य किया। यद्यपि कार्य के परिणाम में अधिक कमी नहीं रही पर अपुष्टिकर भोजन से विशेष श्रान्ति का अनुभव हुआ। दूसरे प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ कि कारखानों के दूषित अथवा बन्द वातावरण की अपेक्षा सूर्य के प्रकाशपूर्ण खुले जल-वायु में अधिक स्वास्थ्यकर जीवन प्राप्त होता है। तीसरे प्रयोग से जीवन-तत्व (विटामिन 'ए') की आवश्यकता को लेकर देखा गया कि जीवन-तत्व को पाने और न पानेवालों के स्वास्थ्य में यद्यपि कोई तात्कालिक अन्तर नहीं दिखा पर अभाव का दुष्परिणाम तो होता ही है। इससे सिद्ध होता है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति की दृष्टि से कलमय यानी केन्द्रित उद्योग व्यवस्था भारत के लिए लाभप्रद नहीं हो सकती।

इसका मतलब यह है कि कारखानों के सहारे कार्य करनेवाला युरोप ग्रामोद्योगी भारत से अधिक मात्रा से उत्पादन नहीं कर सकता। आप इस बात से परिचित हो चुके हैं कि कारखानों की विशेषता है कि कुछ लोग कार्य करें और अधिक लोग बेकार रहें। या यों कि कलमय युरोप

---

1 Food, the deciding Factor P 45

का अधिकाश श्रम-बल बिलकुल बेकार पड़ा है। इस प्रकार यदि हम अपने श्रम विधान को चर्खात्मक आधार पर खड़ा करें तो बड़े से बड़े कारखाना-पूर्ण देश को भी अपनी साम्पत्तिक उत्पत्ति से पछाड सकते हैं क्योंकि यहाँ बेकारी का नैसर्गिक अभाव होगा।

इन सारी बातो को एक साथ रखकर देखने से यही सिद्ध होता है कि विभिन्न वातावरण और परिस्थितियो के तात्कालिक श्रम-फल मे विशेप अन्तर भले ही न हो, उनके प्रति व्यक्ति दीर्घकालीन परिमाण योग (Total achievement per head) मे अन्तर अवश्य होगा, क्योंकि प्रतिकूल वातावरण मे काम करते रहने के कारण अस्वास्थ्य और परिणामतः आयु की अवधि मे भी कमी हो ही जायगी; विशेपतः भारतवर्ष मे इस कमी का पूरा करने के लिए स्वास्थ्यकर वातावरण का आश्रय लेना होगा जो ग्राम प्रधान श्रम विधान से ही सपुष्ट हो सकता है।

सामूहिक श्रम फल का प्रति व्यक्ति दीर्घकालीन परिमाण योग

५६. जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, श्रम-फल का माप-दण्ड दो प्रकार का हुआ--(१) आयु की अवधि--(२) समय की अवधि। आयु की अवधि को हम देख ही चुके हैं, समय की अवधि के सम्बन्ध मे अब इतना ही कहना शेप रह गया है कि उतने ही समय तक इंग्लैण्ड के कारखाने मे कार्य करने वाले श्रमिक से भारत के कारखाने मे कार्य करनेवाला श्रमिक अधिक थक जायगा, जिसका स्पष्ट प्रमाण दोनो की निरन्तर कार्यव्यस्तता की योग्यता, एक रस (uniform) उत्पादन तथा वृद्धिमान (Progressive) कार्यकुशलता (Efficiency) की ठीक-ठीक तुलना से ही समझा जा सकता है। इंग्लैण्ड का श्रमिक कारखाने से निकल कर, स्वाध्याय, मनोरञ्जन, सामाजिक तथा गृहकार्यों के लिए जितना तत्पर पाया जाता है भारतीय श्रमिक इन अनेक जीवनावश्यक कार्यों के लिए उतना ही तत्पर नहीं पाया जा सकता। फलतः, समाज को पण्यो की प्राप्ति से अधिक कमी न भी दीखे उसे व्यक्ति के अनेक अन्य उपयोगो से वञ्चित रह ही जाना पड़ेगा जिनके सुयोग विना समाज का सामूहिक ह्रास होना निश्चित है। इसमे व्यष्टि और समष्टि, दोनो के विकास पर आघात होता है।

श्रम-फल का माप दण्ड और सामूहिक परिणाम

६०. यह कहा गया है कि कारखानो के ढर्रेपन मे, मनुष्य को कार्य मे अपनत्व और अभिरुचि नहीं रह जाती। जिस कार्य मे सच्ची अभिरुचि ही नहीं वहाँ पण्यो की पारिमाणिक उपज मे भी कमी होगी ही। इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान मे रखने की वात है कि कारखानो मे निश्चित अवधि तक ही कार्य किया जा सकता है। परन्तु गॉव प्रधान श्रम विधान मे वह ४।६।८ घण्टो की निश्चित अवधि से बाध्य हुए विना सुरुचि पूर्वक १०।१२।१६ घण्टो तक भी कार्य कर सकता है। साराश यह कि घट-बढ़कर कुल के हिसाब से यही देखा जायगा कि आयु और समय का कुल (Total) परिमाण लेने से चर्खात्मक (विकेन्द्रित) समाज को अन्त मे कलमय (केन्द्रित) समाज से सामूहिक रूप मे घाटे मे नहीं रहना होगा। यदि जैसा कि "रचनात्मक आधार" मे दिखलाया गया है, विकेन्द्रित श्रम का फल कलमयी श्रम-फल से, कम से कम सामूहिक रूप से (यहाँ वेकारी की समस्या और दोनों के समान परिष्कार को ध्यान मे रखते हुए), कम हो ही नहीं सकता।

पण्यों की पारिमाणिक उपज—केन्द्रित और विकेन्द्रित की तुलना

(४)

६१. अब हम "श्रम और कार्य" के मौलिक सूत्र अर्थात् श्रम-विभाजन की आवश्यकता तथा सिद्धान्तो पर भी विचार कर लेना चाहते हैं। नारी को समाज का आदि सूत्र मानकर उसके क्रियात्मक तत्वों का अवलोकन करते समय (देखिये अध्याय "श्रम-विभाजन और गार्हस्थ्य" तथा "गार्हस्थ्य और सम्पत्ति") श्रम के इस पहलू पर हम यथेष्ट रूप से विचार कर चुके हैं। यहाँ हम श्रम-विभाजन की एक भारतीय रीति की[1]

---

१ भारतीय वर्णव्यवस्था एक शुद्ध भारतीय विशेपता होते हुए भी 'हिन्दू मजहब' की चादर से ढक दी गयी है। परन्तु यह यथार्थत, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, किसी को भी प्रभावित किये विना नही रही है। यो तो वर्तमान कलयुग के शहरी जीवन में स्वय हिन्दू ही इसके प्रभाव से वचित से नजर आ रहे है। परन्तु यदि हम भारत के विस्तृत ग्राम्य वातावरण में प्रवेश करें तो वहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी इसके चक्र में घूमते हुए मिलेंगे। यह ठीक है कि इसलाम, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य आदि के समान कोई वर्ण विभाजन नही करता, परन्तु, व्यवहारत, हम देखते है कि धुनिया, जुलाहा (मोमिन), मिलकी आदि में हिन्दुओ सा ही वर्ण-भेद काम कर रहा है।

अतएव, यदि वर्णव्यवस्था के शुद्ध श्रम-विभाग और उद्यमस्थ तत्वो को लेकर (पृष्ठ १६३ पर)

ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जो आज हिन्दुत्व की मजहबी चादर से ढकी होने के बावजूद भी श्रम सिद्धान्तो की एक प्रबल प्रेरणा लिए हुए है। हमारा लक्ष्य वर्ण विधान की ओर है। यह चातुर्वर्ण्य विधान, मूलतः, श्रम-सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित किया गया था। वास्तव मे समस्त समाज के सामूहिक अस्तित्व को सहयोग पूर्वक क्रियाशील बनाये रखने के लिए ही सामाजिक श्रम को वर्णों के आधार पर विभाजित कर दिया गया था। भारत की प्राचीन परम्परा यही रही है कि समाज का सामूहिक उत्तरदायित्व व्यक्ति के नैतिक जीवन में सम्मिलित करके समाज के चक्र को नित्य-निरन्तर रूप से स्वगामी गति प्रदान की जाय ताकि समाज सचालन के लिए "ताजीरात हिन्द," "म्युनिसिपल बाई-लॉज" अथवा "वाइसरीगल आर्डिनेन्सेज" के समान समाज और प्रजा से बाहर के किसी अन्य शासन अथवा अनुशासन दण्ड की आवश्यकता ही न हो। समाज के शहरी और ग्राम्य प्रकारों पर विचार करते समय हमने इसका उल्लेख किया है। महात्मा तिलक गीता के कर्मयोग शास्त्र का विचार करते समय लिखते हैं—"पुराने जमाने के ऋषियों ने श्रम-विभाग रूप चातुर्वर्ण्य संस्था इसलिए बनायी थी कि समाज के सब व्यवहार सरलतापूर्वक होते जावें। किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज का सभी दिशाओ मे संरक्षण और पोषण भलीभाँति होता रहे। यह दूसरी बात है कि कुछ समय के बाद चारो वर्णों के लोग केवल जातिमात्रोपजीवी हो गये अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर वे नाम के ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य रह गये। कहने का अभिप्राय यह कि वर्ण विधान केवल सामाजिक श्रम-विभाग रूप मे ही निर्मित हुआ था अर्थात् यह एक ऐसी सामाजिक (धार्मिक नहीं) व्यवस्था थी जिसने हमारे कर्मकाण्ड को एक निश्चित धरातल प्रदान करने के साथ ही हमारी सास्कृतिक स्थिति को भी विकासमान बनाये रखने मे बहुत बड़ा भाग लिया था। वास्तव मे सामाजिक श्रम को सामूहिक सहयोग द्वारा गतिमान रखने के लिए वर्णव्यवस्था को एक अनुपेक्षणीय विधान समझा गया था।

चातुर्वर्ण्य विधान: श्रम विभाग प्रधान

कार्य किया जाय तो भारत में विभिन्न धार्मिक भेदो से बिलकुल स्वतन्त्र एकरूपी समाज (Homogeneous Society) की एक व्यापक और व्यावहारिक (working) रूपरेखा प्रस्तुत करने में कठिनाई न होगी।

ऊँच-नीच की भावना और सामाजिक वैषम्य

६२. परन्तु इसके विरुद्ध एक बड़ा भारी दोषारोप यह किया जाता है कि इसमे ऊँच-नीच के भाव का समावेश हो जाने से सामाजिक वैषम्य का उदय होता है। उनका कहना है कि "जब तक कार्यो के सम्बन्ध में ऊँच-नीच का भाव बना रहेगा तब तक सामाजिक समता कायम नहीं हो सकती।[१] निस्सन्देह, परिस्थितियाँ कुछ इसी प्रकार से ढल चली हैं। सैनिक और सेनानायक मे बड़ा अन्तर होता है। दोनो मे से किसी एक के बिना युद्ध नहीं किया जा सकता। सैनिक अपने शौर्य और पराक्रम को सफल बनाने की चेष्टा करता है तो सेनानायक अपने सैनिको के शौर्य और पराक्रम के योग-फल को कृत-कृत्य करने का विधान करता है। अतएव सेनानायक सैनिक से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इसीलिए वह सैनिक से बड़ा समझा जाता है ठीक उसी प्रकार जैसे उन्हीं के एक आदेशमात्र पर शुद्ध भाव और भक्तिपूर्वक सर्वस्व उत्सर्ग कर देनेवाले व्यक्ति से श्री सम्पूर्णानन्द जी या जवाहरलाल जी की राष्ट्र की दृष्टि मे आवश्यकता अधिक है। इस प्रकार कार्य और व्यक्तियो मे भेद होना अस्वाभाविक नहीं है और इस दृष्टि से समाज मे समता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु जिस प्रकार सेना के लिए सैनिक और सेनानायक, दोनो अनिवार्य हैं उसी प्रकार समाज मे धोबी और अध्यापक भी अनिवार्य हैं। न तो कोई कार्य और न उनका सम्पादन करनेवाला कोई व्यक्ति ही उपेक्षणीय है। दोनो आदरणीय और सामाजिक श्रेय के समान रूप से भागी हैं। वृक्ष हजारो-लाखो छोटे-बड़े पत्तो के योग से ही वृक्षाकार धारण करता है। पर उसमे छोटे-बड़े का पार्थक्य नहीं देखा जाता। धोबी और अध्यापक पृथक्-पृथक् भले ही भिन्न-भिन्न कार्य कर रहे हो, पर समाज का योग-फल स्थिर करने मे दोनो ही मिलकर सम अर्थात् समान हो जाते हैं। जिस प्रकार सेना मे सैनिक और सेनानायक, दोनो मे एक भी उपेक्षणीय नहीं है उसी प्रकार समाज केवल धोबी या केवल अध्यापक को लेकर स्थितिभूत नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय, धोबी और अध्यापक भले ही दो कार्य कर रहे हो परन्तु समाज के अस्तित्व मात्र के लिए दोनो समान महत्त्व रखते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैयक्तिक कार्यों की विभिन्नता से ही समाज की सामूहिक अभिन्नता

---

१ "व्यक्ति और राज" पृष्ठ ११६

स्थिर होती है। धोबी यदि अपने कार्य को हेय समझकर त्याग दे और अध्यापन का गौरव प्राप्त करने के लिए चल पड़े तो धोबी का कार्य कौन करेगा? एक ही व्यक्ति धोबी का कार्य और अध्यापन, घर मे रोटी पकाना और समाज की व्यवस्था का सारा भार अकेले नहीं ग्रहण कर सकता। कार्यो का विभाजन होना ही होगा। अतएव नीच-ऊँच का प्रश्न उठना ही नहीं। नीच-ऊँच का प्रश्न गिर जाने से असमानता का भी प्रश्न नहीं उठता। नीच-ऊँच का जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित किया जाता है वह बिलकुल कृत्रिम है। हमे परिस्थितियो की इस कृत्रिमता को मिटाना है न कि उनके मौलिक आधार को।

६३. इसकी एक मात्र कुञ्जी गाधीजी के हरिजन आन्दोलन मे है। इस पर यथासमय पुनः विचार किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना अलम् होगा कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को, ब्राह्मण हो या शूद्र, समान रूप से आदर और श्रेय प्राप्त है। दोनो के कार्य भिन्न हैं पर वे छोटे-बड़े नहीं, बिलकुल समान हैं। यहाँ किसी की ब्राह्मण होने के नाते अनुचित पूजा नहीं की जाती और न धोबी होने के नाते किसी को अस्पृश्य या हेय समझा जाता है। ब्राह्मण अपने अध्यापन कार्य के लिए आदरणीय अवश्य है पर धोबी कम आदरणीय नहीं। दोनो ने समाज चक्र का भार वहन किया है। यथार्थतः व्यवहार मे भी हम ऐसा ही देखते हैं। एक व्यभिचारी ब्राह्मण पर शूद्र भी थू-थू करके उपेक्षा कर बैठता है जब कि एक वयोवृद्ध सदाचारी शूद्र को ब्राह्मण भी "दादा, राम-राम—" कहता है। उसी प्रकार शराबी शूद्र को कोई भी किसी प्रकार का कार्य-भार नहीं देना चाहता। साराश यह कि समाज की दृष्टि से न कोई हेय है न श्रेष्ठ, केवल समाज के छोटे-बड़े कार्यो को प्रत्येक व्यक्ति श्रम-विभाग रूप से ही सम्पादित कर रहा है और कर्मच्युत होते ही समाज च्युत हो जाता है।

गाधी जी की दृष्टि

६४. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति व्यक्ति के कार्य स्वभावत कम और अधिक महत्वपूर्ण होते हैं पर जब हम लोगो को एक साथ समाज के रूप मे देखते हैं तो उनका वैयक्तिक वैषम्य एक मे घुल-मिलकर सामाजिक साम्य का एक सचारी रूप प्रस्तुत करता है। इसी बात को यो समझना होगा कि लोग पार्थक्य मे असमान और परस्परता मे समान हैं। प्राचीन वर्णव्यवस्था का यही तात्विक रहस्य था।

व्यक्तियों की समानता और असमानता

६५. हमने यहाँ जो कुछ लिखा है वह केवल व्यक्ति की सामाजिक कसौटी है। परंतु एक बात और है:—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक पृथक् स्थिति है जहाँ वह केवल एक शुद्ध व्यक्ति अर्थात् समष्टि का घटक (Unit) रूप एक व्यष्टि मात्र है। घटक के अतिरिक्त वह अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। घटक है; घटको मे असमानता हो ही नही सकती; इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रत्येक व्यक्ति समान है। अतएव समाज का गतिक्रम व्यक्तियो की मौलिक समानता के आधार पर स्थितिवत् असमानता से परिलक्षित होकर सामूहिक समानता का रूप धारण करता है। इसका सैद्धान्तिक अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति कार्यो की स्थितिवत् असमानता मे अपनी मौलिक समानता का प्रयोग करते हुए अपने मौलिक स्वरूप को सिद्ध और अपने व्यक्तित्व को कृत-कृत्य करता है। वर्ण विधान की यही मूल प्रेरणा थी।

वर्ण विधान की मूल प्रेरणा

अभी कुछ ही दूर पहले कहा गया है कि "सामूहिक सहयोग का ही दूसरा नाम सामाजिक श्रम है।" जब हम इस सिद्धान्त की सार्थकता की परख करते हैं तो हमे वर्णव्यवस्था मे समाज सञ्चालन की एक अपार शक्ति अन्तर्हित सी नजर आती है। यह स्मरण रहे कि हम यहाँ कोई धार्मिक प्रचार नहीं बल्कि भारत की शुद्ध आर्थिक समस्याओं के रूप मे ही उसके गुण और दोष पर विचार करना चाहते हैं—

६६. १४ फरवरी, सन् १६१६ ईसवी को मद्रास मे मिशनरी कान्फ्रेन्स के समक्ष भाषण करते समय गाधी जी ने कहा था—'वर्ण विधान के व्यापक संघटन ने लोगो की धार्मिक आवश्यकताओ की ही नहीं, बल्कि उनकी राजनीतिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति की है। ग्रामवासियो ने इसके द्वारा अपनी अन्तर्व्यवस्था तो ठीक रखी ही, साथ-ही-साथ शासकीय अत्याचारो का भी इसके द्वारा सफलता पूर्वक सामना किया है। ऐसे आश्चर्यजनक संघटनयुक्त राष्ट्र की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वर्ण विधान की व्यापक योग्यता का प्रमाण हरिद्वार के कुम्भ मेले मे जाकर सरलतापूर्वक प्राप्त होता है जहाँ किसी विशेष प्रयास बिना ही लाखों के भोजनादि का सरलतापूर्वक प्रबन्ध किया जा सकता है।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि वर्ण विधान मे इसकी सहयोगी

वर्ण विधान और सामाजिक व्यवस्था

1 Economics of Khadi P. 6

शक्तियो द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति, शासकीय अत्याचारों से उसकी रक्षा तथा समाज की दिनचर्या—सबको एक साथ ही स्थिर रखने की योजना बनायी गयी थी। समाज चक्र के लिए सामूहिक सहयोग की आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखते हुए भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, श्री जाथार और बेरी लिखते हैं—"वर्णव्यवस्था ने विभिन्न लोगो को सम्मिलित कार्य और युद्धकालीन परिस्थितियो मे भी मौलिक समाज को एक मौलिक स्व-सम्पन्नता तथा स्वतः नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना, बाह्य आक्रमणो का सामना करने का प्रबल साधन प्रदान किया है।"[1]

वर्ण विधान और समाज की शैक्षणिक आवश्यकता

६७. अब यह कहने की आवश्यकता नहीं मालूम पडती कि वर्ण विधान ने अपने सहयोग की प्रेरणा द्वारा सामूहिक श्रम की समस्या को हल करने मे बहुत बड़ा भाग लिया था। सामूहिक श्रम से समाज और राष्ट्र की सम्पत्ति का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इस दृष्टि से वर्णव्यवस्था द्वारा सामाजिक सम्पत्ति की सुरक्षा और उसका सदुपयोग भी होता रहा। उदाहरण के रूप मे हम पाठकों का ध्यान गाधी जी द्वारा प्रस्तावित भारत मे नव-शिक्षा के लिए सुशिक्षित सामूहिक अध्यापकों की आवश्यकता की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। इस प्रकार के वेतन-भोगी सामूहिक शिक्षको को तैयार करके उनसे काम लेने मे किसी भी सरकार को अरबो रुपयो का सरकारी बजट अलग से तैयार करना पडेगा। परन्तु वर्णव्यवस्था मे ब्राह्मण वर्ग का धर्म ही अध्यापन कार्य बताया गया था। यदि वर्णव्यवस्था इसके निर्माताओ की योजना के अनुसार रही होती तो यहाँ हमे शिक्षको का एक नैसर्गिक वर्ग सदा तैयार मिल सकता था। जिस प्रकार यह वर्ग समाज को प्राप्त होता उसी प्रकार समाज भी उस वर्ग की जीवनावश्यकताओ का उत्तरदायी होता। यहाँ सरकारी बजट या शासन-यन्त्र के व्यय-साध्य उपायों की आवश्यकता नहीं थी। यह ठीक है कि वर्तमान समय मे ब्राह्मण वर्ग सामूहिक रूप से किसी ऐसे गुरुतर भार के लिए तैयार नही है, परन्तु उसकी अयोग्यता का कारण भी यही है कि एक कृत्रिम शासकीय वर्ग (जो सरकारी चक्र के रूप मे प्रकट हो रहा है) ने समाज के कार्यों मे अनुचित हस्तक्षेप करके उसे जर्जरीभूत कर दिया है, उसके सारे विधान ही ढीले पड गये हैं,

---

1 Indian Economics—Vol I, P 103

फिर वह अपने अनेक अवयवों को कहाँ तक कर्तव्यपरायण और सुयोग्य बनाये रख सकता ?

वर्ण-व्यवस्थात्मक सामूहिक जीवन

६८. वर्णगत ब्राह्मण वर्ग समाज के शिक्षण और अध्यापन का और उसकी जीवनावश्यकताओ का उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह नहीं कि ब्राह्मणो को पोथी-पत्रा देकर उन्हे भिक्षा वृत्ति पर छोड दिया जाय'। हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्ण विधान श्रम-विभाग रूप केवल एक सामाजिक व्यवस्था है, वैयक्तिक धर्म नहीं। समाज-हित के लिए लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनकर विभिन्न कार्यों का व्यवस्थित विभाग और व्यवस्थित संपादन कर सकते हैं। परन्तु वैयक्तिक जीवन मे सब समान हैं। कहने का अभिप्राय यह कि ब्राह्मण को समाजगत होकर अध्यापन कार्य तो अवश्य करना पडता है परन्तु स्वावलम्बी होना भी उसका परम कर्तव्य है अर्थात् उसे अपनी जीवनावश्यकताओ के लिए देखना होगा कि वह अपना जीवनोपार्जन स्वयं कर लेता है, लोगो की भिक्षा पर ही जीवित नहीं रहता। समाज उसकी जीवनावश्यकताओ की पूर्ति के लिए उत्तरदायी है, इसका अर्थ केवल इतना ही है कि समाज को देखना होगा कि उसके अध्यापको को जीवन के साधन सुनिश्चित रूप से प्राप्त हैं जिसकी देख-रेख और सुसञ्चालन वे स्वय कौटुम्बिक रूप से करते हैं। श्रम सिद्धान्तो के अन्तर्गत जिस प्रकार जुलाहे को वाणिज्य या सैनिक कार्यो से मुक्त होना आवश्यक है उसी प्रकार ब्राह्मणो को भी इन कार्यों से मुक्त रखना होगा, परन्तु यह न कभी कहा गया है और न कहा जा सकता है कि ब्राह्मण को चर्खे, गोपालन या कृषि आदि कार्यों से भी मुक्त कर दिया जाय और उसे अपने यज्ञोपवीत और भोजन तथा बच्चों के दूध के लिए समाज के दरवाजे खटखटाते-खटखटाते ही प्राण गँवा देने पड़ें। ब्राह्मण के भोजन, वस्त्र और निवास के लिए समाज उत्तरदायी है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि देवताओ के बहाने लोगो से कपड़े ऐंठ कर ही ब्राह्मण वस्त्र युक्त होने का उपाय ढूँढ़े। उसे कौटुम्बिक रूप से चर्खे द्वारा सूत देकर स्वयं जुलाहे से कपड़ा प्राप्त करना होगा। उसके रहने के लिए समाज को अवश्य स्थान देना होगा, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस स्थान पर घर और घर की मरम्मत के लिए समाज के किसी सरकारी स्टोर से उसे सामानो का राशन भी दिया जायगा। वर्णगत समस्याएँ यों ही हल हुआ करती थीं और इसीमे कल्याण भी था।

६६. अस्तु, सर्वप्रथम हम वर्णव्यवस्था पर लोगो के प्रमुख आक्षेपों को ही लेंगे :—

वर्ण विधान के विरुद्ध—

(अ) वर्णव्यवस्था के विरुद्ध आजकल का प्रचलित दोपारोप इसके जन्मना सिद्धान्त को ही लेकर किया जाता है। लोगो का कहना है कि ब्राह्मणो के वशज होने मात्र के नाते अनेक घोघा लोग भी ब्राह्मणत्व का दावा करने लगते हैं, हालाँकि वह सर्वथा इस पद के अयोग्य हैं। परन्तु यह दोपारोप सर्वथा निर्मूल है। वर्णव्यवस्था ने यदि वर्ग विभाजन किया है तो उन वर्गों का कर्तव्य भी निर्धारित कर दिया है। उन कर्तव्यो से च्युत व्यक्ति कदापि अपने पद का अधिकारी नहीं हो सकता। यदि कर्तव्यहीन व्यक्ति अपने जन्मजात पदो का लाभ ले रहे हैं तो यह उसी प्रकार है जैसे अनेक घोंघा और निखट्टू लोग अमीरो के वंशज, मजदूर सभाओ के सदस्य या समाजवादी दल के व्यक्ति होने मात्र के कारण जिलाधीश बनकर लाखो-करोडो के भाग्य विधाता बन बैठते हैं। यह सिद्धान्त का दोप नहीं, सिद्धान्त के गलत व्यवहार का दुष्परिणाम है। ऐसी दुरावस्था का जहाँ तक वर्ण से सम्बन्ध है, यह कहा जा चुका है कि परिस्थितिगत समस्त समाज की पगुता ही इसके लिए उत्तरदायी है। यदि समाज को कृत्रिम शासकीय हस्तक्षेपो से मुक्त होकर अपने नैसर्गिक अधिकारो को प्राप्त कर लेने दिया जाय तो निस्सन्देह समाज कर्तव्यहीन प्राणियो को निरापद कर देगा। परन्तु यहीं दूसरा प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि वर्णों को जन्मना मान लेने से शूद्रो के बढ़ने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। अतएव शूद्र लोग जीवन व्यापार तथा सामाजिक आवश्यकताओ के प्रति उदासीन भाव से ही कार्य करते हैं। इस प्रकार न शूद्रों को ऊपर उठने का और न तो ब्राह्मणो को निरापद होने के भय से कर्मशील होने का कारण रह जाता है। परिणामतः एक का विकास कुण्ठित हो जाता है तो दूसरे का पतन प्रारम्भ हो जाता है। अन्ततः सारा समाज ही भ्रष्ट हो जाता है। सामाजिक शक्तियाँ क्षीण और श्रम विधान परिणामहीन हो जाता है।

(ब) अतएव लोगो का कहना है कि वर्ण तो हो पर जन्मना नहीं। कर्मणा हों। ऐसा कहने का मतलब यह है कि जो जैसा कर्म करे उसे उसी वर्ण का समझना चाहिये। सब से पहले तो यह बात ही गलत, तर्कहीन और निराधार है। इसमे कोई सैद्धान्तिक बात ही नहीं रह जाती जिसे एक

निश्चित व्यवस्था के रूप मे लेकर लोग और लोगो के पीछे आनेवाले अन्य लोग व्यवहार मे ला सकें। जिसके मन जो आयेगा, जब मन आयेगा, जैसे मन आयेगा, करेगा। उनके कार्यों की कोई सुनिश्चित पथ रेखा न रह जाने से, समाज का सारा श्रम-विभाग ही संज्ञाहीन हो जायगा। कौन-कौन लोग क्या-क्या करेंगे—इसकी कोई योजना न रहने से अनुपातहीन और अनावश्यक कार्य होने की अधिक सम्भावना होगी। जरूरत न होने पर भी हजारो वकील और वाबू वनने दौडेंगे (जैसा कि हो ही रहा है), अयोग्य और अवाछित होते हुए भी लोग व्यापार मे हस्तक्षेप करने लगेंगे, परिस्थिति विरुद्ध होते हुए भी लोग कृषि को ले वैठेंगे (जैसा कि इस समय की दशा ही है) और नतीजा यह होगा कि समाज की सघटन धुरी टूट जायगी। इसके विरोध मे कुछ लोग वोल उठेंगे कि भारत के सिवा अन्यत्र कहीं वर्णव्यवस्था न रही है और न है। फिर वहाँ काम कैसे हो रहा है? तनिक ध्यान देने की वात है।

वर्ण विधान—ससार के नकशे में

वर्ण विधान श्रम-विभाग होते हुए भी इसका तात्विक आधार क्या है? यही न कि जो सेवा आदि (utility) कामो मे रत हो उसे शूद्र कहे, शूद्र का अर्थ नीच नहीं, समाज का भार वहन करनेवाला समाज का आधारात्मक वर्ग है। उसी प्रकार वाणिज्य, शौर्य्य और समाज रक्षा तथा अध्यापन कार्य करनेवालो का वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग हुआ। वर्णों का यही सच्चा आधार था और इस दृष्टि से कौन सा देश या समाज है जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र रूप से लोग कार्य नहीं कर रहे हैं। प्रश्न यह होता है कि उनमे भारतीय वर्णो के समान वन्धनादि तथा व्यवस्था नहीं है। जिस अंश तक यह वात ठीक है उसी अंश तक यह भी ठीक है कि भारतीय विधान के अनुशासन-तत्वो से विहीन होने के कारण ससार की अनेक सभ्यताएँ भूतल से ऐसी साफ हुई कि उनका नाम भी शेष नहीं रहा जब कि भारतीय समाज पूर्ववत् चला जा रहा है। इतिहास के पृष्ठो को उलटने से एक वात और नजर आती है। अन्यत्र भी भारतीय विधान के सदृश ही शासन और अनुशासन व्यवस्था रही है। यूरोप की 'ट्रेड' और 'सोशल' (व्यापार और सामाजिक) 'गिल्डस' (संस्थाएँ) के इतिहास को देखिये। वे ब्राह्मण और वैश्य न कहला कर भले ही कुछ और कहे जाते रहे हो पर कार्य की दृष्टि से हम उन्हे उन्हीं दिशा मे पाते हैं जिधर भारतीय वर्णगत वर्ग थे। अन्तर यही है कि वे हमारे

वर्णों की तुलना मे अपूर्ण और अविकसित थे। उन्होंने समाज को नीचे से ऊपर कर सम्पूर्णत. आच्छादित नहीं किया था और इसीलिए समय के आघात मे सहज ही उखड गये।

वर्णों का श्रम-विभाग रूप से अवलोकन करते समय हमारी दृष्टि एक अत्यन्त सूक्ष्म बात पर जाती है—मशीनो के व्यवहार से जब मनुष्य का श्रमाधार ही छिन्न-भिन्न हो उठा है तो फिर इसके विभाग की बात ही कहाँ रही ? यूरोप हो या भारत—इस घातक कीटाणु ने सर्वत्र समान रूप मे अपना विध्वंसक कार्य किया है। मनुष्य के श्रमाधार को छीन कर उसके समस्त आयोजन और विभाग को ही निर्मूल कर दिया है। इसी का फल है कि यूरोप के गिल्डो के समान ही भारतीय वर्ण विधान भी चंचल हो उठा है।

७०. अस्तु, कर्मणा वर्णों का यह तो आधारात्मक और सैद्धान्तिक पहलू हुआ। उसके व्यावहारिक रूप को लेने से एक दूसरा और उससे भी जटिल प्रश्न उपस्थित होता है; जो अध्यापक है उसे ब्राह्मण कहिये, जो सेवक है उसे शूद्र कहिये। कल वही ब्राह्मण बनिये के समान दूकान खोलकर बैठ गया क्योंकि इस कार्य मे समाज को कोई शासन या अनुशासन का अधिकार है ही नहीं। अतएव आज ब्राह्मण रूप से समाजगत प्राणी कल वैश्य रूप मे हमारे सामने आता है और दूसरी ओर शूद्र-कर्मी महोदय यज्ञोपवीत युक्त होकर सेवा कार्य के स्थान में लोगो के पूजा-पाठ और यज्ञादि तथा अध्यापन वृत्ति मे हिस्सा बँटाने लगे हैं। परिस्थिति हास्यास्पद होने से अधिक हानिकारक है। ऐसी अवस्था मे समाज का साम्पत्तिक या सांस्कृतिक विकास हो ही नहीं सकता। हुआ भी नहीं। वर्ण विहीन यूरोप की ओर यदि आपकी दृष्टि हो तो हम कहेंगे कि आप भयंकर भ्रम मे हैं। यूरोप ने मनुष्य के माहात्म्य को सर्वथा खो दिया है। वहाँ आसुरी लीलाओ का ही खेल होता रहा है। वास्तविक सुख और शान्ति की वे कामना भी नहीं कर सके हैं। साम्पत्तिक दृष्टि से भी जब हम देखते हैं कि लाखो भूखे और दरिद्र, रोगग्रस्त और मुँहताज लोग सरकारी भत्तों (doles) पर ही जीवित हैं तो बैंक ऑव इंग्लैण्ड या रॉस चाइल्ड के स्वर्णपूर्ण केन्द्र भारी धोखा मालूम पडने लगते हैं, असंख्य बेकारो के मध्य फोर्ड या क्रप्स के उत्पादन केन्द्र संसार के श्रमयुक्त होने के प्रमाण नहीं माने जा सकते।

कर्मणा वर्ण

७१. अभिप्राय यह कि वर्णों का वर्तमान जन्मना रूप यदि विधायक की अपेक्षा विघातक हो चला है तो उसका प्रस्तुत कर्मणा रूप और भी घातक है, व्यवस्थाहीन है, अव्यवहार्य्य है। यह तो निर्विवाद ही है कि किसी भी रूप मे हो, यूरोप के समान गुण, कर्म, स्वभाव को लेकर व्यवस्थ विभाजन हो, अथवा भारत का वर्ण-व्यवस्था रूप श्रम-विभाग हो, सामाजिक श्रम का एक सुव्यस्थित और सुनिश्चित आयोजन होना ही चाहिए अन्यथा गतिरुद्ध होकर मानव समुदाय वास्तविक विकास को प्राप्त न हो सकेगा। एक सुनिश्चित आधार का प्रश्न उठते ही

जन्मना और कर्मणा—तुलनात्मक चित्र

हमारे चुनाव के लिए दो ही स्थल रह जाते हैं ; जन्मना या कर्मणा। यह कहा जा चुका है कि कलमयी व्यवस्था मे जन्मना को स्थान ही नहीं रह जाता। खेतों की शकल भी न देखी हो, परन्तु कारखाने का हैण्डिल घुमानेवाला अकृपक वर्ग भी सम्पूर्ण कृपको के समान समाज के अन्न-वस्त्र का ठेका ले बैठा है। उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी रेडियो या रेकार्डो द्वारा लोगो मे शिक्षण और प्रचार कार्य कर रहा है। ऐसी दशा मे, स्वभावतः, जन्मना की अपेक्षा कर्मणा की ही ओर लोगो की दृष्टि अधिक आकर्षित होगी। यथार्थतः, यहाँ जन्मना और कर्मणा, किसी को भी स्थान नहीं। कोई व्यवस्था या आधार ही नहीं है। कर्मणा का ही प्रश्न रह-रह कर हमारे सम्मुख आता है और हमारे विद्वान उसीमे सुधार के साथ हमे योजनायुक्त बना देना चाहते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह होता है कि कल-कारखानो के सम्मुख हमारी वर्ण-व्यवस्था स्थिर ही क्योकर रह सकती है। इसके लिए एक वही कृत्रिम साधन उनका सहायक होता है। वह किसी प्रकार के कानून के आश्रय को दृष्टि मे रखते हुए प्रस्ताव करते हैं—"गुण, कर्म, स्वभाव को देखकर व्यक्ति को तदनुसार वर्ण मे रखा जायगा।"[१] सर्वप्रथम तो यही प्रश्न होता है कि किसका क्या कर्म और उसका कैसा स्वभाव होगा ? बीज और पौधो से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति बिजली के बटन के सहारे कृषक बना बैठा है, 'लाण्ड्री' (धोबी-खाने) मे परिश्रम करनेवाला व्यक्ति मशीनो के सहारे समाज के अध्यापन और सञ्चालन का भार लिये हुए है। ब्राह्मणो को वशज होने मात्र के नाते पापी, दुराचारी, आततायी और समाजद्रोही समूह ब्राह्मणत्व का

---

१ समाजवाद, श्री सम्पूर्णानन्द, पृष्ठ ५०

अधिकार माँग रहा है। यहाँ तो कर्म और स्वभाव—सभी का वर्ण सकर हो चुका है। यदि उपर्युक्त सलाह को मान भी लें तो प्रश्न उठता है कि लोगो के गुण, कर्म और स्वभाव को देखेगा कौन? तदनुसार वर्ण मे रखेगा कौन? इस प्रकार वर्ण परिवर्तन की दुम बाँध देने से एक कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व समस्त समाज को सुलगती हुई आग के समान भस्मसात् करता रहेगा। नौकरी के लिए उम्मीदवारो अथवा तरक्की के लिए नौकरो के समान अनेक वैश्य और शूद्र ब्राह्मण बनने के दाँव खेला करेंगे। ब्राह्मण लोग स्वय या क्षत्रियो के साथ मिलकर उनकी चेष्टाओं को विफल करने के षडयन्त्र मे उलझे रहेंगे। जाँच की कसौटी बननेवाला यत्र एक नयी शोषक और शासक सस्था बनकर ही रहेगा। ब्राह्मण लोग कर्तव्यपरायण बनने के बजाय किसी न किसी प्रकार उस अधिकार को, उस सस्था की सत्ता को स्वाधीन रखने के लिए इस प्रकार सतर्क रहेंगे कि उन्हें तनज्जुल न होना पड़े। वास्तव मे यह एक बड़े महत्त्व का प्रश्न है। जन्मना का अर्थ है सामूहिक विधान होते हुए भी उनके निभाने का भार व्यक्ति का निजी और नैतिक उत्तरदायित्व बना देना। यहाँ समाज को मजदूरो के 'सुपरवाइजरो' (निरीक्षक) अथवा 'स्लेव ड्राइवरो' (गुलामो के मालिक) के समान लोगो के पीछे दौडते नहीं रहना पडता, ताजीरात हिन्द और 'मुनसफी' तथा 'फौजदारी' का व्यापक जाल नहीं फैलाना पडता। परन्तु कर्मणा के आधार पर आते ही समाज को दलबद्ध होकर प्रत्येक व्यक्ति के शुभ-अशुभ का बोझ ढोते रहना पडेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत समस्याओ को राष्ट्रीय सूची मे सम्मिलित कर देना होगा। संक्षेप मे, नैतिक को राजनीतिक बना देना होगा।

फिर?

फिर यही कि वर्ण यदि हो सकते हैं तो जन्मना ही और यदि वर्ण रहे भी तो उन्हे कर्तव्यो से युक्त होना चाहिये (जो आज की बदली हुई परिस्थितियो मे कठिन दीखता है)। जो कर्तव्य च्युत हो उसे बहिष्कृत कर दिया जाय अर्थात् वर्णयुक्त होते हुए भी उसे समस्त सामाजिक व्यवहार से वञ्चित कर दिया जाय। परन्तु साथ ही साथ यह भी होना होगा कि यदि कोई व्यक्ति अपने कर्मकाण्ड और कर्तव्यपरायणता द्वारा, न कि किसी व्यक्ति या समूह के प्रशंसा पत्र पर, ऊपर उठ रहा है तो उसे निर्विघ्नतापूर्वक ऊपर उठने दिया जाय, ठीक उसी प्रकार जैसे विश्वामित्र अपनी अनन्त तपस्या द्वारा ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे अथवा

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा जैसे तपोवली ब्राह्मणों ने क्षत्रियत्व का भार वहन किया था। वर्ण परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी भी तो उसे सम्पूर्ण कर्मयोग, कर्तव्य और तपश्चर्यायुक्त साधन द्वारा ही सिद्ध करना होगा न कि सिफारिशी चिट्ठियो या वोटो की चट-पट उलटफेर से। वस्तुतः, जिसका जो वास्तविक स्वभाव है वह उसमे लगेगा ही। यदि एक शूद्र को अध्ययन और अध्यापन मे रुचि है तो उसे निर्विरोध रूप से इस कार्य मे लगने दिया जाय। समय आयेगा कि उसकी अभिरुचि और योग्यता का समाज स्वयं क़ायल होकर आदर करेगा। विदुर के यहाँ भगवान् कृष्ण को भी जाना पडा। विदुर का उदाहरण एक वात और सिद्ध करता है। शूद्रों को केवल सेवा ही करनी पड़ेगी सो वात नहीं। यदि वह यथार्थतः योग्य है तो वह वर्ण परिवर्तन की घातक उलझनो से मुक्त रह कर भी केवल शिक्षण और अध्यापन ही करता जायगा। फिल-हाल हम इससे आगे कुछ नहीं कहना चाहते। हम इस वात को ठीक नहीं मानते कि "प्रौढ़ शिक्षा" द्वारा लिखने-पढ़ने की 'तरकीव' वताकर या आर्यसमाज मन्दिर मे धोवी और मेहतरो को यज्ञोपवीत मात्र से "पं० गोवर दास" आदि के नाम से ब्राह्मणत्व का वितरण किया जाय और समाज को घर और घाट—दोनों खोना पड़े, सेवा और विद्या, दोनो ही।

परन्तु यह हमारी शुभेच्छा मात्र है, आज के युग मे विदुर, द्रोण, विश्वामित्र के आदर्शों को कार्यान्वित करना कठिन हो गया है। आज हमे ऐसे विद्वान् की आवश्यकता है जो वैयक्तिक साधना के अनिश्चय मे न उलझा हो। इस सम्बन्ध मे गांधी जी ने हमारा वहुत ही स्पष्ट रूप से निर्देशन किया है। "वर्ण का अर्थ अत्यन्त सहज है। इसका अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को सिर्फ जीविका के लिए ही करें, वशर्ते कि वह नीति के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो" (नवजीवन ३-११-२७) फिर "अगर मेरे पिता व्यापारी हैं और मुझमे सैनिक के गुण मौजूद हैं तो मैं विना किसी पुरस्कार के सैनिक वन कर देश सेवा कर सकता हूँ। मगर अपनी रोजी के लिए मुझे व्यापार का ही आसरा रखना होगा।" (नवजीवन, १-१२-२७) यानी वर्णों का जीविका के धन्धो से जन्मना सम्वन्ध हो और वर्ण परिवर्तन के लिए जीविका नहीं, सामाजिक और राष्ट्रीय हेतु होना चाहिये।

फिलहाल जब तक सर्वोदय के ज्ञानमय कर्मकाण्ड की स्थापना नहीं हो जाती, वर्तमान और भविष्य के वीच समझौते के रूप मे यह तो कहा

ही जा सकता है कि "यदि बुद्धि से काम लिया जाय तो आज भी वर्णाश्रम धर्म हमारी समस्त समस्याओ को सुलझा सकता है।"[1] यह बुद्धिमत्ता उसी समय कारगर हो सकेगी जब हम अस्पृश्यता को समाज से बिलकुल मिटा देंगे। मैने कहा है कि समाज मे इकाई रूप से प्रत्येक व्यक्ति समान है, इसमे छूत-अछूत का भूत घुसेड कर समाज मे नीच-ऊँच का कृत्रिम सस्कार नहीं करना है। शूद्र भले ही मन्दिर का पुजारी न हो, भले ही वह गगा के किनारे बैठ कर लोगो को पाठ और चन्दनादि का लाभ न देता हो, परन्तु मन्दिर का पुजारी नहीं तो मन्दिर मे पूजा का उसे सम्पूर्ण अधिकार तो है ही। गाँव मे बसनेवाले ब्राह्मण और शूद्र, दोनो गॉव के बुरे-भले के जिम्मेदार हैं। उन्हे एक साथ समान रूप से बैठ कर गॉव की गुत्थियो को सुलझाना होगा। भले ही कोई अपनी सुविधा और सुयोग्यता के नाते गॉव का सलाहकार और निर्देशक हो जाय, और हम चाहे तो उसे ब्राह्मण कहे, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गॉव के श्रम और सम्पत्ति का निर्माता होकर भी उस पर विचार करने के लिए एकत्र लोगो को ग्राम पचायत से भी बहिष्कृत कर दिया जाय, केवल इसलिए कि इन्हें शूद्र कहा जाता है। अस्पृश्यता को स्थल देना ब्राह्मणो का महा पतन है। यदि हम ब्राह्मण हैं, यदि हम वेदाधिकारी हैं तो निस्संदेह हमारे संसर्ग से जल और वायु भी शुद्ध हो जायेंगे, आदमी का क्या कहना? वह तो बेचारे उसी प्रकार मनुष्य हैं जैसे स्वयं ब्राह्मण, आदमी भी ऐसे जिनके श्रम और सहयोग से स्वयं समाज अस्तित्वमान होता है, ब्राह्मण और शूद्र जिसके अङ्ग मात्र हैं।

वर्णव्यवस्था—सामाजिक सहयोग का प्रेरणा विन्दु

७२. इसके पश्चात हमारा ध्यान एक दूसरे दोपारोपण की ओर जाता है; कुछ लोगो का कहना है कि उपर्युक्त वर्ण प्रधान ग्राम्य व्यवस्था का मुख्य दोष यह है कि वह समाज की परिवर्तनीयता पर प्रबल आघात करती है,[2] मतलब यह कि समाज को कठोर अनुशासनों मे जकड कर यह उसकी प्रत्येक विकासमान प्रगति में बाधक होती है। यदि हमने उपर्युक्त बातों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है तो हमे यह समझना कठिन हो जायगा कि आखिर इस दोपारोप का आधार ही क्या है? व्यर्थ के नये विवाद मे न पड कर यदि हम केवल

---

१ समाजवाद, पृष्ठ ४७

2 Problem of India—Dr Shelvarkar

इतना ही स्मरण रखें कि मनुष्य ने आज तक जो कुछ भी किया है उसका श्रेय केवल मनुष्य की सहयोग भावना और उसकी सहयोगी संस्थाओं को ही है तो यह समझने मे कष्ट नही होता कि वर्ण व्यवस्था ने सामाजिक सहयोग की अपार प्रेरणा दी है।

वर्णव्यवस्था —— न्यायाधीश के रूप मे

७३. अन्त मे, इस वर्णप्रधान ग्राम्य सभ्यता के राजनीतिक अंग पर विचार करते हुए हमे यह कह देना पडेगा कि समाज की समस्याओ को जितनी सरलतापूर्वक इसने सुलझाया, वह अन्यत्र कही भी सम्भव नहीं हुआ। यहाँ वादी और प्रतिवादी दोनो समाज के उन्हीं चिर परिचित न्यायाधीशो के सम्मुख होते थे जो उनकी रत्ती-रत्ती बातों से अवगत होने के कारण शीघ्र साध्य अचूक निर्णय मे कभी गलती कर ही नहीं सकते थे। और आज ? एक साधारण ग्रामीण विधवा को अपने पति की हकदार विवाहिता स्वीकृत होने के लिए वर्षों की लम्बी अवधि अदालतो की भयावह झुरमुट मे ही गँवा देना पडता है।

वर्णव्यवस्था और प्रतिस्पर्धा

७४. हाँ, यह अवश्य है कि वर्णव्यवस्था मे अनुचित प्रतिस्पर्धा को स्थान नहीं। प्रतिस्पर्धा व्यावसायिकता के लिए हितकर हो सकती है; जीवन सुख की प्राप्ति के लिए नहीं। वर्णव्यवस्था केवल सहयोग (न कि सघर्ष) रूपेण प्रादुर्भूत हुई थी। यदि इसे प्रतिस्पर्धा विरोधिनी कहा जाय तो यह वर्ण-विधान की सफलता को ही स्वीकार करना होगा। वर्ण-विधान एक ग्राम्य प्रधान व्यवस्था है, इसमे शहरी चमक-दमक की कृत्रिमता को स्थान नहीं। यहाँ मनुष्य की वास्तविक सुख-समृद्धि के साधन हैं। निस्सन्देह, यह उस आकाश गामी उन्नति का दावा नहीं करती जहाँ ऊँची-ऊँची संगीतपूर्ण जग-मग अट्टालिकाओ की पटरियो पर भूखे-नगे रोगी और कराहते हुए निराश्रित लोगो का झुण्ड कुत्तो-बिल्लियो के समान अथवा सरकारी भत्तो के सहारे सरकारी सरायो मे जिन्दगी की कष्ट साध्य घड़ियाँ पूरी करता हुआ नजर आता है। यहाँ सब को सर्वस्व का स्वामी बनाकर अपरिग्रह और अस्तेय पूर्वक जीवन व्यापार मे व्यस्त रखने की कल्पना की गयी थी।

७५. वर्ण द्वारा श्रम का सामूहिक विभाग करने के पश्चात् व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का विभाग करना भी आवश्यक था। व्यवस्थित जीवन

द्वारा व्यक्ति के क्रमिक विकास को सिद्ध करने के लिए ही आश्रमो की व्यवस्था हुई थी। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास—एक के पश्चात् दूसरी सीढ़ी पर पग रखते हुए मनुष्य समाज का सबल चिह्न बना हुआ जीवन की उत्तरोत्तर दशाओ को प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार वर्ण और आश्रम के संयुक्त व्यवहार से ही वर्णाश्रम धर्म की स्थापना हुई थी।

वर्णाश्रम

७६. परन्तु इसे अब पाखण्डो के स्तूप से ढक दिया गया है। यह इतना बड़ा स्तूप है कि इसके नीचे दब कर आज समस्त भारतीय समाज मरणासन्न हो चला है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि आज विश्व का समस्त वातावरण 'कलमय' भावनाओ से व्याप्त है। हमारी सारी कर्मशीलता मे कलमयता का प्राण बोल रहा है, मानवी सूत्रो का स्थान मशीनो ने ले लिया है और परिणामतः हमारी सारी औद्यागिक कल्पनाएँ कलमय हो चली हैं। अभिप्राय यह कि वातावरण और प्रेरणाएँ वर्णाश्रम के ठीक प्रतिकूल हैं। ऐसी दशा मे वर्णाश्रम धर्म को उसके मौलिक और प्रारम्भिक आधार पर कायम रखना कठिन हो गया है। चूँकि समाज के आकार-प्रकार पर ही सामाजिक विकास का चक्र चलता है और चूँकि वर्ण-धर्म से ही हमारे समाज का सारा ढाँचा बना है, इसलिए इस प्रश्न को गम्भीरता पूर्वक समझने की जरूरत है।

'कलयुग' और वर्णाश्रम

७७. हम देख रहे हैं कि वर्तमान स्थिति मे वर्णाश्रम का तात्त्विक आधार छिन्न-भिन्न हो गया है और उससे जो वर्ण प्रधान व्यवस्था बनी थी वह अब अपने मूल उद्देश्य मे असफल हो रही है। सारी शुभेच्छाओ और सैद्धान्तिक प्रमाणो के बावजूद समाज का विकास-क्रम गतिहीन और भ्रष्ट हो गया है। इन्हीं बातो को ध्यान मे रख कर गाधी जी ने समस्या के अचूक समाधान के रूप मे समाज के कर्म और ज्ञान, दोनों के औद्योगिक आधार को 'नयी तालीम' अर्थात् नव शिक्षा द्वारा एक अभूतपूर्व प्रेरणा दी।

गाधी जी की नयी योजना : 'नयी तालीम' : समस्या का अचूक समाधान

'नयी तालीम' मे कर्म और उद्योग से ही ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था

की गयी है। कर्म यो भी जीव मात्र के लिए आवश्यक हैं। जीवन हो या ज्ञान, दोनो पक्षो से कर्म और उद्योग का ही आधार लेना पड़ता है। इस प्रकार गाधी जी ने 'नयी तालीम' द्वारा ज्ञानी और कर्मयोगी के सूक्ष्म सैद्धान्तिक भेद को मिटा कर समस्त सामाजिक जीवन को 'ज्ञानमय कर्म' में परिणत करने की योजना दी, समाज के औद्योगिक जीवन को उन्होने कर्मठ ज्ञान की ओर प्रेरित किया। पहले ज्ञानी होने का अर्थ सन्यासी भी लगाया जाता था। भगवान कृष्ण ने गीता मे इसकी स्पष्ट रूप से भर्त्सना की है। गाधी जी ने गीता के उसी कर्मयोग को अपने अनासक्ति योग और 'नयी तालीम' के द्वारा व्यवहार शास्त्र मे बदल देने की कोशिश की। इस प्रकार समाज का सारा श्रमिक ढाँचा ही बदल जाता है। यहाँ आकर ब्राह्मण का विशेपाधिकार समाप्त हो जाता है, सेवा, ज्ञान और उन्नति के मार्ग मे शूद्र के लिए कोई वाधा नहीं रह जाती। दोनो को कर्मशील बन कर ही जीवित रहने का विधान है। ब्राह्मण को भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसी उद्योग का सहारा लेना पड़ता है, जिसे लेकर क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जीवमान हो रहे हैं। इस रास्ते से बढ़ते-बढ़ते अंत मे समाज शासनविहीन यानी रामराज का रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार गांधी जी ने श्रम सिद्धान्तो को एक विलकुल ही नयी नींव पर खड़ा किया। यहाँ सामाजिक श्रम और सहयोग से लोगो के सम्मिलित व्यवहार को गति और जीवन प्राप्त होता है। सारा समाज उद्योगमय, सहयोगमय श्रम सिद्धान्तो का लाभ लेने मे सम्पूर्णतः समर्थ सिद्ध होता है। वस्तुतः 'हीट प्रूफ', 'वाटर प्रूफ' या 'फूल प्रूफ' के समान ही यह एक 'भेद रहित', शुद्ध ज्ञानमय श्रम व्यवस्था है। यहाँ किसी की इच्छा या अनिच्छा, अथवा मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि ब्राह्मण लोग शूद्रो को अपने समान समझें। यहाँ ब्राह्मण और शूद्र, दोनो को स्वाभाविक, स्थितवत् समानता प्राप्त है। यथार्थतः यहाँ ब्राह्मण और शूद्र का अस्तित्व ऊँच और नीच के रूप में अलग-अलग नहीं रह जाता।

७८. इसी प्रसंग मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना है: गांधीवाद मानव मात्र के कल्याण को अपना हेतु बना कर आगे आता है। उसकी सीमाएँ भारत की चौहद्दी मे ही नहीं समाप्त हो जातीं। परिणामतः हमे अपने श्रम सिद्धान्तों को ऐसी जमीन पर खड़ा करना होगा जहाँ

विश्व की सभी जातियो का समागम हो सके। अरब, अमेरिका, रूस और नारवे वालो को यदि भारत के समान ही चर्खात्मक सॉचे मे ढालना है, ढालने की चेष्टा और कल्पना करना है, तो एक सर्वनिष्ठ आधार होना ही चाहिये। हिन्दू समाज को छोड कर शेष संसार को ब्राह्मण-शूद्र रूपी भारतीय वर्णो मे बॉटना असम्भव है, अभीष्ट भी नहीं है। हमे अपनी भारतीयता, अपनी भारतीय सस्कृति को जातीय या प्रादेशिक नहीं, मानवी, सार्वभौमिक सत्ता मे परिणत करना है। हम कहॉ तक सफल हो सकते हैं, यह दूसरी बात है, परन्तु हमारी दिशा, हमारा लक्ष्य, हमारा आदर्श वही रहेगा अन्यथा हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि अमेरिका वाले हमारी भारतीयता का समादर करें। अत, सारे संसार मे आदान-प्रदान की निर्दोप धारा प्रवाहित करने के लिए वर्ण धर्म को वातावरण और प्रकृति के परिचय के साथ उद्योगों के आधार पर खड़ा करना होगा ताकि यह न हो कि ज्ञान-विज्ञान, अनुभव, समाज सञ्चालन और समाज व्यवस्था तो ब्राह्मण रूपी एक दल विशेप के हाथ मे हो और उद्योग यानी मजदूरी और गुलामी शूद्र रूपी एक शासित और शोषित वर्ग के माथे मढ़ दी जाये। यहॉ यह स्पष्ट रूप से ध्यान मे रखने की जरूरत है कि गाधी जी ने मानवी गुणो के विकास की दृष्टि से वर्णों की महत्ता को कभी अस्वीकार नहीं किया है (देखिये हरिजन ता० ६–४–५०)। दोप वहीं से उत्पन्न होता है जब इसमे ऊँच-नीच की भावना का समावेश हो जाने के कारण सामाजिक समता मे वाधा उत्पन्न हो जाती है और धीरे-धीरे समाज शोषण, वर्ग विद्वेप, और अन्य अनेक घातक प्रवृत्तियो का शिकार हो जाता है। इन सारी सम्भावनाओ को निर्मूल वनाने के लिए ही गाधी जी ने वर्णों के औद्योगिक आधार को 'नयी तालीम' के द्वारा वदल देने की कोशिश की। यही है गाधीवाद की एक अमर देन जिसके आधार पर 'भारत' का पुनर्निर्माण करना है, विश्व में कार्य और श्रम की शुद्ध मर्यादा स्थिर करनी है ताकि मनुष्य को आर्थिक के साथ ही नैतिक, और भौतिक के साथ ही आध्यात्मिक वल भी प्राप्त हो सके। संक्षेप मे, गाधी की योजना विश्व-धर्म की योजना है।

गाधी की योजना : विश्व-धर्म

(५)

७६. नारी प्रकरण मे हम समाज के कौटुम्बिक स्वरूप पर कुछ विचार कर चुके हैं। हिन्दू हो या मुसलमान, कौटुम्बिक व्यवस्था भारतीय

समाज का एक व्यापक लक्षण है। वस्तुतः इसमे अर्थशास्त्र के अनुपेक्षणीय तत्त्व निहित हैं। यहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य "अपनी योग्यता भर कमाता है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका उपभोग करता है।" व्यवहारतः, कौटुम्विक व्यवस्था समाजवादी सघटन का एक निकटतम उदाहरण है।[1] कौटुम्विक व्यवस्था मे परिवार के समस्त प्राणी सुख दुःख, समय-कुसमय, सदा-सर्वदा एक-दूसरे से वॅधे हुए समान रूप से जीवन को सुलभ वनाने मे सफल होते हैं। यथार्थतः, मनुष्य की नैसर्गिक सहयोग भावना की ही इसमें प्राण प्रतिष्ठा हुई है। इसके कारण राजनीति की चंचलता का समाज पर प्रभाव नहीं पडने पाता, समाज की सुदृढ़ प्रगति मे वाधा नहीं होती। दिल्ली के तख्त पर पृथ्वीराज के स्थान मे मुहम्मद गोरी की भले ही हुकूमत स्थापित हो जाय परन्तु कुटुम्व के स्वार्थों से इसका कोई सम्वन्ध न रहने के कारण उसके सदस्य यथाशक्य पूर्वानुसार ही जीवन संघर्ष मे सचेष्ट रहते हैं। समाज की सुदृढ़ता का यह सवसे वड़ा कारण तो है ही, साथ ही साथ सरकार से समाज की स्वतंत्रता का भी यह एक प्रवल प्रमाण है। सरकारो की उलट-फेर के साथ ही जिस राष्ट्र के सामाजिक जीवन मे हेर-फेर के कारण विद्यमान रहेगे वह समाज कभी सुदृढ़ अस्तित्व को प्राप्त हो ही नहीं सकता। सामाजिक अस्थिरता का अर्थ ही है सामूहिक विकास को कुण्ठित कर देना। भारत की ग्राम्य व्यवस्था के लिए तो कौटुम्विक विधान एक अमोघ अस्त्र है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह की समुचित सुविधाएँ प्राप्त हो, यही कौटुम्विक व्यवस्था की विशेषता है। निस्सन्देह, यहाँ वैयक्तिक स्वच्छन्दता को स्थान नहीं। वस्तुतः, कौटुम्विक व्यवस्था समाज के सम्मिलित जीवन की एक उत्कृष्टतम रीति है। काल-कालान्तर तथा कलमय आघातों से जव सारा सामाजिक ढाँचा ही अस्त-व्यस्त हो रहा है, उस दशा मे सम्मिलित जीवन की महिमा ही क्योकर स्थिर रह सकती है? यही कारण है कि आजकल लोग पारिवारिक वन्धनो को वैयक्तिक विकास का विरोधी वताने लगे हैं। हम स्वयं व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके पुरुषार्थ के समर्थक हैं। सर्वोदय की सारी कल्पना, सारी योजना ही

भारतीय कुटुम्व व्यवस्था

---

1 Indian Economics, Vol 1, Jathar & Beri, 1937 p 110, 18

कुटुम्ब प्रधान है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तिवाद की कृत्रिम और स्वच्छन्द लीलाओं से समाज के तारों को ही बिखेर दिया जाय। ऐसा व्यक्तिवाद पूँजीवाद का ही द्योतक हो सकता है जहाँ 'लैसेज़ फेयर' के नाम से बलवानों को किसी के, किसी प्रकार के, हस्तक्षेप के बिना दुर्बलो को चूसते रहने का अवसर प्राप्त होता है। नारी प्रकरण मे हम इस बात की ओर सकेत कर चुके हैं कि कौटुम्बिक विधान मे श्रम और सम्पत्ति के अन्योन्याश्रित मूल निहित हैं। यहाँ हमे केवल इतना ही और कहना है कि यदि गरीबी, गर्भावस्था, रोग और वृद्धावस्था के बिलकुल ही प्राकृतिक बीमो की कहीं भी व्यवस्था हो सकती है तो वह केवल कौटुम्बिक प्रणाली मे ही। यह प्राकृतिक बीमा सरकारी उलट-फेर या कर्मचारियों की घूसखोरी अथवा गबन से बिलकुल अछूता, सदा-सर्वदा अविचल गति से चला जाता है। इस प्रकार समाज की आर्थिक सुरक्षा का भी यह एक प्रबल अस्त्र है। श्रम और सहयोग की दृष्टि से भी यह एक अमूल्य साधन है। यहाँ एक के अभाव की पूर्ति दूसरे के श्रम और सहयोग से होती है अर्थात् राजनीतिक चंचलता, बाजारू उलट-फेर, साम्पत्तिक चढ़ाव-उतार, शारीरिक विवशता अथवा अन्य अनिश्चितताओ के विरुद्ध यह संयुक्त विधान व्यक्ति को समाज से अभयदान रूप मे प्राप्त होता है।

८०. इतना सब होते हुए भी कुछ लोगो का कहना है कि संयुक्त व्यवस्था मे व्यक्ति को उसके श्रम का सम्पूर्ण पुरस्कार प्राप्त नहीं होता।

सयुक्त परिवार

ऐसा कौन लोग कह सकते हैं, स्वय इस युक्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। बात को और भी स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न होता है कि आखिर सपूर्ण पुरस्कार का क्या यही अर्थ है कि वृद्ध माता-पिता जीवन की साधारण सुविधाओ के लिए भी मुँहताज हो और पुत्र अपने परिश्रम के संपूर्ण पुरस्कार का हकदार होने के नाते मौज-मज़े मे व्यस्त हो? यदि यह दशा असामान्य है, यदि इससे सामाजिक वैषम्य को घृणित कटुता प्राप्त होने का भय है तो प्रश्न यह होता है कि आखिर इसका प्रतिकार कौन करेगा? यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति की सुख-समृद्धि के लिए समाज अथवा सरकार उत्तरदायी है तो इसका यही अर्थ होगा कि व्यक्ति के सीधे, सरल और नैतिक उत्तरदायित्व का राज्य द्वारा कृत्रिम रूप से सञ्चालन किया जाय; यही नहीं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष कन्धो पर ढकेला जायगा, बल्कि इसका एक भयकर परिणाम यह भी होगा कि सामाजिक जीवन में

शासकीय हस्तक्षेपों का घातक रोग उत्पन्न हो जायगा। यदि हम इस समूहवादी दृष्टिकोण को मान भी लें कि सरकार को सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार है तो भी यही बात बनती है कि सारा समूह अपने व्यक्ति के सुख का उत्तरदायी है और संयुक्त परिवार में भी यही बात सरकारी पेचीदगियों का आवाहन किये बिना ही बिलकुल सरल और प्राकृतिक रूप से नैतिकतापूर्वक हल की गयी है। अन्तर यही है कि यहाँ प्रत्येक परिवार समाज में इकाई रूप से कार्य कर रहा है। परिणामतः समाज को एक अडिग अस्तित्व प्राप्त होता है जब कि दूसरी ओर व्यक्ति-रूपी अस्पष्ट और अनिश्चित, असंख्य इकाइयों द्वारा कार्य करने की एक कृत्रिम कल्पना है। सामूहिक जीवन का मापदण्ड सामूहिक ही हो सकता है, न कि वैयक्तिक। प्रत्येक व्यक्ति का समाज पर पृथक्-पृथक् बोझ रहने से एक अत्यन्त जटिल और महँगे शासन की सृष्टि होगी। जो भी हो, यह या वह, प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वार्थों का समूह के स्वार्थों से सामञ्जस्य स्थापित करना ही होगा, अन्यथा 'श्रम के संपूर्ण पारिश्रमिक' का प्रचार उस भेड़िये (पूँजीपति, पूँजीवादी) की चाल मानी जायगी जो एक हाते में सुरक्षित भेड़ों को गड़ेरिये की गल्लेबानी के विरुद्ध भड़का कर भेड़ों को हाते के बाहर स्वतंत्र विचरने की सलाह देता है और पुनः उन्हें सुविधानुसार एक-एक करके खाता रहता है। संक्षेप में, श्रम का सामञ्जस्य हीन और स्वच्छन्द पारिश्रमिक अथवा पुरस्कार बिलकुल अतार्किक बात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ लेन-देन के साथ प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक हितों के साथ अपनी ही स्वार्थरक्षा करता है। यह कहना न होगा कि संयुक्त व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति घातक स्वच्छन्दता के स्थान में आत्मसंयम और त्यागपूर्वक उन्नति-पथ में सहज ही आरूढ़ रहता है।

८१. संयुक्त व्यवस्था के विरुद्ध दूसरा दोषारोप यह किया जाता है कि पारिवारिक उत्तरदायित्व में बँधा हुआ व्यक्ति आज-कल की व्यावसायिक आवश्यकताओं के अनुकूल साहस करने में असमर्थ सिद्ध होता है। यदि सच पूछा जाय तो कोई भी विवेकी पुरुष ऐसी व्यावसायिक उन्नति का कदापि समर्थक नहीं हो सकता जो खाई और खड्ड के बीच साहस की भयावह लीक पर चल रही हो और जहाँ रह रहकर 'पनामा' या 'क्रूगर' के दीवालों से समाज के पंजर ढीले पड़ जाया करते हों, जिसका सामूहिक फल युद्ध और उत्पीड़न हो, प्रति दसवें वर्ष पूँजीवादी संकट (Capitalist crises) जिसके प्रमुख लक्षण हों। हम ऐसी तेज

रफ्तार के शौकीन नहीं जो विषम ज्वर के तापमान के समान क्षण-क्षण मे नीचे ऊपर होती रहती है। हम तो उस मन्दगति को अधिक अच्छा समझेंगे जिसमे धीमी परन्तु एक सुनिश्चित प्रगति का आयोजन हो, और जिस आयोजन मे एक के साथ दूसरे का उत्तर-दायित्व सम्मिलित हो। भारत की पूर्वकालीन विश्व-विश्रुत तिजारत और उद्योग-धन्धे इसी बात के प्रमाण हैं। हम निःशङ्क होकर कह सकते हैं कि हमारी उस उन्नति मे हमारे पारिवारिक जीवन द्वारा प्राप्त होनेवाले सम्मिलित उत्तरदायित्व का एक बहुत बडा योग था। परन्तु खेद है कि आज 'लैसेज़ फेयर' तथा अंग्रेजी कानूनो के स्वच्छन्द व्यक्तिवाद ने उसकी नींव को खोखला कर दिया है, हम निढाल और पथ-च्युत हो गये हैं।

परिवार और वैयक्तिक साहस

८२. यह कहना बिलकुल गलत है कि तब आज के समान रेल और जहाज न थे और इसीलिए लोग सयुक्त रूप से एक-दूसरे मे बँधे हुए—कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करते थे। यह बात ठीक है कि तब पूँजी का मुख्य आधार भूमि थी और सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से भूमि का अविभाज्य होना ही उचित था। अतएव अविभाज्य वस्तु पर निर्भर करनेवाली व्यवस्था को भी अविभाज्य होना ही था, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि केवल गमनागमन के अभाव मे ही संयुक्त व्यवस्था का विधान हुआ था। यथार्थतः, जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं, हमारी कौटुम्बिक व्यवस्था मे, भौतिक साधनो से बिलकुल स्वतन्त्र, एक सम्मिलित (Corporate) समाज का प्रबल सैद्धान्तिक आधार था और आज भी रेल और जहाजो के बावजूद हमें उसे सुरक्षित रखने मे ही हित दीखता है। भारत प्रभृत कृषिप्रधान देश में भूमि की रक्षा के निमित्त तथा उसे अनर्थपूर्ण (Non Economic) विभाजन और उप-विभाजन से बचाने के लिए भी कौटुम्बिक व्यवस्था परमावश्यक है। इसे आज की बहु प्रचारित सामूहिक कृषि (Collectivism) का सुसंस्कृत रूप ही समझना चाहिये।

सयुक्त परिवार सामूहिक कृषि का सतुलित रूप है

विनोबा जी के भूमि-दान-यज्ञ ने सामूहिक कृषि को एक नया महत्त्व प्रदान कर दिया है। विनोबा जी कहते हैं 'गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है।' 'कृषि और खाद्य समस्याओं' का विवेचन करते हुए 'संतुलित

'और सम्पूर्ण' कृषि की योजना दी गई है जहाँ वैयक्तिक कृषि का सामूहिक स्वरूप निर्धारित हो जाता है। परन्तु इस प्रसंग मे प्रश्न के एक नये पहलू पर विचार करने की जरूरत है।

'गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है'—इसका मतलब तो केवल यही हुआ कि जमीन पर व्यक्ति का स्वच्छन्द अधिकार नहीं रह सकता, वह उसे स्वेच्छानुसार बेंच नहीं सकता, हस्तातरित नहीं कर सकता। व्यक्ति के स्वार्थ मे समूह का स्वार्थ अन्तर्हित है, इसलिए धरती को अविभाज्य रहना ही चाहिये। इसीलिए हमने कहा है कि संयुक्त परिवार के लिए संयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है परन्तु मंगरौठ जैसे उदाहरणो ने इस प्रश्न मे एक और दृष्टिकोण पैदा कर दिया है। मगरौठ ने गाँव की सारी जमीन भूमि-दान-यज्ञ मे समर्पित कर दी और अब मगरौठ की सारी जमीन सारे गाँव की हो चुकी है। यहाँ, स्वभावतः, सम्मिलित और सहयोगी कृषि की योजना बनी है। नवभारत मे पृथ्वी के स्वामित्व पर पारिवारिक इकाइयो मे विचार किया गया है; गाँव की इकाई को उसी का बडा स्वरूप समझना होगा। परन्तु इस इकाई को इससे आगे सपूर्ण देश या राष्ट्र तक नहीं बढाया जा सकता वरना वह समूहवादी जड़ता को प्राप्त हो जायेगा। खैर, यह इकाई पारिवारिक हो या ग्राम्य, इसे उत्पादन का एक सहज और सुविधाजनक तरीका ही मानना होगा, स्वामित्व का प्रश्न इससे बिलकुल अलग है। पृथ्वी तो उत्पत्ति का एक साधन मात्र है, इससे प्राप्त होनेवाले धन-धान्य पर ही स्वामित्व का प्रश्न यथार्थ मूल्य रखता है। सारे गाँव के लोग मिलकर एक साथ काम करें या गाँव के सारे परिवार पारस्परिक सहयोग के साथ मिलकर काम करें और फिर लोगों को स्वामित्वपूर्वक उनकी जरूरत के मुताबिक उपभोग के लिए चीजें उपलब्ध हो—दोनो बातें एक सी हैं। मूल बात ध्यान मे रखने की यह है कि व्यक्ति की एक स्वतन्त्र और चेतन सत्ता है; काम करने की इकाई छोटी हो या बडी, हम व्यक्ति की उपेक्षा कर नहीं सकते और इसीलिए सामूहिक सुख और सम्पन्नता के लिए स्वामित्व का वैयक्तिक पैमाना जरूरी मालूम पडता है।

सामूहिक सम्पन्नता के लिए वैयक्तिक पैमाना जरूरी है

८३. परन्तु यहाँ आकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि क्या संयुक्त परिवार मे बँधा हुआ समुदाय क्षेत्र-च्युत और गतिहीन (Immobile) न हो जायगा? यानी गतिहीन समुदाय का श्रमिकवर्ग (Labour)

भी गतिहीन हो जायगा और साम्पत्तिक उत्पत्ति (Production of Wealth) मे त्रुटि उत्पन्न हो जायगी। परन्तु बात ऐसी नहीं है। सर्वप्रथम तो नवभारत की उत्पादन व्यवस्था ही निःकल (Non-mechanised) विस्तार पर अवलम्बित होती है जहाँ काशी की जनता को कानपुर या अहमदाबाद की मिलो मे जाकर मजदूर नहीं बनना पड़ता। काशी मे उत्पन्न होनेवाले कच्चे माल से यथाशक्य काशी मे ही पक्का माल तैयार किया जाता है जिसके लिए वहाँ व्यापक साधन विद्यमान हैं। दूसरी बात यह भी है कि रेल और जहाजो को मजदूरो को ढोने मे नहीं, उनके माल को ढोने मे सहायक बनना चाहिए। परन्तु इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नवभारत की उत्पादन विधि समाज को श्रमिक (Proletariat) साँचे मे नहीं ढाल देना चाहती। यहाँ सब अपने श्रम और उत्पत्ति—दोनो के ही स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार जब यहाँ श्रमिको की ही समस्या नहीं तो उनकी गतिहीनता (Immobility) का कहाँ प्रश्न उठता है ?

श्रम की गतिहीनता और नवभारत की उत्पादन विधि

८४. इसके अतिरिक्त संयुक्त व्यवस्था का यह कदापि अर्थ नहीं कि कुटुम्ब के सभी सदस्य एक-दूसरे के नेत्रो के सम्मुख बँधे रहे। यह तो केवल समाज का एक कर्तव्य विधान है जिसमे प्रत्येक प्राणी एक दूसरे के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए कार्यरत रहता है। काशी के परिवार का एक व्यक्ति भले ही बम्बई मे कार्य कर रहा हो परंतु वहाँ रह कर भी वह अपने कर्तव्यो का पालन कर सकता है। यदि ऐसा नहीं है तो समाज का शीराजा ही बिखर जायगा जैसा कि आज नजर आ रहा है। आज यहाँ कमाया, कल उखड कर दूसरी जगह चले गये। इस प्रकार आदिकालीन बद्दू स्थिति का साम्राज्य होगा। समाज मे स्थायित्व और सुदृढ़ता आ ही नहीं सकती।

सयुक्त व्यवस्था समाज का कर्तव्य विधान है

८५. इस सम्बन्ध मे हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि नवभारत का श्रम-संगठन इसी तत्व को लेकर ही हो सकता है ; नवभारत का श्रम संगठन विभिन्न वस्तुओ और मिलो (जैसे कपडा, चमड़ा, लोहा या चीनी) को लेकर नहीं, विभिन्न क्षेत्रो को लेकर होगा और उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थानीय (ग्राम्य) पञ्चायतो से ही होगा। इस प्रस्ताव के

नवभारत की श्रम नीति

व्यावहारिक स्वरूप पर हम नवभारत के दूसरे भाग मे विचार करेंगे। यहाँ इस सम्बन्ध मे केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि लोगो को अपने स्थान और अपनी स्थिति में ही कार्य सुलभ न हो तो उसे कार्यहीन कहना चाहिये। यदि किसी गाँव के निवासी को सैकड़ों मील की दुर्लभ दूरी तै करके कार्य के लिए कानपुर के बाजार, बम्बई की मिलो या दिल्ली के दफ्तरो मे टक्कर मारनी पड़े तो यह काम नहीं, एक विनाशक उपहास होगा। कहने का अभिप्राय यह कि भारत को समुन्नत और समृद्धिशाली वनाने के लिए भारत के लाखों गाँवो को कार्ययुक्त वनाना पड़ेगा जो भारत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन या वहु प्रचारित वम्वई योजना के कलमय मंसूवो द्वारा नहीं, चर्खात्मक उत्पादन के सीधे-सादे और प्राकृतिक विधान से ही सम्भव होगा, जो गाँव-गाँव, घर-घर प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देने का एकमात्र समर्थ साधन है। भा रत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन ने देश की सुख-समृ द्धि का अभूतपूर्व दावा पेश किया था; परन्तु यह दावा कोरा सुख-स्वप्न ही था—इसमे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलेगा, यह कल्पना भी नहीं थी। अव इस मौलिक त्रुटि का स्वयं नियोजको को ही प्रमाण मिल चुका है। वर्षों तक अरवो रुपये खर्च करने के वाद भी देश की दरिद्रता और वेकारी वढ़ती गयी। अव हार कर उसमे सुधार करने का विचार हो रहा है।

अव श्रम के साम्पत्तिक पहलू को भी समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। श्रम की दृष्टि से सम्पत्ति के दो मुख्य अग होते हैं—उत्पादन और वितरण। उत्पादन और उत्पत्ति का नैसर्गिक अर्थ है कि उसका पूर्ण उपभोग किया जाय। अतः सम्पत्ति का श्रेष्ठतम रूप यही हो सकता है कि उत्पत्ति के साथ ही साथ उसका वितरण भी स्वय होता चले। श्रम की यही स्वास्थ्य-कर एव समुन्नत रीति है। इस दृष्टि से जव कि हम उत्पादक श्रम पर विचार करते हैं तो हमारे कार्यो की एक विशेष एवं विशिष्टतम प्रणाली वन जाती है जिसे हम चर्खात्मक विधान से परिलक्षित करते हैं। यहाँ लागत का अधिकाधिक भाग पारिश्रमिक रूप मे जाता है, अर्थात् उत्पादन के साथ ही धन का वितरण भी होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त चूँकि उत्पादक वर्ग स्वय उपभोक्ता वर्ग है इसलिए आधिक्य को छोड कर उत्पत्ति के एक प्रमुख भाग का वह स्वयं स्वामी भी है। परिणामतः सम्पत्ति का केन्द्री-करण नहीं, विकेन्द्रीकरण होता है और समाज मे साम्पत्तिक विषमता की न्यूनतम आशंका रह जाती है। 'कलमय' प्रणाली मे दशा ठीक इसी के

विपरीत होती है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादक श्रम के सम्बन्ध मे बिलकुल स्पष्ट और सचेष्ट हो जाय, अन्यथा नवभारत की पुनर्रचना की सारी योजनाएँ कलमयता के गोरख-धंधे मे फँसकर नष्ट भ्रष्ट हो जायँगी।

(२) बेकारी

(१)

८६. यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि किसी भी श्रमपूर्ण समाज का सच्चा स्वरूप वही हो सकता है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वामित्वपूर्वक कार्ययुक्त हो सके। यदि कुछ लोग कार्य करें और कुछ बेकार रहे अथवा सरकारी भत्तों या अन्य कृत्रिम साधनो द्वारा जीवन सघर्ष के झकोरे खाते रहे तो हम निःशंक होकर कहेगे कि हमारा सारा श्रम विधान ही दोषयुक्त है।

प्रारम्भिक

हमने 'भारतीय समाज की आर्थिक नींव' का विवेचन करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व मनुष्य की नैतिकता पर अवलम्बित नहीं होता, समाज की संघटन धुरी टूट जायगी, बेकारी और शोषण का महारोग ससार को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। वास्तव मे आज 'बेकारी' समस्त संसार की एक भयानक समस्या बन गयी है। संसार के कोने-कोने मे बेकारी की व्यापकता ही सिद्ध करती है कि यह राजनीतिक समस्या नहीं, बल्कि विश्व की वर्तमान व्यवस्था का एक अंगभूत दोष है।

हम यह नही मान सकते कि यह केवल आर्थिक या केवल सामाजिक प्रश्न है। यद्यपि इसे राजनीतिक की अपेक्षा आर्थिक प्रश्न समझना अधिक आकर्षक मालूम होता है, पर असलियत यह है कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक—सारी अव्यवस्थाओं के समुच्चय मात्र से ही यह स्थितिभूत हुई है।

आज "सर्व सुयोग्यो का जीवनाधिकार" और जीवन संघर्ष की गाथाएँ तथ्यहीन सी मालूम पडने लगी हैं। "भोजनागार मे भूखपीड़ा" को देख कर कहना ही पड़ता है कि दुनिया की चक्की मे कहीं से खराबी पैदा हो गयी है, कोई पुर्जा ढीला पड गया है और हम जब तक उसी मूल बिन्दु पर उँगली नहीं रखते तब तक रूस के पञ्च-वर्षीय विधान, "नैशनल प्लैनिंग कॅमिटी" के बड़े से बड़े मनसूबे अथवा सप्रू कॅमिटी

की रिपोर्ट, सारा एक उमड़ती हुई नदी के भँवर मे पड़े हुए लाचार प्राणियों को "डूबना नहीं" की आवाज सुनाने के सिवा और कुछ नहीं होगा।

यह कहना नहीं होगा कि यदि हमें किसी सत्य की खोज है तो हौसले और साहस के साथ हमे विषय की गहराई मे जाना होगा। यहाँ राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक—सारी समस्याएँ उलझी हुई नजर आ रही हैं। रूस का[1] समूहवाद या अमेरिका का लोकतंत्र—सर्वत्र बेकारी का साम्राज्य देख कर हमे निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि बेकारी का उद्भव किसी एक ऐसे कारण से हुआ है जिसका नाता देश या राष्ट्रीय विधान से नहीं, युग से है। हम इसे "यंत्र युग" कहते हैं; पूँजीवाद और समूहवाद, दोनो यन्त्राधीन हैं, दोनो ही मशीन के पृष्ठपोषक हैं और दोनों ही बेकारी के शिकार हैं; यदि एक प्रत्यक्ष रूप से तो दूसरा प्रच्छन्न रूप से ही सही।

इतिहास के पन्नो को गौर से उलटने पर स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप की १८वीं शताब्दी मे औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही बेकारी का सामाजिक और सामूहिक बीजारोपण हुआ और ज्यो-ज्यो यह उद्योग-वाद, या यन्त्रयुग जघन्य होता जा रहा है, बेकारी अमित विस्तार को प्राप्त होती जा रही है। इसीलिए हमारा मत है कि यदि इस यन्त्रयुग पर एक गम्भीर दृष्टि डाली जाय तो हम बेकारी के कारण और उसके नाश के उपाय सोचने मे अवश्य सफल होंगे।

वास्तव मे देखा जाय तो मनुष्य अब मनुष्य नहीं रहा। वह तो अब मशीन का एक पुर्जा है। प्रोफेसर टॉसिग प्रभृत अर्थशास्त्री का इसी बात का समर्थन प्रसिद्ध समूहवादी विद्वान स्ट्रेची भी करते हैं।

संसार की सम्पत्ति बढती जा रही है, परन्तु उस पर कुछ व्यवसायियों का ही अधिकार है; वैयक्तिक या समूहवादी एकाधिकार हो—दोनों के उत्पादन का आधार मशीन है और मशीन का गुण है केन्द्रीकरण तथा एकाधिकार। परिणामतः, जीवन साधन उन्हीं कुछ लोगों के हाथ मे आ जाता है जिनके अधीन उत्पादक मशीनें हैं और यह सब केन्द्रित रूप मे व्यावसायिक केन्द्रो के चारो ओर ठसाठस भर जाते हैं, जो शहरी सभ्यता का रूप धारण करते हैं। एक ओर तो फैला हुआ मानव समाज अपना मूल कार्यक्षेत्र छोड़कर स्थल विशेष मे केन्द्रित होने लगता है, दूसरी ओर

---

१ रूप में बेकारी"—इस वाक्य का प्रयोग करने में हमारा क्या प्रयोजन है इसका हम उल्लेख कर चुके हैं।

इन केन्द्रों मे जरूरत से ज्यादा भरमार हो जाने के कारण कलह, द्वेष, अनावश्यक संघर्ष, चोरी, डाका, गर्भपात तथा अनाचार की वृद्धि—एक साधारण-सा नियम बन जाता है। यह न भूलना चाहिये कि मशीनों ने मानव के व्यक्तित्व को ग्रस लिया है। मनुष्य का जीवन अमानुषिक सघर्षों का जञ्जाल बन गया है।

८७. इन सबके ऊपर एक विशेष बात यह है कि ज्यो-ज्यों मशीनें ससार के कार्यों मे अपना स्थान बनाती जायँगी, जीवधारियो की बेकारी उसी अनुपात से बढती जायगी। स्वभावतः एक ओर उग्र वेग से बढती हुई बेकारी और दूसरी ओर निर्दयतापूर्ण मशीनाश्रित कटु सघर्ष तथा जडवादी जीवन है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मशीनो ने हमारे जीवनाधार और संस्कृति, सबको छिन्न-भिन्न करके हमे पशुतुल्य बना दिया है। अतएव हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि यदि हमे बेकारी का कारण ढूढना है तो सर्वप्रथम मशीनों को मनुष्याधीन बनाना होगा न कि उलटे मनुष्य को ही मशीनो का पुर्जा (Tools of Machines) बना दिया जाय। मनुष्य को इस प्रकार मनसा, वाचा, कर्मणा, प्रत्येक रूप से मशीनो की मुँहताजी को तजकर स्वावलम्बी होना होगा। जब तक इसी दृष्टि से ससार को सुरक्षित नहीं बनाया जाता, बेकारी की समस्या हल न होगी। और बेकारी का मूलोच्छेदन किये बिना 'नवभारत' का निर्माण हो ही नहीं सकता। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने से ही भारत का नव-निर्माण सम्भव नहीं होगा। वर्णविहीन, वर्गविहीन सुखी और सम्पन्न जीवन की एक शान्तिमय एवं विकासमान स्थिति को प्राप्त होने के लिए यंत्रो की मर्यादा कायम करनी ही होगी।

यंत्रों की मर्यादा कायम करने की आवश्यकता

८८. परन्तु बात तो यह है कि वर्तमान युग को ध्यान मे रखते हुए हमारी शिक्षण प्रणाली मे ही जब तक आमूल परिवर्तन नहीं होता हम श्रमपूर्ण समाज के सच्चे और सुयोग्य पात्र बन ही नहीं सकते। गाधी जी ने समाज के लिये 'नयी तालीम' यानी नवशिक्षा का विधान किया जो 'वर्धा पद्धति के नाम से विख्यात है। मूलतः वर्धा पद्धति है क्या? इस सम्बन्ध मे गाधी जी स्वय लिखते हैं—"चर्खा सदृश ग्रामोद्योगो को प्राथमिक शिक्षा का माध्यम बनाकर मैं समाज मे एक प्रशान्त क्रान्ति का अग्रदूत स्थापित करना

नयी तालीम बनाम वर्धा पद्धति

चाहता हूँ। इसके द्वारा शहर और गाँव के पारस्परिक सम्बन्ध को एक स्वस्थ और नैतिक आधार प्राप्त होगा, सामाजिक अस्थिरता और वर्ग भेद के जहरीले कीटाणु नष्ट हो जायँगे। और यह सब बिना किसी प्रकार के वर्ग युद्ध की विभीपिका के ही सम्भव हो सकेगा। भारत जैसे विराट देश को कारखानो से युक्त बनाने मे जिस अकल्पनीय धनराशि की आवश्यकता होगी उसके बिना ही इस शिक्षण पद्धति को कार्यान्वित किया जा सकता है। मुख्य बात तो यह है कि वर्तमान मशीनो के संचालन योग्य अत्यन्त विशेप शिक्षण की आवश्यकता से मुक्त होने के कारण हम इस शिक्षा पद्धति द्वारा सर्वसामान्य के भाग्य की कुञ्जी, जैसा कि पहले भी था, उन्हीं के हाथ मे सौप देंगे।[1]

वर्धा पद्धति आर्थिक पुनरुद्धार का परम साधन होते हुए भी एक शिक्षण पद्धति है। अतएव उस पर बिलकुल अलग से विचार करना होगा। व्यावहारिक जानकारी के लिए आवश्यक है कि पाठक उसका अध्ययन, मनन और साक्षात् अनुभव प्राप्त करके भारत के पुनर्निर्माण मे लगें, केवल सरकारी योजनाओ की ओर आँख लगाये बैठे रहना अनुचित होगा।

(२)

बेकारी के व्यावहारिक पहलू पर दूसरे भाग मे विचार होगा, यहाँ हम इसके सैद्धान्तिक पहलू पर ही विचार कर रहे हैं।

८७. बेकारी दूर करना अर्थात् लोगों को कार्ययुक्त कर देना ही विशेष बात नहीं। लोगो को अनेक प्रकार से कार्ययुक्त किया जा सकता है, जैसे अपूर्ण श्रम के लिए सम्पूर्ण पारिश्रमिक (१-१, २-२, ३-३ घंटो का ही श्रम-काल : Labour time) देकर अथवा अनावश्यक[2] और अनुत्पादक[3] कार्यों मे लगाकर। यदि लोगों को कार्ययुक्त कर देना ही

सच्चा श्रम विधान

---

१ हरिजन, ६–१०–३७

२. अनावश्यक कार्य = गाँवो में सीमेण्ट और कंक्रीट की सड़कें बनवाने लगना, वर्षा में दो-चार दिन उमड जानेवाले नालो को इस्पात के पुलो से परिपूर्ण कर देना, भारतीय गाँवो में 'मेट्रो', या 'एरॉस' सदृश भव्य सिनेमा भवनो की व्यवस्था अथवा सदुपयोगी चिकित्सालयो के स्थान में बडे-बडे 'डेन्टिस्ट हाल' या सस्ते और सीधे हिमावियों के स्थान में अमेरिका के चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट स्थापित करना।

३ अनुत्पादक = युद्ध और युद्ध निमित्त सैनिकों का वृहत् संहारी कार्य।

विशेष बात नहीं है तो हमारा कार्य ऐसा होना चाहिये जो हमारे व्यक्तित्व को विकासमान, हमारी कर्तृत्व शक्ति को यशस्वी और गतिमान, हमारी ज्ञानवृद्धि मे सहायक, हमारे लोक सग्रह का साधक और कार्य तथा श्रम के स्वाभाविक अनुपात के साथ दूसरो को भी कार्यशील बनाने का कारण सिद्ध हो। इसके विपरीतवाला ढग अधिकाधिक एक सकटकालीन व्यवस्था मात्र हो सकता है जिसे शुद्ध अर्थविधान मानने मे भी हमे विरोध होगा। इतना ही नहीं, ऐसे किसी भी अन्य उपाय से बेकारी का वास्तविक मूलोच्छेदन नहीं हो सकता। परन्तु परिहास की बात तो यह है कि ब्रेलसफर्ड[1] और करी[2] उसी कलमय विधान का प्रस्ताव करने मे नहीं हिचकते। ब्रेलसफर्ड का कहना है कि मशीनो द्वारा चार व्यक्तियो का कार्य दो ही व्यक्ति कर लेंगे और शेष दो को अन्य कार्यो मे लगाया जा सकेगा। यह बात तो स्वतः अपने ही प्रस्तावों से खण्डित हो जाती है। इसकी मौलिक त्रुटि यह है कि प्रत्येक कार्य मे मशीनो के कारण आदमियो की बचत होगी। अध्यापन वृत्ति को ही लीजिये। प्रत्येक गॉव मे पाठशाला और उन पाठशालाओ मे शिक्षक समुदाय के बजाय प्रत्येक केन्द्र मे एक एक रेडियो से अनेक शिक्षको का कार्य सम्पादित किया जा सकेगा। वर्ण विधान मे कार्यों के वर्णसकर की जो बात हमने कही है उसके अतिरिक्त यह भी बात है कि कारखाने से आदमियो को बचाकर आप अध्यापक बनाना चाहते हैं परन्तु यहाँ तो रेडियो आदि के कारण यो ही अध्यापको की बचत हो रही है। जो थे उन्हीं की समस्या उपस्थित है, दूसरो को कहाँ से स्थान मिलेगा। मानो ब्रेलसफर्ड साहब की पक्ष रक्षा के लिए ही करी साहब कहते हैं—"बेकारी सभ्यता का अनिवार्य अङ्ग है।" यह कैसी सभ्यता जो हमे कार्यों से भी वञ्चित करके कोढ़ी, दरिद्र, रोगी और मुँहताज बना दे। हमारा कार्य और श्रम विधान ऐसा होना चाहिये जिससे मनुष्य निरन्तर लोक सग्रह और जीवन को सुरुचिपूर्वक सार्थक बनाने मे व्यस्त रहे। यही सच्चा श्रम-विधान है जहाॅ बेकारी की कल्पना भी नहीं होती।

(३)

६०. (अ) कुछ लोगो का खयाल है कि भारत मे जनवृद्धि के कारण

---

१ बी० बी० सी० भाषणमाला—एच० एन० ब्रेल्सफर्ड।

२. A Case For Federal Union, P 71,—W B. Curry

बेकारी बढ़ रही है, अतएव जनन-निग्रह को सरकारी कानून बनाकर पैदाइश को ही रोक दिया जाय। लोगों के लिए कार्य की सृष्टि करने के बजाय हम कार्य माँगनेवालो को ही नेस्तनाबूद कर देना चाहते हैं। जनवृद्धि और जनन-निग्रह के सम्बन्ध मे पीछे के स्थलो मे आवश्यक उल्लेख किया जा चुका है और उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारत मे जनवृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता, उससे उत्पन्न बेकारी की तो बात दूर रही। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि समस्याओ को गलत रूप देने से हमारी सारी सामाजिक रचना ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। इसलिए इस प्रश्न को सावधानीपूर्वक सुलझाने की जरूरत है।

प्रश्न को सही तौर से सावधानीपूर्वक समझना चाहिये

(ब) भारत मे कृषि का ही मुख्य अलम है। परन्तु बात यह है कि सामूहिक रूप से कृषक वर्ग वर्ष के बारहो महीने कार्यशील नहीं रहता। फसलो के बीच उसे ४ से ६ महीने तक बेकार रहना पड़ता है। इस प्रकार यही नहीं कि राष्ट्र को गहरी साम्पत्तिक क्षति उठानी पड़ती है बल्कि यह भी कि लोगो का आर्थिक मान (Standard) घट जाने से उनका सामाजिक धरातल (Level) भी नीचे उतर आता है। फलतः सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाता है, लोग उन्नति के बजाय अवनति की ओर अग्रसर होते हैं। दरिद्रता और रोग के विषैले कीटाणु सामाजिक जीवन के अङ्ग बन जाते हैं, निरीह प्राणियो का जन बाहुल्य पुरुषार्थ का अवलम्ब त्याग कर भिक्षा वृत्ति या सरकारी सहायता की ओर दौड़ने लगता है। धीरे-धीरे वर्गभेद और कुसंस्कारो का घातक आवरण समाज को आच्छन्न कर लेता है, और अन्त मे हमारी समस्त समाज रचना ही संशय मे पड़ जाती है। भारत जैसे मानसूनाश्रित बृहत् भूखण्ड मे इस कृषिजन्य बेकारी को वर्षा के अभाव या अतिवृष्टि के प्रभाव से और भी तेजी के साथ बढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। अतएव, भारत को बेकारी से मुक्त करके सुखी और समृद्धिशाली बनाने के लिए हमे सर्वप्रथम कृषकों को समर्थ और स्वावलम्वी बनाना होगा। और यह उसी समय सम्भव हो सकता है जब कृषि को सहायक उद्योगो का बल प्राप्त हो जिन्हे कृषि के साथ-साथ अथवा फालतू समय मे सफलतापूर्वक चलाया जा सके जैसे मधुमक्खी, गोपालन, चर्खा या अन्य ऐसे ही कार्य।

कृषिजन्य बेकारी

(स) मशीनो की बाढ़ से भारत का ग्रामोद्योग लुप्तप्राय-सा हो चला

है। तेली, जुलाहे, पिसनहरियाँ, कागजी, बढई, लुहार—सभी उद्योगहीन होकर या तो कारखानो की रक्त शोषक मजदूरी की ओर निराश्रित-से दौडने लगे हैं अथवा खेती पर टूट पडे हैं। परिणाम यह हुआ है कि भारत की कृषि अपर्याप्त नजर आने लगी है और बेकारी को प्रश्रय मिला है। इस दृष्टि से भी शीघ्रातिशीघ्र ग्रामोद्योगो को पुनर्जीवित कर देना होगा ताकि सुदृढ़ और स्वावलम्बी समाज का अस्तित्व कायम हो सके।

बेकारी—ग्रामोद्योगों के अभाव में

(द) यह कहना न होगा कि दरिद्रता मे रोग को प्रोत्साहन मिलता है और रोगी प्राणी समुचित रूप से श्रम कर ही नहीं सकता। बेकारी का यह एक दूसरा रूप है जिससे राष्ट्र की आर्थिक क्षति के साथ समाज का सामूहिक कर्तृत्व भी नष्ट हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि भारतीय समाज को उन्नत और क्रियाशील बनाने के लिए उसे रोग जन्य बेकारी से मुक्त करना होगा अर्थात् दरिद्रता निवारक अन्य उपायो के साथ उत्कृष्ट ग्राम्य चिकित्सा की व्यापक व्यवस्था करनी होगी; व्यवस्था भी ऐसी हो जिसका भारत की ग्रामीण जनता को सहज लाभ मिल सके।

बेकारी—अस्वास्थ्य के कारण

(य) यह ठीक है कि वर्ण व्यवस्था, दाम्पत्य विधान तथा कौटुम्बिक जीवन मे एक सबल समाज के मूल निहित हैं परन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे, जब कि समाज का कर्तव्य और शासन दण्ड नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, अनेक लोगो को मुफ्तखोरी अर्थात् बेकारी का अनुचित अवसर प्राप्त होता है। कुछ तो शासकीय प्रणालियो और कलमय आघातो ने लोगो को साधनहीन बना दिया है और लोग लाचार होकर उपर्युक्त स्थलो पर आ छिपते हैं और कुछ यह भी होता है कि अनेक मुफ्तखोर भारत की प्रचलित रूढियो की आड मे पड कर सहज ही जीवन संघर्ष से बच जाने का उपाय करते हैं अर्थात् बेकारी को जन्म देते हैं। अतएव आवश्यक है कि शुद्ध समाज रचना के निमित्त समाज को कर्तव्यशील रखा जाय। यह एक स्वतन्त्र विषय है, परन्तु यहाँ प्रसंगवश कहना ही होगा कि समाज का सामूहिक धर्म है कि वह अपने व्यक्तियो को साधन युक्त और कर्तव्यशील बनाये रखे। कौन साधनो के अभाव से

वर्णगत या धार्मिक बेकारी

लाचार है, कौन अपने कर्तव्य से च्युत हो रहा है—इन सब की सम्मिलित देख-रेख करनी होगी। यह केवल ग्राम्य पंचायतों द्वारा ही सम्भव हो सकेगा[1] जो चर्खात्मक विधान के ज्ञानमय कर्मकाण्ड द्वारा (जिसकी गांधी जी ने नयी तालीम मे सृष्टि की है) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ईसाई, मुसलमान, सबके सम्मिलित स्वार्थ रक्षा की एकमात्र अधिकारिणी होगी।

सरकारी और व्यापारी वेकारी

(२) भारत की वेकारी मे प्रचलित शासन और व्यावसायिक प्रणालियों का भी बहुत बडा हाथ है। यद्यपि यह सब अन्य स्थलो के विषय हैं, तथापि उनके सैद्धान्तिक आधारो की ओर संकेत कर ही देना है।[2]

राजस्व और वेकारी

१—कहीं भी, विशेषतः भारत में वर्तमान शासकीय व्यय का समाज से बहुत बडा सम्बन्ध रहता है। इतना बड़ा खर्च समाज के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाले विना नहीं रह सकता। करोडो-अरबों के आय-व्यय से स्वभावतः समाज के सुख-दुःख का एक अकाट्य सम्बन्ध होता है। जब हम देखते हैं कि सरकारी कोष का करोड़ो रुपया विलायती माल पर लगा दिया जाता है तो यह समझने में तनिक भी देर नहीं लगती कि भारत की दुखद वेकारी के लिए हमारी सरकार स्वयं जिम्मेदार है। वात विलकुल सीधी सी है। करोड़ो-अरबों का माल जिसे भारत स्वयं सरलतापूर्वक तैयार कर सकता है, यदि उसकी पूर्ति विलायत से की जायगी तो इसका एकमात्र अर्थ यही होगा कि उसमे लगनेवाला देश का श्रम और सम्पत्ति—दोनों वेकार बना दिये गये। यह राष्ट्रीयता या राजनीति नहीं, शुद्ध अर्थशास्त्र है। तनिक ध्यान दीजिये—समस्त भारत मे तारों के खम्भे विलायत से ढल कर आते हैं। इस प्रकार यही नहीं कि यदि उन्हें भारत मे तैयार किया गया होता तो उनको बनाने के लिए लाखो प्राणियो को कार्य मिला होता, वल्कि यह भी कि देश का उतना धन देश के वाहर चला गया और देश उसकी वर्तुलाकार क्रय-शक्ति से वंचित कर दिया गया अर्थात् देश को केवल तात्कालिक धनाभाव ही नहीं, उसे एक स्थायी आर्थिक धक्का

---

१. राष्ट्रपति मौलाना आजाद ने अभी हाल में घोषित किया है कि स्वतन्त्र और सबल भारत की नींव ग्राम पंचायतो पर ही अवलम्बित होगी।—'ससार', २-१-४६

२ इस धारा को तैयार करने में सी० पी० और वरार सरकार की इण्डस्ट्रियल सब कॅमिटी की रिपोर्टों से विशेष सहायता ली गयी है।

दिया गया और समस्त राष्ट्र को साम्पत्तिक ह्रास का अनुभव करना पड़ा। ऐसे ही धक्के हमारी सरकार हमे रोज दे रही है तथा हम बेकारी और दरिद्रता की सासत मे दिनोदिन नीचे ही नीचे ढकेले जा रहे हैं। खम्भे-वाली बात को और भी सूक्ष्मता से विचारिये—इङ्गलैण्ड और अमेरिका जैसे धनाढ्य देशो मे भी तारो के खम्भे इस्पात के नहीं, लकड़ी के ही होते हैं जब कि भारत जैसे दरिद्र वन्य प्रधान देश के लिए विलायत से खम्भे मॅगाये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि लाखो को बेकार रखने के साथ ही हमारी सरकार हमारी वन्य सम्पत्ति के विकास मे भी बाधक हो रही है। सरकार का कहना है कि यहाँ लकड़ी के खम्भो को दीमक और कीड़े शीघ्र नष्ट कर देते हैं। पहले तो यह कि रासायनिक प्रयोगो से इसे रोका जा सकता है और यदि नष्ट ही हो जाते हैं तो सस्ते भी तो होते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि इस प्रकार बार-बार खम्भों को बदलना पड़ता है तो इसका यह भी अर्थ होता है कि बार-बार उतने धन अर्थात् क्रय शक्ति का प्रजा को लाभ प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार सरकारी कोष पर अनुचित दबाव पड़ेगा तो भी गलत है। प्रतिवर्ष प्रजा से जो कर और लगान वसूल किया जाता है वह पूँजी बनाने के लिए नहीं, प्रतिवर्ष प्रजा पर लगाने ही के लिए होता है। ऐसा न करना अर्थ विरुद्ध और साम्पत्तिक चक्र को, अनावश्यकतः, गतिहीन कर देना होगा। यथार्थतः, उपर्युक्त रीति से जितनी ही तेजी से सरकार देशी पदार्थों के सदुपयोग में धन लगायेगी उतनी ही तेजी से बेकारी का नाश होगा। उसी प्रकार गैर-सरकारी आयात को रोककर जितना ही अधिक हम ग्रामोद्योगो द्वारा अपनी पादार्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर लेंगे उतना ही अधिक लोगों को हम कार्ययुक्त कर सकेंगे अर्थात् बेकारी का नाश कर सकेंगे।

२—हम पीछे कह चुके हैं कि भारत एक श्रम प्रधान देश है। अतएव हमारा समस्त आर्थिक विधान, श्रम, न कि पूँजी, को लेकर ही विरचित होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन मे मजदूरी को घटाकर मुनाफे की वृद्धिवाली वृत्ति को त्याग कर हमे अधिकाधिक लोगो को श्रमयुक्त करनेवाले तरीको से ही कार्य करना होगा ताकि बेकारी दूर होने के साथ ही समाज मे क्रय-शक्ति अर्थात् जीवन मे सुविधाओं का अधिकाधिक वितरण हो सके। सुखी और समृद्धिशाली समाज की स्थापना का केवल यही एक मार्ग है। इस बात

श्रम प्रधान उत्पादन और महँगी

का व्यावहारिक अर्थ यह है कि मशीनो के मानव विरोधी तरीको को तज कर चर्खात्मक रीति से उत्पादन करना होगा अन्यथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को कार्य न मिल सकेगा। ठीक है, चर्खात्मक चीजें महँगी होती हैं,[1] परन्तु उनमे मानवता का मूल्य होता है। चीजो के महँगी होने का एक यह भी अर्थ है कि उसमे मजदूरी अधिक बैठी है अर्थात् लोगों को अधिक कार्य मिला है या यों कि बेकारी मे बहुत कमी हुई है।

इसी प्रसंग मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात को स्पष्ट कर देना है। आज देश भर मे "अधिक उत्पादन" की आवाज उठ रही है। सरकार और जनता, सब की यह माँग है। इसके लिए सरकार कहती है कि कारखानो की संख्या मे अधिकाधिक वृद्धि करके, कारखानो मे अधिकाधिक काम करके, अधिक से अधिक उत्पादन किया जाय। परन्तु सबसे पहले तो यही समझना है कि क्या सचमुच यह उत्पादन है? चावल किसान की ओखली मे नहीं, कारखानो मे तैयार हो रहा है। मिलो का यह चावल अपने सारे पोषण और जीवन तत्त्व को खो चुका रहता है। इसी प्रकार मिलों का आटा और चीनी आदि सभी पदार्थ नष्ट हो चुके रहते हैं जिनके व्यवहार से हमारी महान् शारीरिक क्षति होती जा रही है। घी पशुओ से नहीं, घास-पात से तैयार होता है। इस तरह नकली और अस्वास्थ्यकर वनस्पति के उत्पादन मे सम्पत्ति और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। यथार्थतः वस्तुओ को इस प्रकार गुण-विहीन और दूषित कर देना, स्पष्टतः, साम्पत्तिक क्षय है। साम्पत्तिक ह्रास का अर्थ ही है बेकारी और विनाश।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था मे वस्तु-पदार्थो का गुण हनन करके उन्हे मानव के सुख और स्वार्थ का शत्रु बनाया जा रहा है। दुखी और अस्वास्थ्यकर

कलमय उत्पादन बनाम साम्पत्तिक विनाश

जीवन यही नहीं कि विकास की गति मे व्यवधान उत्पन्न कर देता है, बल्कि यह भी कि मानसिक असन्तोष का कारण बन कर बेकारी की भावना उत्पन्न करता है। शुद्ध भौतिक और पारिमाणिक दृष्टि से हमारा साम्पत्तिक सञ्चय या राष्ट्रीय कोष सम्पन्न नहीं हो रहा

---

१ महगी और सस्ती—ये दोनों जनता के आनुपातिक क्रय शक्ति पर अवलम्बित हैं। चर्खात्मक रीति महगी है तो जनता की क्रय शक्ति भी बढ जाती है या यो कि महँगी का बोझ क्षीण हो जाता है।

है क्योंकि गुणहीन होने से जब उनकी उपयोगिता ही नष्ट हो गयी तो फिर वह वृद्धि कैसी? वह तो विनाश ही हुआ। इसलिए जब तक वस्तुओं का शुद्ध चर्खात्मक पद्धति से उत्पादन नहीं होता उनका परिमाण और गुण बढ़ ही नहीं सकता। वस्तुओ की शुद्ध पादार्थिक वृद्धि का अर्थ है साम्पत्तिक वृद्धि और इसके बिना समाज की सकार्यता सुरक्षित नहीं रह सकती।

३—कच्चे माल के निर्यात से वेकारी मे विशेप वृद्धि होती है। गॉव-गाँव मे उत्पन्न होनेवाली रुई से घर-घर चर्खा चलने की व्यवस्था को त्याग कर यदि मिलो से कपड़ा तैयार कराया गया तो प्रत्येक गॉव मे चलनेवाले चर्खे वन्द हो जायँगे अर्थात् बेकारी बढ़ेगी। यह वात प्रत्येक कच्चे माल के देशी या विदेशी निर्यात के सम्बन्ध मे लागू होती है। अतएव निर्यात योग्य आधिक्य को छोडकर, यथाशक्य, कच्चे माल से उत्पत्ति स्थल पर ही पक्का माल तैयार करने से अन्य व्यावसायिक हितो के अतिरिक्त वेकारी मे विशेप रूप से कमी होती है।

कलमय उत्पादन बनाम वेकारी

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेकारी का सच्चा हल वहीं सम्भव है जहॉ लोगो ने सत्याग्रहपूर्वक चर्खात्मक स्वदेशी के शुद्ध अहिंसात्मक रीति को ग्रहण किया है। इन सारी वातो का संक्षेप मे अर्थ यह है कि वेकारी के महारोग से बचने के लिए हमारी समाज व्यवस्था स्वदेशी ढग की होनी चाहिये। हमारे स्वदेशी समाज की अपनी ही विशेपता है जो नात्सी अथवा फासिस्टी राष्ट्रीयता की प्रतिहिंसा से मुक्त, विश्व की स्वसम्पन्न और स्वावलम्बी इकाई के रूप मे प्रकट होता है। यहॉ के पादार्थिक उत्पादन का प्रमुख लक्ष्य जीवनावश्यकताओ की सुखद पूर्ति है, न कि विनिमय। इस प्रकार उसका देशस्थ उद्देश्य 'प्रचण्ड बाजार' (Intensive Market) के पहले 'व्यापक वाजार' (Extensive Market) पर ही अवलम्बित होता है और एक ही वस्तु के अधिकाधिक आकार प्रकार उत्पन्न करने की अपेक्षा उत्कृष्टतम चर्खात्मक साधनों द्वारा एक ही वस्तु की अधिकाधिक मात्रा तैयार होती है ताकि अधिकाधिक लोगो को आत्म गौरव तथा स्वावलम्बी ढग से संपूर्णत. कार्य और साधनयुक्त किया जा सके। वैदेशिक आवश्यकताओ के लिए भी (चुगी और टैरिफ की कृत्रिम दीवारो से हीन होते हुए भी) वह उन्हीं चीजो का आदान-प्रदान स्वीकार करता है जो देश के श्रम और कार्य

स्वदेशी समाज

तथा आवश्यकताओ के अनुकूल हों। इस प्रकार वह पूँजीवादी या साम्राज्यवादी आघात-प्रतिघात मे नहीं फँसता।

जब तक हम दृढ़तापूर्वक इस मार्ग को ग्रहण नहीं करते हमारी न तो समस्याएँ हल होगी और न एक निर्दोष और विकासमान समाज की रचना ही हो सकेगी। 'विकासमान' शब्द को भी भलीभाँति ध्यान मे रखना है। विकास हम चाहते हैं पर अपने ही स्वदेशी ढग से। आदि-कालीन दीवट के स्थान मे हम लैम्प अवश्य चाहते हैं पर वह 'मगन दीप' के समान वानस्पतिक तेल को खपानेवाला लैम्प ही होगा जो भारतीय कृषि पर निर्भर होने के कारण कृषि का सहायक, देश मे श्रम और कार्य का जनक और समाज को स्वावलम्बी बनानेवाला होगा। 'मगन दीप' के स्थान मे जिस प्रकार बाकू के मिट्टी के तेल की खानों के कृत्रिम रक्षण और प्रसार मात्र के लिए हम गैस बर्नर का आविष्कार अहितकर समझते हैं उसी प्रकार चर्खे में सुधार के लिए हम 'मगन चर्खा' के आविष्कार की ओर ही बढ़ते हैं जो धीरे-धीरे चर्खे से सूती मिल बन जाने के बजाय चर्खात्मक आधार तथा स्वदेशी समाज का ही पोषक सिद्ध होता है। यही है हमारे स्वदेशी समाज का एक विकासमान चित्र।

अब अन्त मे यह भी स्पष्ट कर देना है कि वर्तमान समय की व्यापक बेकारी को देखकर सरकारी हस्तक्षेपो की सलाह को हमे सतर्क होकर ही स्वीकार करना है। हम यह कदापि नही चाहते कि लोगो के काम का उत्तरदायित्व राज अपने ऊपर ले ले। इसका यही अर्थ होगा कि लोगो को कार्य की गारण्टी देने के लिए राज को उत्पादन भी अपने हाथ मे ले लेना होगा। इस प्रकार वैयक्तिक के स्थल मे सरकारी पूँजीवाद की स्थापना होगी जो सर्वथा अहितकर और अनुचित होगा। यथार्थतः, लोगो के कार्य का उत्तरदायित्व चर्खात्मक पंचायतो की देखरेख में ही होगा। इस देख-रेख का अर्थ लोगो से शासन दण्ड के साथ काम कराना नहीं बल्कि लोगो को उत्पादन और कार्य योजना के साथ साधनयुक्त और कर्तव्यशील बनाकर उन्हे स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना है। भारत सरकार के राष्ट्रीय नियोजन में तो दोनो बातो की कमी है,—न तो लोगो के लिए काम की गारन्टी है और न लोगों को साधनयुक्त कार्य योजना दी गयी है जिससे वे स्वतन्त्रता पूर्वक काम कर सकें। इसी लिए तीन वर्ष के बाद भी राष्ट्रीय नियोजन से बेकारी की उत्पीड़क वृद्धि कम नहीं हो सकी है।

सरकार और समाज

(ल) सम्पत्ति और स्वामित्व

[नवभारत कोई प्राथमिक श्रेणी की पाठ्य पुस्तक नहीं, अतएव यहाँ प्रारम्भिक परिभाषाओं को यह समझकर छोड दिया गया है कि इसके पाठक उन मोटी बातों से पूर्णतः परिचित हैं। श्रम का विवेचन करते समय हमने उसकी लाक्षणिक व्याख्या को छोड दिया है, उसी प्रकार सम्पत्ति की लाक्षणिक परिभाषा से पुस्तक का कलेवर बढाना भी हमें अभीष्ट नहीं। इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत अन्यत्र भी कार्य किया गया है।]

६१. सम्पत्ति के पारिभाषिक उल्लेख को छोड़ देने से उसके रूप विवेचन मे उलझने की भी हमें आवश्यकता नहीं रह जाती। वैयक्तिक या राष्ट्रीय सम्पत्ति—किसी भी दृष्टिकोण से देखो, किसी भी श्रेणी में लें, उस पर किसी न किसी का, किसी न किसी प्रकार से, स्वामित्व अनिवार्य है। वस्तुतः स्वामित्व से ही सम्पत्ति का रूप व्यक्त होता है। वर्षा का जल वृष्टि के उपरान्त इधर-उधर हो जाता है, परन्तु जब उसे व्यय और श्रम साध्य योजना द्वारा तालाबों या नहरो में स्वार्थ सिद्धि के लिए एकत्र किया जाता है तो वह सम्पत्ति बन जाता है। परन्तु सम्पत्ति बनने के साथ ही उस पर किसी न किसी का स्वामित्व भी स्थापित हो जाता है,—भारत सरकार का हो, पजाब या सिन्ध सरकार का हो, टाटा वर्ग का हो, हिन्दुओ का हो, अग्रेज या मुसलमानो का हो, किसी गाँव या नगरवालो का हो, किसी एक व्यक्ति का हो अथवा अनेक व्यक्तियो का भागीदारी ('शेयर') स्वरूप हो, स्वामित्व है अवश्य, अन्यथा वह सम्पत्ति ही नहीं। कहने का अभिप्राय यह कि सम्पत्ति के अनेक लक्षणो मे से एक यह भी है कि उस पर किसी न किसी का स्वामित्व होना ही चाहिये। या यो कि सम्पत्ति पर स्वामित्व एक प्राकृतिक बात है। परन्तु दुखद काकपक्ष यह है कि इस साम्पत्तिक स्वामित्व ने ही समाज मे सर्वाधिक वैषम्य उत्पन्न किया है और ससार के झगड़े भी यहीं से प्रारम्भ होते हैं।

स्वामित्व से ही सम्पत्ति का स्वरूप स्थिर होता है

६२. सम्पत्ति पर स्वामित्व तो होगा ही, परन्तु वह किस प्रकार का होना चाहिये—वैयक्तिक या सामूहिक ? बस, मुख्य प्रश्न यही है और इसी एक प्रश्न को लेकर ससार के प्रचलित वाद-विवाद गति प्राप्त कर रहे हैं।

हिमालय के वन्य प्रदेश, विन्ध्य की पाषाण शृंखला, बिहार और

बंगाल की लौह खानें अथवा मैसूर और गोलकुण्डा की स्वर्ण राशियाँ भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति हो सकती हैं परन्तु उन्हे व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए व्यक्तियो के श्रम की आवश्यकता होती है। परन्तु जब हम देखते हैं कि उसी सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाला व्यक्ति उसके ला। मे 'ञ्चत रह जाता है तो सारी व्यवस्था ही दोषयुक्त प्रतीत होने लगती है, उस समाज रचना की सार्थकता से हमारा विश्वास ही उठ जाता है। समाजवादी, समूहवादी, वर्गवादी या अवर्गवादी—कोई भी इस परिस्थिति को स्वीकार करना नहीं चाहता। इसी बात को दूसरे प्रकार से यो कहा जायगा कि सम्पत्ति के सदुपयोग का उसके जनक को नैसर्गिक अधिकार है। जिसके हम जनक हैं और जिसके सदुपयोग का हमे नैसर्गिक अधिकार है, उसके हम प्रत्यत्त या अप्रत्यत्त रूप से स्वामी हा ही चुके। यही न्याय है और तर्कयुक्त बात भी यही हे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के सैद्धान्तिक आधार को कोई भी इनकार नहीं कर सकता। इस सैद्धान्तिक आधार मे ही अपनत्व का साक्षात् आकर्पण छिपा हुआ है। 'यह वस्तु हमारी है' और 'यह वस्तु हमारी नहीं है'—इन दोनो के व्यावहारिक अन्तर से ही विश्व का इतिहास बनता-बिगडता रहा है। मानवी पुरुपार्थ की गाथाएँ इसी अपनत्व की लीला से व्याप्त हैं।

सम्पत्ति और व्यक्तिगत स्वामित्व

९३. जगली और वीरान भूखण्डो मे आज हम गेहूँ की लहलहाती फसलें अथवा जैतून और अगूर के बाग देखते हैं, इसलिए नहीं कि लोगो को ससार की बढ़ती हुई जनसख्या की चिन्ता व्याकुल कर रही थी, बल्कि इसलिए कि उनके उस कार्य मे उनकी, उनके कुटुम्ब और कबीलो का तात्कालिक तथा भावी सन्तान के भोजनादि का मूल निहित था। अरबी रेगिस्तान के निवासी सागर के तूफान मे नौका की भयावह यात्रा के पश्चात् भारत से माल लेकर यूरोप पहुँचाया करते थे, इसलिए नहीं कि यूरोपवालो के दुख-दर्द से वह बेहाल थे, बल्कि इसलिए कि उनके उस कार्य मे उनका अपना, अपनो का स्वार्थ छिपा हुआ था। व्यक्ति के स्वार्थ और पुरुषार्थ की इन्हीं शाश्वत भावनाओ से विश्व का साम्पत्तिक चक्र अनादि और अनन्त रूप से चलता रहता है।

विश्व के साम्पत्तिक चक्र मे व्यक्ति का स्वार्थ और पुरुषार्थ

६४. साराश यह कि संसार के प्रत्येक उत्पादन और आयोजन को फलीभूत बनाने के लिए मनुष्य की अपनत्त्व भावना एक प्रेरणात्मक महत्व रखती है और उसका साम्पत्तिक अर्थ यह होता है कि सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के आकर्षण बिना मनुष्य का कर्मकाण्ड शुष्क और नीरस बन जायगा, न तो वह परिणामजनक होगा और न वह कोई सामूहिक रूप धारण कर सकेगा। परन्तु विरोधाभास तो यह है कि वर्तमान समय मे ससार का समस्त सामाजिक वैषम्य इस वैयक्तिक स्वामित्व से ही उत्पन्न होता है। कोई तो मीलो लम्बे चौडे महल और पुष्प वाटिका मे सुस्वादिष्ट पकवान और राग रग का सुख भोग कर रहा है और कोई भूखो प्यासो, रोगी और दीन दशा मे, धूल और वर्षा मे भी, सडक की पटरियो पर ही रात काट देता है। क्यो? क्योकि एक राजप्रासाद का स्वामी, महाराजा है और दूसरा एक नगण्य मानव, दिन भर पेट के लिए परिश्रम करके पटरियो पर सोनेवाला, मजदूर है। एक लाखो का मालिक है, सैकडों मकान उसके हैं, हजारो बीघे जमीन उसकी हैं, अनेक कल-कारखानें, मोटर, सवारी—वह सबका मालिक है। दूसरा पेट भर रोटी का भी मालिक नहीं। यह ठीक है कि ऐसी परिस्थिति के लिए वह व्यवस्था ही उत्तरदायी है जो ऐसे घातक वैषम्य को उत्पन्न करती रहती है, परन्तु सर्वप्रथम प्रश्न तो यह उपस्थित होता हे कि क्या ऐसी स्थिति मान्य हो सकती है कि एक अकेला सारी इमारत मे विचरता फिरे और दूसरा एक छोटे से घर को भी अपना कहने से वचित रहे?

वैयक्तिक स्वामित्व का विरोधाभास

तनिक और निकट से देखिये,—एक पिता के दो पुत्र हैं। एक को हम बम्बई की अट्टालिकाओ का स्वामी बन कर मौज उडाते हुए देखते हैं जब कि दूसरा पुत्र लाचार और गृहहीन, जीवन की कराहे लेता हुआ नजर आता है। दोनो भाई अपनी-अपनी सम्पत्ति के मालिक हैं, एक का दूसरे की कमाई और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं। दया, धर्म की बातो को छोड़िये, कानून, राजा या समाज कोई भी इसमे हस्तक्षेप नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का स्वामी है—वैयक्तिक स्वामित्व का व्यावहारिक अर्थ आज इसी प्रकार प्रकट हो रहा है।

इस वैयक्तिक स्वामित्व पर एक दूसरे पहलू से दृष्टिपात करने से बात और भी स्पष्ट हो जायगी—एक व्यक्ति २५ बीघे जमीन का स्वामी है

676

जिसमे कम-से-कम एक परिवार के लिए यथेष्ट भोजन तैयार होता है। आज वह व्यक्ति बम्बई के कारखाने या दिल्ली के सरकारी दफ्तर मे जाकर नौकर बन जाता है। उसके स्त्री-बच्चे भी उसी के साथ जाते हैं। खेती की व्यवस्था और जुताई-बोआई उसकी अनुपस्थिति के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। यदि वह इनका भार किसी को सौपता भी है तो भार लेने-वाला कुछ पैदावार भले ही कर ले परन्तु सर्वश्रेष्ठ रीति से कार्य नहीं करता। उत्पादन मारा जाता है और अनेको की जीवनावश्यकताओ पर पानी फिर जाता है। मान लीजिये भार लेनेवाले व्यक्ति ने उन खेतो मे खून पसीना कर के कार्य किया और उन्हीं खेतो का होकर रहा; कुछ दिनो के पश्चात् उन खेतो का स्वामी बम्बई या दिल्ली से लौटा और अपने खेतो को स्वयं सँभाल लिया। परिणामतः इन थोड़े दिनों के हेर-फेर मे एक गृहस्थी बनी और फिर असली मालिक के आ जाने से उखड़ गयी। दो के सिवा तीसरा कोई मार्ग ही नहीं—या तो स्वामी की अनुपस्थिति मे उसकी सम्पत्ति कोई सँभाले नहीं और यदि सँभाले तो कुम्भ मेले के यात्री के समान स्वामी के लौटने पर उखड़ जाय। दोनो स्थितियों मे साम्पत्तिक क्षय की सम्भावना है। इस प्रश्न को और गहराई से सोचिये। कहा जाता है जमीन उसी की है जो स्वय खेती करे। इस तरह जो खेती से दूर अन्यत्र नौकरी करता है, क्या वह खेतो का मालिक हो सकता है? मान लिया जो खेती नहीं करता वह खेतो का मालिक नहीं हो सकता—यह कानूनी पहलू व्यवहार मे पूरी तरह उतारा जा सकता है, उतारा जा रहा है? इस के अलावा एक बात और है—नौकरी, व्यापार के अतिरिक्त भी कई कारण ऐसे हो सकते हैं जब खेत के मालिक को अपनी खेती का बोझ अस्थायी रूप से किसी दूसरे को देना पड़े। यह सारी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना पड़ेगा। खेत ही नहीं, सम्पत्ति के प्रत्येक क्षेत्र मे ऐसा ही होता है। मिलकियत के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ, बैंक और कारखानो के बड़े-बड़े गबन और दीवाले, सब इसी वैयक्तिक स्वामित्व की प्रेरणा से परिपूर्ण हैं। यहाँ आकर, स्वभावतः, प्रश्न होता है कि, जैसा कि हमने अभी ऊपर कहा है, या तो वैयक्तिक स्वामित्व मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार नहीं है, अथवा वैयक्तिक स्वामित्व का कुछ और ही रूप और कुछ और ही अर्थ होगा।

९५. वैयक्तिक स्वामित्व से यदि वैषम्य, साम्पत्तिक क्षति और

अशान्ति को जन्म मिलता है तो यही कहा जायगा कि सारे रोग का हल सामूहिक स्वामित्व मे ही निहित होना चाहिये।

वैयक्तिक या सामूहिक स्वामित्व

सामूहिक स्वामित्व का अर्थ यही होता है कि किसी को सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार प्राप्त नहीं है। जो कुछ है केवल सामाजिक अर्थात सामूहिक या सरकारी स्वरूप ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह होता है कि व्यक्ति की अपनी कोई चीज नहीं, अपनी कोई योजना नहीं। इस प्रकार व्यक्तिगत कर्तृत्व शक्ति, सृजन शक्ति तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए गुजाइश नहीं रह जाती और इनके अभाव मे उन असख्य चीजो का ही क्या मूल्य रहा जिसका समाज या सरकार सामूहिक रूप से व्यक्ति के लिए प्रस्तुत करने का दावा करती है। आखिर व्यक्ति के लिए उसका व्यक्तित्व ही तो सब से मूल्यवान वस्तु है और व्यक्तित्व का अर्थ है विचार और विकास स्वातत्र्य। इसके विपरीत यदि उसे दूसरो के इशारे पर चलना पड़ता है, तो वह अपने व्यक्तित्व से, जो मनुष्य के नाते उसकी सब से बडी सम्पत्ति है, हाथ धो बैठता है और किसी भी समाज व्यवस्था का इससे बडा दोप क्या हो सकता है! सामूहिक स्वामित्व की यह तो सैद्धान्तिक दुर्बलता हुई। उसके व्यावहारिक अग पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

९६. व्यक्तियो के कार्य बिना सम्पत्ति का उदय हो ही नही सकता। परन्तु सामूहिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन तो व्यक्ति करता है और

सामूहिक स्वामित्व

स्वामित्व है समूह का, अर्थात् व्यक्ति केवल श्रम करने का अधिकारी है, साम्पत्तिक सञ्चालन और उसके उपभोग में व्यक्ति की अपनी रुचि कोई स्थान नहीं रखती, बल्कि उपेक्षित भी रहती है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति केवल मजदूर मात्र रह जाता है और समूह एक नये प्रकार के पूंजीपति के रूप मे प्रकट होता है। व्यवहार तथा परिणामो को देखते हुए इसे भी एक प्रकार की पूँजीवादी व्यवस्था ही कहना होगा। और आगे बढ़िये—सामूहिक स्वामित्व का सीधा सा अर्थ है केन्द्रीय शासन और केन्द्रीय सञ्चालन। इस प्रकार व्यक्ति को अपनी रुचि, अपनी योजना, और आवश्यकताओ की उपेक्षा तो बर्दाश्त करनी ही पडती है, साथ-ही-साथ उसकी अपनी क्रियात्मक शक्ति भी क्षीण हो जाती है क्योकि उसे अपनी योजनाओं की सफलता और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक किसी दूरस्थ

केन्द्र का ही मुँहताज होना पड़ता है—अर्थात् सारा समूह सबल और स्वावलम्बी इकाइयो के बजाय परावलम्बी व्यक्तियो का झुण्ड मात्र रह जाता है जहाँ केन्द्र के दूषित होते ही समस्त समाज के नष्ट-भ्रष्ट होने का सदा भय लगा रहता है। यहाँ लेनिन और स्टालिन की व्यक्तिगत नीति ही सारे समाज का जीवन क्रम बन जाता है। यथार्थतः, यहाँ शुद्ध विकास कभी संभव हो ही नहीं सकता, पशु-बल की वृद्धि अवश्य हो सकती है। पशु-बल या नीत्शे की वीर पूजा का ही प्राबल्य रहता है और राक्षस कहे जानेवाले नाजियो के सहयोग या विरोध पर गाडी चलती है। पादार्थिक अथवा भौतिक बल ही एकमात्र लक्ष्य रह जाने के कारण षडयंत्र और दमन को नैतिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है।

९७. यह न भूलना चाहिये कि सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं यदि यह मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति न करे। इसका दूसरा अर्थ यह है कि सम्पत्ति से मनुष्य की आवश्यकताओ की जितनी ही अधिक पूर्तिहोती है उसका उतना ही अधिक मूल्य होता है। कलमय उत्पादन मे सम्पत्ति केन्द्रों मे एकत्र हो जाती हैं। सर्वसामान्य उसके निर्बाध उपभोग से वञ्चित हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ सम्पत्ति का मूल्य बढ़ने के बजाय घटता जाता है। परन्तु चर्खात्मक विधान मे सम्पत्ति का अधिकाधिक वितरण एव अधिकाधिक उपभोग होने के कारण उसका मूल्य बढ़ता रहता है, या यो कि सम्पत्ति का वास्तविक निर्माण केवल चर्खात्मक विधान मे ही सम्भव हो सकता है। इतना ही नहीं, चर्खात्मक उत्पादन की गति मन्द होते हुए भी वहाँ पारिमाणिक दृष्टि से भी कलमय उत्पादन की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति का निर्माण होता है क्योकि अधिकाधिक भाग उपयोग और उपभोग मे लगता है जब कि कलमय उत्पादन मे अधिक मात्रा होते हुए भी लोगो के सदुपयोग से दूर हो जाने के कारण मूल्य और फिर स्वभावतः परिमाण मे भी कमी हो जाती है। चर्खात्मक का अर्थ है विकेन्द्रित विधान जिसमे उत्पादन और उत्पत्ति—दोनो से व्यक्तियो का सीधा सम्बन्ध रहता है।

सम्पत्ति का सच्चा मूल्य

९८. अतः कलमय अर्थात् सामूहिक विधान मे साम्पत्तिक विकास सम्पूर्ण गति से सम्भव नहीं होता क्योकि कार्य करनेवाले अथवा न करने-

वाले, उत्पादक या अनुत्पादक कार्य करनेवाले, सब की आवश्य-कता की पूर्ति की जिम्मेदारी समूह पर रहने से मुफ्तखोरो का कार्यकर्ताओ के श्रम से काट कर पालन होता है।

सामूहिक विधान में साम्पत्तिक विकास ?

९९. तीसरी बात—प्रत्येक व्यक्ति का समूह पर भार रहने के कारण उनके शासन और सञ्चालन के लिए एक जटिल व्यवस्था और कृत्रिम कानूनो का जाल खडा करना पडता है जो एक अत्यन्त मँहगी सरकार के रूपमे हमारे कन्धो पर आ बैठती है।

सामूहिक विधान से जटिल और बोझिल सरकार बनती है

इस प्रकार, सक्षेप मे हम देखते हैं कि सामूहिक स्वामित्व वैयक्तिक स्वामित्व से भी अधिक विपाक्त वल्कि विलकुल अप्राकृतिक व्यवस्था है। प्रश्न होता है कि आखिर फिर मार्ग कौन सा है ?

१००. हमने दो बातें देखी हैं—(१) वैयक्तिक स्वामित्व मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी सामाजिक वैषम्य का एक प्रबल कारण सिद्ध हुआ है। (२) दूसरी ओर सामूहिक स्वामित्व विलकुल अप्राकृतिक होने के साथ ही साम्पत्तिक त्तय का भी कारण है। साराश यह कि एक प्राकृतिक व्यवस्था है पर दोपयुक्त, दूसरी विलकुल ही अप्राकृतिक है।

वैयक्तिक और सामूहिक स्वामित्व का अन्तर

१०१. कुछ लोगो का कहना है कि उत्पादन के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व रहने से वैयक्तिक वैपम्य को अवसर ही नहीं प्राप्त हो सकता। उत्पादन के साधनो से उनका अर्थ है कल-कारखाने, नदी, नहर, बिजली, भूमि और वैक आदि। सीधी सी बात तो यह है कि इन चीजो पर जिसका अधि-कार होगा, उसे ही उनकी उत्पत्ति के वितरण को हाथ मे लेना होगा अन्यथा अन्य अनेक पेचीदगियाँ उत्पन्न होगी। उत्पादन और वितरण के साथ आ जाने से खपत की भी समस्या आ ही जाती है। अभिप्राय यह कि उत्पादन के साधनों पर आधिपत्य होने से ही उलट-फेर कर मानव समाज के सम्पूर्ण जीवन पर सम्पूर्ण स्वामित्व स्थापित हो जाता है।

उत्पादन के साधनो पर सामूहिक स्वामित्व का अर्थ

१०२. इसलिए जब तक हम अपनी सारी उत्पादन योजना को

चर्खात्मक आधार पर नहीं खड़ी करते समस्या का हल असम्भव होगा। चर्खात्मक यानी विकेन्द्रित विधान मे हमारे उत्पादन के साधन अधिकाश वही रह जाते हैं जो एक-एक व्यक्ति के स्वतन्त्र सञ्चालन के ही योग्य होते हैं। तो क्या सरकार को प्रत्येक चर्खा और प्रत्येक सिंगर मशीन, प्रत्येक चूल्हे और प्रत्येक चक्की पर कब्जा करना होगा ? यदि सम्भव भी हो तो यह इतना जटिल और महँगा बन जायगा कि वह सारा स्वामित्व जीवनदायी और उत्पादक के बजाय घातक और साम्पत्तिक क्षय और अन्ततः सर्वनाश का कारण सिद्ध होगा। वस्तुतः, सरकारी स्वामित्व तो बड़े-बड़े कल-कारखानो के व्यक्तिगत आधिपत्य के दोषों का निराकरण करने के लिए ही होता है। दोष का स्थल ही नहीं रहा तो दोष की निवृत्तिकारी व्यवस्था का प्रश्न कहाँ रह जाता है ? समाज सर्वोपरि है इसलिए सामूहिक स्वामित्व को चरितार्थ करने के लिए प्रत्येक चर्खे-चूल्हे, प्रत्येक स्त्री-बच्चे का स्वामी बनाकर घर में रोटी पकाना, स्त्रियों का शृङ्गार, बच्चों का दूध पीना तथा सन्तानोत्पत्ति—सब मे सरकारी हस्तक्षेप और सञ्चालन का प्रस्ताव करना सर्वथा विवेकहीन प्रतीत होता है। चर्खात्मक उत्पादन मे सम्पत्ति की गुणात्मक वृद्धि स्वतः संयत हो जाती है और परिणामतः सरकारी स्वामित्व की आवश्यकता ही नहीं रहती। यहाँ समस्या स्वामित्व की नहीं, उसके सामञ्जस्य की होती है।

समस्या का हल

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामूहिक स्वामित्व की वर्तमान कल्पनाएँ अप्राकृतिक और अव्यवहार्य हैं। फलतः हमारे सम्मुख वैयक्तिक स्वामित्व की ही समस्या शेष रह जाती है और अब हम इसी पर विचार करेंगे।

१०३. यह तो हम कह ही चुके हैं कि वैयक्तिक स्वामित्व एक बिलकुल स्वभावसिद्ध बात है। परन्तु दोष वहीं से उत्पन्न होता है जब व्यक्ति दूसरो अर्थात् शेष समाज के हितो की उपेक्षा करके स्वार्थ सिद्धि मे स्वच्छन्द होकर तल्लीन हो जाता है। यहीं संयम की आवश्यकता है ताकि दूसरों के स्वार्थ से सघर्ष न उत्पन्न हो जाय जिससे कलह और गृहयुद्ध की आवृत्ति हो और अन्त मे अपनी तथा दूसरो की साम्पत्तिक प्रगति पर भी आघात हो। प्रश्न होता है कि इस सयम और अनुशासन का उत्तरदायित्व किस पर होगा ? व्यक्ति पर ? वही तो सीमा भग कर रहा है ? समूह पर ? फिर तो उसी सामूहिक सञ्चालन, और घूम

भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था

फिर कर उसी सामूहिक स्वामित्व की पेचीदगियाँ उपस्थित हो जायँगी। वास्तव मे होना यह चाहिये कि सयम व्यक्ति की स्वयम्भू प्रवृत्ति बन जाय। यह उसी समय सम्भव होगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति स्वामित्व का अनुभव करते हुए भी अपनी आवश्यकता तथा स्वच्छन्दता को दूसरो की आवश्यकता के हिसाब से स्वय सीमित रखने को तत्पर रहे। और ऐसा जब तक नहीं हो सकता जब तक कि उन दूसरो मे उसकी साक्षात् दिलचस्पी न हो। ठीक इसी सिद्धान्त को लेकर भारतीय कुटुम्ब व्यवस्था और सयुक्त परिवार की सृष्टि हुई थी। यह वही व्यवस्था हैं जिसे बडे-बड़े अर्थशास्त्रियो ने भी लोकतंत्र का सच्चा स्वरूप बताया है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता भर कमाता है और अपनी आवश्यकता भर उपभोग करता है। भारतीय कुटुम्ब विधान मे समाज की सयुक्त व्यवस्था के श्रेष्ठतम सिद्धान्त निहित हैं। यद्यपि ब्रिटिश कानूनो के अवैज्ञानिक व्यक्तिवाद ने इसकी नींव को खोखला कर दिया है फिर भी ढाँचा मौजूद है, उसे सहज ही पुनर्जीवित किया जा सकता है।

१०४. सामाजिक दृष्टि से हमारे सयुक्त परिवार के दो कानूनी रूप प्रचलित हैं :—'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' और दोनो दो ध्रुव के समान एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। दाय भाग के अनुसार पिता ही कौटुम्बिक सम्पत्ति (स्त्री धन के अतिरिक्त) का एक मात्र नियता होता है। वह सारी सम्पत्ति को स्वेच्छापूर्वक हस्तातर कर सकता है। अपनी सन्तान को सम्पत्ति का उपभोग करने देना अथवा उसके उपभोग से उन्हे सर्वथा वंचित कर देना उसकी स्वेच्छा की बात है। परन्तु 'मिताक्षरा' मे इस वैयक्तिक स्वेच्छाचार को अणु मात्र भी स्थान नहीं। वह एक सम्पूर्ण वैज्ञानिक व्यवस्था है, हालाँकि अंग्रेजी कानून ने उसकी सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसे लगड़ा बना रखा है। 'मिताक्षरा' विधान के अनुसार पिता कौटुम्बिक सम्पत्ति का उसी प्रकार मालिक है, जिस प्रकार पुत्र, अर्थात् कौटुम्बिक सम्पत्ति पर पिता और पुत्र का सयुक्त स्वामित्व होता है। एक अबोध बालक भी सम्पत्ति का उसी प्रकार स्वामी है जिस प्रकार उसका वयोवृद्ध पिता या पितामह। यहाँ पिता किसी सार्वजनिक सस्था के सर्वसम्मति से स्वीकृत अध्यक्ष के समान सम्पत्ति का सरक्षक और संचालक मात्र है। परन्तु खेद है कि शरीर है, प्राण नहीं—अंग्रेजी कानूनों ने उसका अपहरण कर लिया है, अधिकार मानते हुए भी आधार छीन लिया है।

'दाय भाग' और 'मिताक्षरा' विधान

इस समय 'मिताक्षरा' विधान भी प्राणहीन शरीर अथवा आधारहीन भवन से अधिक नहीं रह गया है। 'हिन्दू कोड बिल' ने तो उसे और भी गहरा धक्का दिया है। इस पर हम फिर विचार करेंगे।

१०५. वस्तुतः, सयुक्त परिवार के लिए सयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। यदि संयुक्त सम्पत्ति नहीं है तो संयुक्त परिवार भी नहीं रह सकता और यदि परिवार ही संयुक्त नहीं रहा तो सम्पत्ति कैसे सयुक्त रह सकती है? दोनो अन्योन्याश्रित हैं, एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता।

सयुक्त परिवार

इस समय जो स्वार्थ और स्वच्छन्दता की बाढ़ प्रचण्ड हो रही है वह इसलिए भी है कि संयुक्त सम्पत्ति और परिणामतः सयुक्त परिवार नहीं रह गया है। वास्तव मे सयुक्त परिवार की शक्ति सयुक्त सम्पत्ति पर ही निर्भर करती है।[1] इस प्रकार संयुक्त सम्पत्ति से बँधे हुए सयुक्त परिवार के सदस्यो के अधिकार और कर्तव्य अनिवार्य पारस्परिकता का रूप धारण कर लेते हैं। और फिर सबके सम्मिलित सहयोग और श्रम से एक सपुष्ट समाज की भित्ति तैयार होती है।

१०६. हिन्दू कानून मे सुधार करने की दृष्टि से भारत के भूतपूर्व कानून मत्री डा० अम्बेडकर ने एक बिल पेश किया था जिसमे मिताक्षरा को मिटा कर 'दायभाग' को प्रतिष्ठा देने का प्रस्ताव था। इस सम्बन्ध मे दो बातें ध्यान मे रखने की हैं :—

हिन्दू कोड बिल

(१) डा० अम्बेडकर उसी अग्रेजी शिक्षा की देन हैं जिसके कानूनो ने स्वच्छन्द व्यक्तिवाद के विष से भारतीय संस्कृति की जड पोली कर दी है।

(२) दूसरी बात यह कि यहाँ फिलहाल प्रश्न यह नहीं है कि डा० अम्बेडकर का बिल कानून बनता है या नहीं क्योकि हम जानते हैं कि आज देश के अधिकतम लोगो के दृष्टिकोण मे पाश्चात्य शिक्षा का दोष भरा हुआ है जो चर्खात्मक विधान के बिलकुल विरुद्ध है। बात यह है कि लोगो मे सत्य का सामना करने का साहस नहीं है। ये लोग तात्का-

---

1 "The strength of joint family lies in the joint family property" and "As such members have mutual rights and obligations with reference to it"—Hindu Law (sec 97 para 1093), p 510

लिक मुसीबतों का तात्कालिक उपायो से ही मुकाबला करना चाहते हैं जब कि आवश्यकता इस बात की है कि स्थायी और आधारभूत पुनर्रचना की दृष्टि से कार्य किया जाय, भले ही सारे ढाँचे को उलट-पुलट देना हो। यदि सम्पत्ति पर परिवार का संयुक्त स्वामित्व आवश्यक है तो सारी विघ्न बाधा और विरोधो के प्रतिकूल भी कार्य करना होगा वरना आज एक बिल, कल दूसरा बिल, बना देने से दुःख दूर होना तो अलग रहा, उलटे दुखों मे जटिलता उत्पन्न हो जायगी। हो भी यही रहा है।

संयुक्त सम्पत्ति और सयुक्त परिवार भारतीय समाज विधान के दो यम और नियम हैं

१०७. अंग्रेजी कानून (अब तो वही भारतीय कानून बन गया है। बात वही है, नाम बदल दिया गया है) ने संयुक्त परिवार को मान तो लिया है, परन्तु उसके अचल अस्तित्व के लिए सयुक्त सम्पत्ति की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया है। संयुक्त परिवार की सम्पत्ति सयुक्त है परन्तु यदि उसके सदस्य चाहे तो टूट-टूट कर अलग हो जायँ और सारी सम्पत्ति खण्ड-खण्ड हो जाती है। वही स्वच्छन्द व्यक्तिवाद यहाँ भी घुसेड दिया गया है और परिणाम भी वैसा ही घातक हुआ है। भारत का सारा पारिवारिक ढाँचा नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। संयुक्त परिवार की सारी जीवनदायिनी छत्र छाया विलुप्त-सी हो चली है। भारत जैसे खेतिहर देश के सामाजिक अस्तित्व के लिए संयुक्त परिवार और सयुक्त सम्पत्ति दो आधारभूत यम और नियम हैं।

सयुक्त स्वामित्व बनाम समूहवादी स्वामित्व

१०८. अस्तु, जहाँ तक हमारी प्रस्तुत समस्या का सम्बन्ध है, हम यही देखते हैं कि यदि संयुक्त परिवार के आधार पर लोगों को सम्पत्ति पर संयुक्त स्वामित्व प्राप्त हो तो हम व्यक्ति की स्वच्छन्दता और समूह के अप्राकृतिक हस्तक्षेप—दोनो से सुरक्षित रह सकते हैं। इसमे उत्कृष्टतम समाज रचना के मूल निहित हैं। यथार्थतः देखा जाय तो यह संयुक्त स्वामित्व भी समूहवादी स्वामित्व का एक लघु रूप सा ही नजर आयेगा। परन्तु इसका सम्बन्ध सदस्यो से साक्षात् जुड़े रहने के कारण, प्रत्येक सदस्य की अपने कार्य और श्रम तथा साम्पत्तिक उत्पादन मे साक्षात् अभिरुचि होती है। यहाँ पिता-पुत्र और भाई-भाई का रक्त सम्बन्ध प्रेरणात्मक रूप से कार्य करता

है; प्रत्येक सदस्य उत्पादन और उपभोग का साक्षात् स्वामी होता है। किसी सुदूर केन्द्र का कृत्रिम और अस्वाभाविक सञ्चालन उनके प्राकृतिक विकास मे बाधक नहीं होता। सारा कार्य अनुभवी और सद्गृहस्थ पिता, पितामह, अथवा भ्राता की अध्यक्षता में सम्मिलित हितो के लिए सम्मिलित राय से ही होता है। यहाँ आवश्यकतानुसार सब की जीवनावश्यकताओ की पूर्ति की जाती है। यदि कोई सदस्य भिन्न मत रखता है तो भी वह सम्पत्ति का स्वामी है और उसकी जीवनावश्यकताओ की उसी प्रकार पूर्ति होनी है, परन्तु यह नहीं कि उसे संयुक्त सम्पत्ति को छिन्न-भिन्न करने का अधिकार प्राप्त हो। परिवार की संयुक्त छाया उसके लिए सदा सुलभ होती है। वह स्वयं यदि उससे पृथक् होकर स्वयं अपना पृथक् उपार्जन करना चाहता है तो वह स्वतंत्र है। इस प्रकार हम व्यक्ति की विध्वसक स्वच्छन्दता से वञ्चित रहने के साथ ही उसकी रचनात्मक शक्तियो का ही लाभ करेंगे। दोप तो अच्छी से अच्छी व्यवस्था मे भी उत्पन्न हो सकता है, परन्तु देखना हमें यह है कि तुलनात्मक दृष्टि से दोप और गुण, किसकी अधिक सम्भावनाएँ हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि "संयुक्त परिवार और सयुक्त सम्पत्ति" ही समाज की सर्वश्रेष्ठ साम्पत्तिक व्यवस्था हो सकती है।

१०६. अब प्रश्न यह होता है कि सयुक्त परिवार की सदस्यता के अधिकारी कौन हैं? यों तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श ही हमारा पथ-प्रदर्शक है, परन्तु आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए एक सुस्पष्ट व्यावहारिक रूपरेखा, एक निश्चित मर्यादा होनी ही चाहिये।

साक्षात् पीढी

संयुक्त परिवार की संयुक्त सम्पत्ति का प्रत्येक सदस्य समान रूप से स्वामी होता है, उसके लाभ और उपभोग का वह पूर्णतः अधिकारी होता है, बशर्ते कि वह उस सम्पत्ति की सुरक्षा और वृद्धि में यथासाध्य सदा तत्पर रहे। हमने देखा है कि सामूहिक स्वामित्व की सफलता के लिए पारिवारिक इकाइयो की अनिवार्य आवश्यकता होती है। वस्तुतः, सामूहिक स्वामित्व मे ही "वसुधैव कुटुम्बकम" का बीज निहित है। परन्तु प्रत्येक परिवार कुछ निश्चित सदस्यों के चेतन सुयोग से ही स्थितिभूत होता है। इसलिए सम्बद्ध व्यक्तियों को परिवार में स्वामित्वमान होने के लिए वंशज दृष्टि से उन्हें उक्त परिवार की साक्षात् पीढ़ी (Direct Lines) मे आना चाहिये—

अं
ब (पुत्र)
स (पुत्र)
द (पुत्र)
य (पुत्र)
र (पुत्री)
ह (पुत्र)
प (पुत्री)
प (पुत्री)
ल (पुत्र)
व (पुत्र)
श (पुत्र)
ग (पुत्र)
त्त(पुत्र)
त्र(पुत्र)
क(पुत्र)
ख(पुत्र)
घ (पुत्र)
ढ़ (पुत्र)
ञ (पुत्र)
छ (पुत्र)
च(पुत्र)
ट पु० १
ढ़ पु० २
त पु० ३
थ पु० ४
पुत्री
पुत्री
पु० ५
पु० ६
पु० ७
पु० ८
पु० ९
पु० १०
पु० ११
पुत्री
ड पु० १२
ठ पु० १३
ट पु० १४
भ पु० १५
झ पु० १६

उपर्युक्त नकशे में हम देखते हैं कि 'अ' के चार पुत्र और एक पुत्री हुई। पुत्री की तो कोई बात ही नहीं क्योंकि वह विवाहोपरांत किसी दूसरे परिवार की सदस्या हो जाती है। शेष चार मे से एक की कोई सन्तान ही नहीं है। रहे तीन; इनकी सन्तानें हुईं। पुत्रियाँ विवाहोपरान्त दूसरे परिवार में चली जाती रहीं परन्तु पुत्रो की सन्तानें 'अ' के परिवार के रूप मे बढती गयीं और 'अ' की सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करके कार्य करती रहीं। इस प्रकार नं० १ से १६ तक साक्षात् पीढ़ी मे आते हैं जो अब 'अ' के वर्तमान पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करते हैं।

आय: "आवश्यक" और "अतिरिक्त"

११०. अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है: क्या 'अ' की वर्तमान पारिवारिक सम्पत्ति उसके वर्तमान सदस्यो की सपूर्ण सख्या के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त है? इसी प्रश्न का दूसरा अंग यह होगा कि क्या इतने व्यक्तियो का एक साथ मिलकर सम्मिलित रूप से कार्य करने के कारण समाज की बहुत सी सम्पत्ति खिचकर अनावश्यक रूप से एक स्थान पर केन्द्रित हो जाने से समाज के आर्थिक समतुलन मे विघ्न तो नहीं उत्पन्न हो जायेगा? चूँकि यहाँ हम अपने प्रश्नो के केवल सैद्धान्तिक आधार पर ही विचार कर रहे हैं, अतएव यहाँ केवल इतना ही कहना होगा कि जिस प्रकार सारे परिवार पर अपने सदस्यो की जिम्मेदारी होती है उसी प्रकार परिवारो की जिम्मेदारी सारे समाज पर होती है। अतएव समाज को देखना होगा कि कोई परिवार अपर्याप्त साधनो अथवा अन्य अड़चनों के कारण जीवनावश्यकताओ के उत्पादन तथा उपभोग से असमर्थ तो नहीं रह गया है। उसी प्रकार यह भी देखना होगा कि कोई परिवार दूसरे परिवारो के हक छीनकर सामाजिक समतुलन मे बाधक तो नहीं हो रहा है। आवश्यकता तथा सुदृढ़ भविष्य की दृष्टि से अधिक संचय का दोष दूर करने के लिए यह सामाजिक नियम होगा कि सारी 'अतिरिक्त आय' कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत[१] छूट के साथ स्वतः समाज के अधिकार मे चली जाय। 'आवश्यक आय' और 'अतिरिक्त आय'—दोनो के व्यावहारिक अर्थ मे विवाद हो सकता है। सम्प्रति, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि प्रचलित आर्थिक व्याख्या मे

---

१ प्रतिशत इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अधिकाधिक छूट का लाभ लेने के लोभ से अधिकाधिक उत्पादन की प्रेरणा प्राप्त हो सके।

दो शब्द 'अर्न्ड' (earned) और 'अन-अर्न्ड' (unearned) आते हैं। इनकी हम अपनी ही मौलिक रीति से परिभाषा करेंगे और इसे समझे बिना 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त' आय को 'अर्न्ड' और 'अन-अर्न्ड' का पर्याय न मान लेना चाहिये।

१११. यहाँ हमारा मूल प्रश्न है साम्पत्तिक स्वामित्व का और इसके लिए हमने कहा है कि पारिवारिक सूत्रो द्वारा ही उस पर वैयक्तिक अधिकार होगा। या यो कि संयुक्त परिवार के लिए सयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है। इसका एक मात्र अर्थ यही हो जाता है कि पारिवारिक सम्पत्ति को अविभाज्य होना ही चाहिये। जब तक व्यक्ति परिवार का सदस्य है तब तक वह पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी और उसके उपभोग का पूर्णतः अधिकारी है। परिवार से अलग होने पर वह पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामी नहीं हो सकता क्योंकि हम इस प्रकार सयुक्त सम्पत्ति को व्यक्ति-व्यक्ति के लिए खण्ड-खण्ड करके देश के समस्त साम्पत्तिक सघटन तथा पारिवारिक सुरक्षा को अस्त व्यस्त नहीं करना चाहते। इसलिए पारिवारिक, विशेषतः, समस्त अचल सम्पत्ति का अविभाज्य होना ही हितकर है। हाँ, यदि व्यक्ति का सामूहिक तथा सम्मिलित हितो के लिए अलग होना ही हितकर है तो उसे अपना नया उत्पादन केन्द्र स्थापित करने के लिए समाज तथा परिवार की चल सम्पत्ति से यथेष्ट सहायता देनी होगी। इसके अतिरिक्त पारिवारिक सम्पत्ति को विभाजित किये बिना, उसे जिस बात या सहयोग की आवश्यकता होगी दी जायेगी।

साम्पत्तिक स्वामित्व के पारिवारिक सूत्र और सयुक्त परिवार के लिए सयुक्त सम्पति अनिवार्य है

११२. अब हमने निश्चय किया कि संयुक्त परिवार के लिए अविभाज्य रूप से सयुक्त सम्पत्ति होनी ही चाहिये। अतएव इसका यह भी अर्थ होता है कि पारिवारिक स्वार्थो के अतिरिक्त पारिवारिक सम्पत्ति का किसी अन्य रूप से कोई व्यवहार नहीं कर सकता। इस बात का सब से बड़ा परिणाम यह होगा कि यदि परिवार का कोई सदस्य परिवार की सम्पत्ति को किसी वैश्या या मन्दिर के पुजारी को दान देना चाहे तो यह सर्वथा असम्भव होगा। अचल सम्पत्ति कानूनन अविभाज्य है; चल सम्पत्ति में से व्यक्ति को केवल उतना ही फालतू प्राप्त

चल और अचल सम्पत्ति

हो सकता है जितना कि पारिवारिक आवश्यकता और भावी सुरक्षा के निमित्त पृथक् कर देने के पश्चात् शेष चल सम्पत्ति मे उसका अंश हो। उस अंश के व्यय का अधिकारी वह अवश्य है परन्तु फिर भी किसी अनिश्चित एव अमर्यादित कार्य के विरुद्ध समस्त परिवार का सम्मिलित[1] विरोध, और अन्त मे सामाजिक अनुशासन उस पर रहेगा ही। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति सद्-परिश्रम द्वारा उपार्जन नहीं करता उसे साम्पत्तिक स्वामित्व के सुखोपभोग का अधिकार ही नहीं। फलतः, वैश्यावृत्ति या देवताओ के नाम पर निखट्टू तथा असामाजिक व्यक्तियो को बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों का मालिक बनने का भी अधिकार नहीं। मन्दिर, धर्मशालाएँ, गुरुकुल और पाठशालाएँ, सभी होगे पर किसी एक व्यक्ति की स्वेच्छा अथवा निखट्टू मठाधीशो के अधीन न रहकर समाज के सम्मिलित सहयोग द्वारा, सामूहिक सञ्चालन और नियंत्रण में ही रहेगे। इसके निर्माण मे, इनके विकास और सुरक्षा मे, अनेक व्यक्तियो का धन-बल लगा होगा और इसीलिए वह किसी एक के अधीन न रह सकेगा।

साम्पत्तिक स्वामित्व: वैयक्तिक और सामाजिक

११३, संक्षेप मे, साम्पत्तिक स्वामित्व दो प्रकार का हुआ—(१) वैयक्तिक, जो संयुक्त परिवार की सदस्यता के रूप मे ही सम्भव हो सकता है। (२) सामाजिक, जो सार्वजनिक (चल और अचल) निधियो का सामूहिक सञ्चालन करेगा। परन्तु साम्पत्तिक स्वामित्व के साथ ही उसके स्वामित्वातर की समस्याएँ उपस्थित होती हैं। स्वामित्वान्तर का मुख्य प्रश्न वैयक्तिक सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ही उत्पन्न होता है क्योंकि समाज, व्यवहारतः, "अवैयक्तिक" (Impersonal) वस्तु है।[2] जैसा कि हमने ऊपर कहा है, सम्पत्ति को

---

१ पारिवारिक सम्पत्ति पर माता-पिता की संयुक्त अध्यक्षता रहेगी जो वयस्क सन्तानो की सर्वसम्मति से ही कार्यान्वित की जा सकेगी। दो (माता और पिता) में से दोनो के अभाव और साथ ही सन्तानो के अवयस्क होने की दशा में समाज उसका उत्तरदायी होगा। जहाँ विरोधी पक्ष विरोध करने में असमर्थ रहेगा वहाँ समाज विरोध करेगा।

२ सामाजिक स्वामित्व, निस्सन्देह, एक साक्षात् सत्य है, परन्तु यह किसी एक या प्रत्यक्ष व्यक्ति के द्वारा कार्यान्वित नही होता। समाज के नाम पर कुछ लोग कार्य करते रहते है, अतएव सामाजिक स्वामित्व तो निश्चित रूप से बना रहता है परन्तु उस स्वामित्व से उसके संचालको का प्रत्यक्ष कोई अपना निजी सम्बन्ध नही होता।

परिवार के संयुक्त सूत्र मे बाँध देने से वैयक्तिक स्वामित्व की निर्बाध स्वच्छन्दता तथा उसकी पारिणामिक कटुता और विषमता स्वतः संयत हो जाती है। यदि थोड़ा बहुत वैपम्य है भी तो वह बिलकुल स्वाभाविक ही है। इसी के साथ दूसरी पकड हमने यह भी लगायी है कि लोगो की सारी 'अतिरिक्त आय' कुछ "पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ" स्वत: समाज के अधिकार मे चली जाया करेगी। व्यक्ति अपने स्वतन्त्र जन्म सिद्ध व्यक्तित्व का अधिकारी होते हुए भी संपूर्ण समाज का ही एक सदस्य है। अतएव, सिद्धान्ततः, उपर्युक्त छूट के साथ उसकी सारी "अतिरिक्त आय" और सम्पत्ति समाज क ही अधिकार मे चली जानी चाहिये। इस प्रकार स्वामित्वांतर का सम्बन्ध सम्पूर्ण सम्पत्ति के एक अंश मात्र से ही रह जाता है। यह अश अर्थात् 'आवश्यक आय' भी पारिवारिक सञ्चालन और संयुक्त स्वामित्व के अन्तर्गत हैं। इस अश मे अथवा इसके किसी अंश मे उलट-फेर या स्वामित्वांतर का प्रश्न उपस्थित हो भी तो वह उसी दशा मे हो सकता है जब कि पारिवारिक अथवा परिवार के अन्य सदस्यो का विरोध न हो। अतएव, अब प्रश्न रह जाता है केवल उस निर्विरोध स्वामित्वातर का।

स्वामित्वातर

११४. स्वामित्वातर के प्रश्न को लेने के पूर्व हमे सर्वप्रथम, संक्षेप मे, स्वामित्वातर के प्रश्नो को समझना होगा। मोटे तौर से देखा जाय तो इसके तीन ही प्रकार होते हैं—

उत्तराधिकार

(अ) उत्तराधिकार,—इसमे स्वामी की स्वेच्छा से बिलकुल स्वतंत्र, स्वाभाविक रूप से सम्पत्ति को प्राप्त होनेवालों का वर्ग है। जीवनावस्था मे ही सांसारिक कर्मों से संन्यास की दशा को छोड़कर वह अधिकाश मनुष्य के मृत्योपरात ही घटित होता है।

दान

(ब) दान,—इसमे अपने स्वजनो को निजी उपभोग के लिए वसीयत की हुई सम्पत्ति भी सम्मिलित है क्योंकि वसीयत भी देनेवाले की स्वेच्छा का फल होने के कारण एक प्रकार से दान ही है।

सामाजिक या धार्मिक

(स) सामाजिक तथा धार्मिक प्रथाओं द्वारा प्राप्त होने वाली सम्पत्ति जैसे वैवाहिक, श्राद्ध या अन्य ऐसे ही कृत्यो के परिणाम स्वरूप हस्तान्तरित सम्पत्ति।

कोई भी विध हो, समाज के साम्पत्तिक वितरण मे तीनो अपना

प्रभावोत्पादक स्थान रखती हैं और संसार के वर्तमान वैषम्य के प्रमुख कारणों मे से हैं। लाखों करोड़ो की सम्पत्ति नित्य इधर-उधर हुआ करती है, अनेक अनधिकारी व्यक्ति बड़ी-बड़ी सम्पत्ति को प्राप्त होकर अपने अवाञ्छित कर्म तथा दुर्व्यवहारो द्वारा समस्त सामाजिक समतुलन को नष्ट-भ्रष्ट करते रहते हैं। कोई भी वाद हो, समाजवाद या गांधीवाद, ऐसे भ्रष्टाचार को कभी असंयत नहीं छोड सकता, उसे नैतिक नहीं करार दे सकता। सम्पत्ति पर व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है सही, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि एक का अधिकार दूसरों के अधिकार के अपहरण से निर्मित हो अथवा वह समाज के सम्मिलित अस्तित्व मे बाधक हो। वस्तुतः, व्यक्तिवाद वही सार्थक समझा जा सकता है जो सामूहिक सामञ्जस्य की स्थापना में सहायक हो।

११५. उपयोगिता की दृष्टि से जब हम सम्पत्ति पर विचार करते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर सम्पत्ति है क्या ? गंगा से देश को पानी मिलता है, देश की कृषि और उद्योग-धंधे चलते हैं। उसी प्रकार वन पर्वतो से हमे अनत धनराशि प्राप्त होती है। अतः, इन सबको हम प्राकृतिक सम्पत्ति की श्रेणी मे लेते हैं। प्रत्यक्ष रूप से गंगा किसी एक व्यक्ति या वर्ग की निधि नहीं है, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस पर सरकार का स्वामित्व तो है ही। खैर, प्रश्न स्वामित्व का नहीं, स्वय सम्पत्ति के स्वरूप का ही है। आखिर हम गंगा जल को सम्पत्ति की श्रेणी मे ही क्यो लेते हैं। इसीलिए न कि यह लोगो के वैयक्तिक या सामूहिक उपयोग मे आता है। इस प्रकार गगा जल हो या सृष्टि की अन्य कोई वस्तु, कोई पदार्थ, लोगो के उपयोग मे आने से ही वह सम्पत्ति बनती है। इसका अर्थ यह होता है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोग मे आयगी उसका उतना ही अधिक साम्पत्तिक मूल्य होगा। आज रुपया क्यो सब से बड़ा धन माना जाने लगा है ? केवल इसीलिए कि इससे अधिक से अधिक लोगो की अधिक से अधिक आवश्यकता की पूर्ति होती है। इसी बात को यो कहना होगा कि जिस वस्तु की जितनी ही उपयोगिता कम होगी उसका उतना ही अधिक साम्पत्तिक मूल्य घटेगा। भोजन रखा हो, और वह हमारे खाने मे न आ सके, खजाना भरा हो और उससे हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति न हो, तो फिर उसका मूल्य ही क्या रहा ? उसे हम सम्पत्ति ही क्योकर मानें ? जरा और आगे बढ़ कर

सम्पत्ति : मूल्य और उपयोगिता

सोचिये · एक मनुष्य के पास १०००००) हैं। वह अन्य अनेक प्रकार से भी साधन सम्पन्न है। इस आदमी को १०) दीजिये, वह इन दस रुपयों की क्या कदर करेगा? उसकी कितनी आवश्यकताएँ पूरी होंगी? उसके कुछ पान-पत्तो भर को भी शायद ये पूरे न पड़ें? कहने का मतलब उस लखपति के लिए इन दस रुपयो का कोई साम्पत्तिक मूल्य नहीं। परन्तु इन १०) को उस गरीब मजदूर को दीजिये जो दिन भर कड़ी मेहनत करके अपना और अपने बाल-बच्चो का किसी प्रकार पेट भरने की फिक्र मे है। १०) उसके लिए एक बहुत बड़ी रकम मालूम होते हैं, बड़े काम के साबित होते हैं। अभिप्राय यह कि उन्हीं १०) की एक के हाथ में कीमत घटती है और दूसरे के हाथ मे कीमत बढती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पत्ति का मूल्य बढाने के लिए उससे लोगों की अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये अर्थात् उसका अधिकाधिक वितरण होना चाहिये। यह केवल विकेन्द्रित व्यवस्था मे ही सम्भव है।

सम्पत्ति : केन्द्रित और विकेन्द्रित

संक्षेप में, वैयक्तिक या राष्ट्रीय, प्रत्येक दृष्टि से साम्पत्तिक विस्तार के लिए चर्खात्मक विधान एक अनिवार्य शर्त है जहाँ सम्पत्ति केन्द्रित (मूल्यहीन) नहीं विकेन्द्रित (मूल्य-युक्त) होती है।

११६. अस्तु, साम्पत्तिक स्वामित्वान्तर के सम्बन्ध मे हमारी दृष्टि सर्व-प्रथम उत्तराधिकार प्रथा पर ही जाती है। सम्पत्तियाँ पीढी-दर-पीढी, पिता से पुत्र और पुत्र के पुत्र और पुत्र के पुत्र·· · इसी प्रकार हस्तांतर हुआ करती हैं। एक व्यक्ति १०००००) मूल्य की सम्पत्ति का स्वामी था, वह विद्वान् और पुरुषार्थी भी था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके एक मात्र, परन्तु सर्वथा अयोग्य और कुमार्गी पुत्र ने सारी सम्पत्ति को ग्रहण किया। यहाँ दो बातो पर विचार करना होगा : पहले तो यह कि क्या अकेले इतनी बडी सम्पत्ति का, प्रस्तुत उत्तराधिकारी समाज के समतुलन मे अनावश्यक एवं अवाञ्छित वैषम्य का कारण न बनेगा? साथ ही यह भी देखना होगा कि क्या वह इस उत्तराधिकार के योग्य है भी या नहीं क्योकि यदि वह अयोग्य है तो वह इस सपरिश्रम उपार्जित सम्पत्ति को सुरक्षित और विकासमान बनाने के बजाय उसके क्षय तथा दुरुपयोग का कारण बन सकता है अर्थात् यह कि अपने साथ ही समाज के सम्मिलित विकास मे भी बाधक हो सकता है। चूँकि वैयक्तिक

उत्तराधिकार : राष्ट्रीय निधि

स्वामित्व का, प्रत्येक को नैसर्गिक अधिकार होते हुए भी, समाज के सम्मिलित हितो से सम्बन्ध है, अतएव यह भी पूर्णतः स्वाभाविक है कि उत्तराधिकार पर समाज सतर्क होकर ध्यान रखे। इसी अभिप्राय को लेकर गांधी जी कहते हैं—"उत्तराधिकार स्वभावतः राष्ट्र की निधि है[1]।"

११७. उत्तराधिकार प्रथा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, और सामाजिक संगठन, हमे तत्सम्बन्धी कई प्रश्नों पर भी विचार करना होगा। हमने अब तक व्यक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विचार किया है :—

(१) हमारा सामाजिक संघटन कुटुम्ब प्रधान होना चाहिये।

(२) उसके सदस्य रूपी प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व प्राप्त होगा परन्तु उसका सञ्चालन पारस्परिक और सम्मिलित रूप से होगा।

(३) सारी अचल सम्पत्तियाँ परिवार की ही होंगी और परिवार की समस्त अचल सम्पत्ति अविभाज्य होगी क्योंकि सयुक्त परिवार के लिए सयुक्त सम्पत्ति का होना अनिवार्य है।[2] यह कहना कि कुछ सम्पत्ति परिवार के लिए सयुक्त हो और कुछ उसके सदस्यों के पृथक् वैयक्तिक उपभोग के लिए असंयुक्त हो, ठीक नहीं दीखता क्योंकि इस तरह नाना प्रकार की वैयक्तिक और सामाजिक उलझनें उत्पन्न हो जायेंगी। सामाजिक शान्ति शंका मे पड़ी रहेगी, परिवार और उसके सदस्यो

---

1 Inheritance rightfully belongs to Nation—Gandhiji

२ आज संसार, विशेषत भारतवर्ष, में "फ्रैगमेन्टेशन ऑव, लैण्ड" यानी धरती के टुकड़ो में बँट जाने की चिन्ता व्याप्त है। आर्थिक दृष्टि से धरती के कुछ हद तक ही टुकड़े किये जा सकते हैं, उससे अधिक टुकड़े होने में धरती अनुत्पादक और बेकार हो जाती है। भारत आज इस अर्थविहीन बँटवारे के दुष्परिणामो में बुरी तरह फँस गया है। इस समस्या का दूसरे देशो ने भी सामना किया है। फ्रान्स में इस अनंत बँटवारे के कारण खेती अनुत्पादक सी हो चली थी। ३०% से अधिक उसकी उपयोगिता घट चुकी थी। अन्त में वहाँ कानून बना कि २००००० फ्रांक्स से कम मूल्यवाली धरती का बँटवारा नहीं होगा। जर्मनी में भी ऐसे ही कानून बने। डेनमार्क में भी कानून बना कि एक "परिवार की सारी अचल सम्पत्ति अविभाज्य हो।" अत हम कोई कठिन या विचित्र प्रस्ताव नही कर रहे है, बल्कि इसके लिए तो हमारे यहाँ शास्त्र और प्राचीन परम्परा भी मौजूद है। इसे कानूनी रूप से पुनर्स्थापित करने में दिक्कत न होगी।

मे सदा संघर्ष और सरकारी हस्तक्षेपों की आवश्यकता बनी रहेगी। सुदृढ गार्हस्थ्य की स्थापना हो ही नहीं सकती। अतएव हम व्यक्ति और परिवार के भिन्न और अभिन्न स्वार्थों का प्राकृतिक मान रखते हुए सम्पत्ति को चल और अचल, केवल इन्हीं दो वर्गों मे बाँटना व्यवहार्य्य समझते हैं।

(४) प्रत्येक व्यक्ति, अर्थात् सम्पूर्ण परिवार, की सारी अतिरिक्त आय, कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ समाज के अधिकार मे चली जाया करेगी।

सम्पत्ति क्या है?

११८. यह बिलकुल स्पष्ट बात है कि जो व्यक्ति का नहीं वह समाज का है और जो समाज का नहीं है वह व्यक्ति का होगा। उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज से प्राप्त करता है और समाज व्यक्ति से प्राप्त करता है। व्यक्ति की आय समाज के अन्य लोगो के सहयोग तथा उनके साथ व्यवहार से ही संभव होती है और अन्त मे यही वैयक्तिक सम्पत्ति के निर्माण में सहायक होती है। अधिकांश, बिना दूसरों के साथ व्यवहार किये किसी व्यक्ति की आय अथवा सम्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। सोना, मिट्टी, अन्न, वस्त्र अथवा कोई भी वस्तु यदि दूसरों के लिए कोई मूल्य न रखे तो वह सम्पत्ति भी नहीं कही जा सकती। इसलिए दूसरों के साथ व्यवहार से अपने अथवा दूसरो के लिए न्यूनाधिक परस्पर मूल्य रखनेवाली, परिश्रमपूर्वक उपार्जित, वस्तु ही सम्पत्ति है। अतएव सम्पत्ति को हम एक सामाजिक शब्द (Social terms) ही मानेंगे। या यो कि सम्पत्ति व्यक्ति के लिए एक सामाजिक देन है। परिणामतः, व्यक्ति की आवश्यकताओ से अधिक होते ही यह स्वतः ज्यो की त्यो समाज के पास लौट जाती है।

सम्पत्ति सामाजिक शब्द है

११९. इसी अर्थ मे हम 'आवश्यक आय' और 'अतिरिक्त आय' को ले रहे हैं। जो आवश्यक नहीं वह अतिरिक्त होगी ही। 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त', दोनो लक्षणात्मक पेचीदगियो से युक्त और व्याख्या के अपेक्षित हैं। आवश्यक आय का एक अंश यह भी हो सकता है जो सम्पत्ति की सुरक्षा और आवश्यकतानुसार उसकी वृद्धि में

उपयुक्त किया जाय ।[१] परन्तु परिस्थितियों के बदलते अथवा उपभोक्ताओं की संख्या मे कमी होते ही वही सम्पत्ति जो आज आवश्यक है कल अनावश्यक वन सकती है। अनावश्यक बनते ही वह अतिरिक्त की श्रेणी मे आ जायेगी और कुछ पूर्व मर्यादित आवश्यक प्रतिशत छूट के साथ स्वतः समाज की हो जायेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले तो सारी अचल सम्पत्ति सयुक्त परिवार की संयुक्त निधि होने के कारण अविभाज्य है। दूसरे यह कि उसका सारा अतिरिक्ताश समाज के पास लौट जाने के कारण वात और भी अनुशासित हो जाती है। संक्षेप मे नवभारत की योजनाएँ साम्पत्तिक स्वामित्व और उत्तराधिकार की स्वतन्त्रता देते हुए भी सम्पत्ति को अधिकांश, समाज के स्वाभाविक नियन्त्रण मे रखती हैं। वास्तव मे चल सम्पत्ति का कुछ वही पूर्व निश्चित अश, परिवार के सदस्यो को अपने स्वतन्त्र वैयक्तिक व्यवहार के लिए आय स्वरूप प्राप्त होता है जो परिवार की सम्मिलित आवश्यकताओ से फालतू वचता है।

“आवश्यक” और “अतिरिक्त” आय

१२०. उपरोक्त व्याख्या एव प्रतिवन्धो को ध्यान मे रखते हुए ही हम उत्तराधिकार के मुख्य प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। सम्पत्ति का स्वामी कौन है? इसका उत्तर हमने यही दिया है कि स्वामी तो व्यक्ति ही है परन्तु पारिवारिक माध्यम द्वारा। अतएव उत्तराधिकार मे भी उसी माध्यम का प्रयोग होगा।

व्यक्ति, पारिवारिक माध्यम द्वारा सम्पत्ति का स्वामी है

१२१. एक व्यक्ति के चार पुत्र और एक पुत्री है। कुछ खेत और वाग, कुछ नकद धन उसकी सम्पत्ति है। पुत्री विवाहोपरान्त दूसरे परिवार की सदस्या हो जाती है, और चारो पुत्रो ने पिता की समस्त सम्पत्ति को उत्तराधिकार मे प्राप्त किया। इसमे चल और अचल सारी सम्पत्ति सम्मिलित है। अचल सम्पत्ति तो अविभाज्य है ही, नकद धन मे से भी कुछ साम्पत्तिक सुरक्षा और पारिवारिक खर्च (जैसे विवाहादि, दान-धर्म,

अचल सम्पत्ति की सीमा

१ जो सम्पत्ति, आय, अथवा धन वृद्धि के लिए उपयुक्त की जाय उसे पूँजी की श्रेणी में लेना होगा परन्तु यहाँ पूँजी और सम्पत्ति के इन लाक्षणिक भेदो पर ध्यान न देकर हम फिलहाल सम्पत्ति शब्द को उसके व्यापक अर्थों में ही ले रहे है।

वहन को दहेज इत्यादि) में लगेगा। परिणामत, एक-एक व्यक्ति को अलग-अलग यदि लेना ही हुआ तो एक सीमित अश मे ही नकद धन प्राप्त होगा। इन चारो पुत्रो मे से दो के ही पुत्र हुए। परिणामतः, परिवार की कुल तत्कालीन सम्पत्ति के ये दो ही उत्तराधिकारी होगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सयुक्त सम्पत्ति का उत्ताराधिकार भी सयुक्त होता है। हाँ, यह प्रश्न अवश्य खडा होता है कि क्या ४ पुत्रो वाली १००० वीघे जमीन दो पुत्रो के लिए वहुत अधिक तो न सिद्ध होगी? और साथ ही साथ यह भी प्रश्न है कि क्या परिवार के वर्तमान सदस्य इतनी वडी सम्पत्ति का सुव्यवस्थित व्यवहार कर सकेंगे और कर भी सकें तो क्या यह समाज मे अवाञ्छित वैपम्य उपस्थित न कर देगी?

विशाल अचल सम्पत्ति के लिए पर्याप्त सदस्य सख्या और समाज व्यवस्था

१२२. हम कह चुके हैं कि सारी अतिरिक्त आय निश्चित छूट के साथ समाज की है। अतएव वैपम्य का प्रश्न कोई विशेप महत्त्व नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि क्या सदस्यो की अपर्याप्त सख्या के कारण सारी सम्पत्ति का समुचित प्रवन्ध असम्भव तो नहीं हो रहा है। विशेपतः इसलिए कि पारिवारिक अचल सम्पत्ति को प्रत्येक दशा मे अविभाज्य रखना ही हितकर है वशर्ते कि सारी सम्पत्ति ही लावारिस होकर पूर्ण रूपेण समाज के अधीन न हो जाय। पारिवारिक सम्पत्ति मे विभाजन का हम सिद्धान्त ही नहीं उपस्थित करना चाहते क्योकि यदि समाज को विभाजन का अधिकार प्रदान किया जाता है तो सिद्धाततः वह व्यक्ति को भी प्राप्त होना चाहिये। परन्तु चूँकि साम्पत्तिक सुरक्षा और उसके विकास का उत्तरदायित्व समाज पर भी है, अतएव उपरोक्त अनिवार्य परिस्थिति मे समाज को हस्तक्षेप करना ही होगा। इसके लिए व्यावहारिक यही होगा कि पारिवारिक सम्पत्ति पर पारिवारिक स्वामित्व को अविचल वनाये रखते हुए भी समाज उपयुक्त व्यक्तियों को उसमे सहयोग और उसके पारिणामिक लाभ का आदेश दे।[1] ऐसा आदेश समाज[2] और पारिवारिक सदस्यो के सम्मिलित परामर्श से ही दिया जाना चाहिये ताकि वह ताना-

---

१ निःसन्तानो के लिए दत्तक व्यवस्था भी इसी स्थल पर मान्य होती है।

२ हमने अभी राज और समाज का विभेदात्मक विवेचन नहीं किया है अतएव उसके लिए व्यापक अर्थों में हम समाज शब्द का ही प्रयोग करते आ रहे है।

शाही हुकूमत का रूप न धारण कर ले और व्यक्तियो के स्वाधिकार पर आघात होने लगे।

इसी प्रश्न का दूसरा पहलू यह है कि यदि किसी परिवार का कोई सदस्य न्यायतः और कारण सहित परिवार से अलग होकर स्वतंत्र अस्तित्व कायम करना चाहता है तो उसे आधारभूत आवश्यक अचल सम्पत्ति कहाँ से मिले या यह भी कि यदि किसी पारिवारिक सम्पत्ति के लिए आवश्यक सख्या से उक्त परिवार के सदस्य अधिक हो जाते हैं तो उनके लिए पृथ्वी या अन्य प्रकार की अचल निधि कहाँ से आये ?

हमने अभी ऊपर कहा है कि समाज अपने सदस्यो के सुख-समृद्धि के लिए उत्तरदायी है। समाज को अपने सार्वजनिक सूत्रों से ऐसे व्यक्ति और परिवारों की स्थिति कायम करने मे सहायता देनी होगी। ऊपर कहा गया है कि परिवार की सदस्य संख्या कम हो जाने से वह उस परिवार के लिए अनावश्यक हो जायेगी यानी समाज की हो जायेगी। ऐसे ही सूत्रों से समाज की सार्वजनिक निधि का निर्माण होता है। ऐसी ही सार्वजनिक निधियों से समाज अपने व्यक्ति और परिवारो की सहायता करेगा।

पिछले स्थलो मे हमने मंगरौठ का उल्लेख किया है। वस्तुतः, सारे गाँव की सारी अचल सम्पत्ति का उसी प्रकार सम्मिलित और सहयोगी रूप से व्यवहार होना चाहिये, फिर सारी पेचीदगियाँ अपने आप दूर हो जायेंगी। यहीं विनोबा के भू-दान-यज्ञ का महत्त्व प्रकट होता है,—गाँव की सारी जमीन सारे गाँव की है यानी कोई बे-जमीन रह ही नहीं सकता। यों भी वन, चरागाह, तालाब, झील, नहरें, कुएँ आदि तो सार्वजनिक होने ही चाहियें, होते भी हैं।

अब रह जाता है प्रश्न चल सम्पत्ति का। संयुक्त परिवार के अस्तित्व मात्र के लिए संयुक्त सम्पत्ति होनी ही चाहिये और यह उसी समय संभव होगी जब कि वह अविभाज्य हो। परन्तु चल सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ऐसा नहीं कहा जा सकता, वरना वैयक्तिक स्वामित्व का सारा उद्देश्य ही विफल हो जायेगा। हमे उत्तराधिकार के इसी अंश को देखना है। मान लीजिये एक व्यक्ति की साम्पत्तिक आय ५००) मासिक है। उसके चार पुत्र और एक पुत्री है। अर्थात् परिवार मे माता-पिता को लेकर कुल सात सदस्य हुए। इसमें से परिवार की जीवनावश्यकताएँ, साम्पत्तिक

चल सम्पत्ति और वैयक्तिक बचत

सुरक्षा और विस्तार मध्ये ३००) निकल जाते हैं। यही ३००) "आवश्यक" आय हुई और शेष २००) "अतिरिक्त आय"। इस अतिरिक्त आय" का २५% परिवार को छूट मिलती है। इस ५०) में से बराबर-बराबर अथवा, माता-पिता की स्वीकृति से, न्यूनाधिक, प्रत्येक सातो सदस्य के हिस्से में आता है। यह वैयक्तिक बचत है और यही वैयक्तिक उत्तराधिकार की समस्या उपस्थित कर सकती है।

---

१ यो तो जब हम "आवश्यक आय" पर विचार करेंगे तो वहीं उसके अन्तर्गत आनेवाले मदो पर विचार करेंगे। परन्तु यहाँ स्पष्ट कर ही देना है कि हम प्रचलित आर्थिक विचारों का विरोध करते हुए भी साम्पत्तिक सुरक्षा और उसके विकास को भी आवश्यक मद अर्थात् आवश्यक आय के अन्तर्गत ले रहे है क्योंकि सम्पत्ति को सुरक्षित और विकासमान न बनाया गया तो वह यही नही कि आगे चल कर पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी असमर्थ हो जायेगी बल्कि यह भी कि सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में भी बाधा पहुँच सकती है। हमने अभी "अर्न्ड" और "अन-अर्न्ड —दो प्रकार की आय का जिक्र किया है। "अर्न्ड" अर्थात् "अर्जित" और "अन-अर्न्ड" अर्थात् 'अनुपार्जित।' परन्तु ध्यान रहे हम उपार्जित और अनुपार्जित का प्रयोग न करके आय को 'आवश्यक" और "अतिरिक्त"—इन्हीं दो वर्गो में बाँट रहे हैं। इस बात पर विशेष ध्यान रखना है क्योंकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने "अन-अर्न्ड" आय पर ही समाज या राज का अधिकार बतलाया है। परन्तु यह भी तो सम्भव है कि अनुपार्जित आय भी व्यक्ति की आवश्यक आय हो। एक व्यक्ति परिश्रम और उद्योग-पूर्वक ५०) कमाता है। यह हुई उसकी उपार्जित आय। साथ ही साथ उसने कुछ धन अथवा साधन या कृषि के लिए दो बैल किसी दूसरे व्यक्ति को दे रक्खे है जिसे 'इन्वेस्टमेन्ट' या लागत कहेंगे। इसे लेकर दूसरा व्यक्ति स्वपरिश्रम द्वारा जो आय करता है वह तो उसकी अर्जित आय हुई। परन्तु इसमें से लागत लगाने या उधार देनेवाले को ५०) आय रूप प्राप्त हो तो यह उसकी अनुपार्जित आय होगी। परन्तु हम देखते हैं कि उसकी आवश्यकतायें ७५) की हैं जिसकी पूर्ति वह उपार्जित व अनुपार्जित, दोनो को मिलाकर करता है। अतएव कहना तो यही होगा कि उसकी "आवश्यक" आय ७५) है और २५) उसकी 'अतिरिक्त आय' हुई। परन्तु यदि हम 'आवश्यक' और 'अतिरिक्त' के बजाय 'उपार्जित' और 'अनुपार्जित' के भेद से व्यक्ति और समाज (या राज) के अधिकारो का निर्णय करेंगे तो विवाद उत्पन्न हो सकता है। यह दूसरी बात है कि किसी व्यक्ति को उधार देने या लागत लगाने का कहाँ तक अधिकार है। इसका भी निर्णय करना होगा। इसी प्रकार उपार्जित आय की बात है। एक व्यक्ति विशेष योग्यता या विशेष साधनो से युक्त होने के कारण स्वपरिश्रम द्वारा ५००) मासिक कमाता है। उसकी आवश्यकतायें १००) मासिक ही है। क्या ४००) प्रति मास जो उसके पास एकत्र हो रहे हैं एक बड़ी सम्पत्ति के रूप में बदल कर साम्पत्तिक वैषम्य का प्रश्न न उपस्थित करेंगे? कहने का अभिप्राय "उपार्जित' और 'अनुपार्जित' के भेद से कार्य करने में पेचीदगियाँ उत्पन्न हो रही हैं। पहले तो यही निर्णय करना होगा कि हम उपार्जित किसे कहें? जिसके उपार्जन में साक्षात् परिश्रम लगे? तो क्या व्यवसाय की नानारूपी बृहत् आय और पुस्तको पर प्राप्त होनेवाली (पृष्ठ २२४ पर)

पहले तो यह कि वैयक्तिक बचत हो ही क्यों ? हम यह नहीं चाहते कि समाज पंगु और निरीह व्यक्तियो का झुण्ड मात्र हो और समाज उनके रोटी और धोती की समस्या को सुलझाने में उन्नति और उत्थान के अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नो को छोड वैठे। प्रत्येक व्यक्ति को पारिवारिक माध्यम द्वारा अपने परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर सम्पन्न और स्वावलम्बी होना चाहिये। सम्पन्नता और स्वावलम्बन की दृष्टि से उसके पास जीवनावश्यकताओ की पूर्ति के उपरान्त समय-कुसमय के लिए साम्पत्तिक सञ्चय होना ही चाहिये। संयुक्त परिवार के सदस्य होने के नाते वृद्ध और श्रम के अयोग्य माता-पिता का पालन-पोषण सन्तानो का कर्तव्य अवश्य है फिर भी यदि इन वृद्धात्माओ के पास अपनी वैयक्तिक कही जानेवाली कोई निधि है तो इससे बढ़ कर क्या हो सकता है ? वृद्धावस्था को छोड़िये, युवावस्था मे ही यदि कोई विपत्ति आ पड़ी तो भी पारिवारिक संरक्षण की क्रियाशीलता अथवा निष्क्रियता के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से ही सुरक्षित धन काम आ सकता है। पुत्री को लीजिये। विवाहोपरान्त वह किसी अन्य परिवार की सदस्या होने जा रही है। बेचारी परिवार की चल सम्पत्ति का उपभोग तो कर ही नहीं सकती परन्तु उसे नये जीवन मे स्थापित करने के लिए परिवार ने क्या सहायता दी ? यही उसका दहेज[1] होगा और उसके नव जीवन का सहायक बन सकता है।

परिवार के सदस्यो की संख्या बढ़ गई है। प्रस्तुत साधन मे एक साथ निर्वाह होना कठिन हो रहा है। एक या अनेक व्यक्तियो को अलग होकर स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यापार शुरू करना है। पारिवारिक सहयोग और

पुश्तैनी रॉयल्टी को 'उपार्जित' श्रेणी में लेंगे ? इसी प्रकार अनेको पेचीदगियाँ है जिन पर स्वतन्त्र रूप से ही विचार किया जायेगा। सम्प्रति, हमारा उद्देश्य, आवश्यक और अतिरिक्त आय से ही सिद्ध होगा।

१ विवाहोपरान्त पुत्री का नाता पिता की चल और अचल सम्पत्ति से टूट कर पति के परिवार से जुड जाता है। परन्तु पुत्री यदि स्वयं उचित और आवश्यक समझे तो अब तक अपने हिस्से का धन अपने साथ ले जा सकती है। यही उसका दहेज होगा। परन्तु इसके लिए पति की ओर से कोई दबाव मान्य नहीं हो सकता। यदि पति के परिवार मे उसे जीवन के निश्चल साधन प्राप्त हो रहे हैं और वह स्वय पिता के यहाँ से धन ले जाना अनावश्यक समझती है तो वह सहर्ष छोड जा सकती है। हाँ, यदि उसकी इच्छा और आवश्यकता के विपरीत भी पिता के यहाँ से उसे उसका हिस्सा प्राप्त नही हो रहा है तो पति वालो का ही दबाव नही, स्वयँ समाज का भी हस्तक्षेप कार्य करेगा।

सहायता तो उसे प्राप्त होगी ही, परन्तु अपनी निजी सम्पत्ति होने के कारण कार्य और भी सुगमता और सुरुचिपूर्वक प्रारम्भ किया जा सकता है।[1] इसी प्रकार अनेको बातें हैं जो व्यक्तिगत बचत की प्रेरणा करती हैं। यदि व्यक्तिगत बचत है तो उसका उत्तराधिकार अथवा वैधानिक स्वामित्वान्तर भी स्वाभाविक ही होगा क्योकि जो तर्क एक के पक्ष मे आता है वही दूसरे का भी समर्थन करता है।

१२३. व्यक्ति की यही व्यक्तिगत बचत, उसकी सन्तानों को, उत्तराधिकार मे, परिवार के सयुक्त उत्तराधिकार के अतिरिक्त, प्राप्त होती है। न्यायतः यह बचत भी सन्तानो मे समान रूप से बँट जानी चाहिये, परन्तु उचित और आवश्यक हो तो माता-पिता इसके वितरण मे स्वेच्छा का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी उत्तराधिकार व्यवस्था मे 'दाय भाग' और 'मिताक्षरा', दोनो का उत्कृष्टतम रूप से समावेश हो जाता है जो अत्यन्त सरल, सुबोध और व्यावहारिक रीति भी है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि साम्पत्तिक उत्तराधिकार का इससे वैज्ञानिक तरीका कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। वास्तव मे हमारा लक्ष्य भूत, भविष्य और वर्तमान को ध्यान मे रखते हुए एक सुखी और समृद्धिशाली एवं सघर्षहीन समाज की स्थापना पर ही है और हमे विश्वास है कि यह उसका श्रेष्ठतम उपाय है।

वैयक्तिक बचत और उत्तराधिकार—— 'मिताक्षरा' और 'दाय भाग' का सुमिश्रण

अब उत्तराधिकार सम्बन्धी अन्य दो चार प्रश्नो पर विचार करना और शेष रह जाता है।

१२४. व्यक्ति को साम्पत्तिक स्वामित्व का लाभ प्राप्त होने के कारण

---

१ इस दशा मे पारिवारिक सम्पत्ति का प्रश्न उपस्थित होगा। सबसे पहले तो पारिवारिक सम्पत्ति अविभाज्य होने के कारण परिवार छोड़ जाने का अनावश्यक प्रलोभन ही न होगा और जो छोड़ेंगे भी तो वे अधिकाश पारिवारिक सम्पत्ति की पोषणार्थ क्षमता के अभाव मे ही। अस्तु, सदस्यो के अलग हो जाने के उपरान्त जो भी पारिवारिक सम्पत्ति के साथ बंधा रहेगा वही उसका स्वामी होगा। परिवार छोड़ने पर कोई बाध्य न किया जायेगा और परिस्थिति-वश जो छोड़ेगा उसमें सबसे पहला वही होगा जो अलग जीवन आरम्भ करने में सर्वाधिक समर्थ होगा।

उसे आत्म विश्वास, आर्थिक निश्चिन्तता एवं जीवन संघर्ष मे बल प्राप्त होता है। यदि उसकी सन्तानें उत्तराधिकार से वंचित कर दी जायें तो यही नहीं कि व्यक्ति का साम्पत्तिक स्वामित्व अर्थहीन बन जायेगा बल्कि यह भी कि जो पिता को प्राप्त है उसके पुत्र उससे वंचित रह जायेंगे अर्थात् आर्थिक निश्चिन्तता समाज का गुण न रह जायेगी। सक्षेप मे, उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति की अनिवार्य शर्त है। यह दिखलाया जा चुका है कि हमारा साम्पत्तिक स्वामित्व वैयक्तिक परन्तु परिवारगत है। अतएव विदेशो के समान यहाँ उत्तराधिकारी की आयु का प्रश्न कोई महत्त्व नहीं रखता। यहाँ परिवार का प्रत्येक सदस्य पारिवारिक उद्यम मे सयुक्त रूप से कार्य और उसके उपभोग का अधिकारी है। जब तक वह परिवार का सदस्य है पारिवारिक कार्य मे उसे सक्रिय भाग लेना होगा, पारिवारिक स्वार्थों की रक्षा करनी ही होगी। युवा हो या वृद्ध, पारिवारिक मर्यादा के अन्दर ही चलना होगा। अतएव उसकी आयु से उत्तराधिकार के पूर्व या पश्चात्, दोनों परिस्थितियो मे कोई विशेष परिणामजनक अन्तर नहीं पडता। उत्तराधिकार से उसकी आयु-जनित राष्ट्रीयता और निष्क्रियता का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं और न यही बात है कि उसके उत्तराधिकार के कारण समाज मे किसी विशेष साम्पत्तिक उलट-फेर या उतार-चढ़ाव का प्रश्न उपस्थित होता है।

उत्तराधिकार वैयक्तिक सम्पत्ति की एक अनिवार्य शर्त है

१२५. हम कह चुके हैं और अभी और अधिक विस्तार से कहेंगे कि जीवनावश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करना ही होगा। गांधी जी कहते हैं—"जो बिना कमाये खाते हैं वे निश्चय ही चोरी करके खाते हैं।"[1] इस बात पर विचार कीजिये कि एक व्यक्ति स्वपरिश्रम द्वारा १००) मासिक की आय करता है जो उसके परिवार के लिए बिलकुल पूरा है। वह बीमार पड़ गया, उसकी दैनिक कमाई बन्द हो गई। उसके पास न कुछ बचता

जीवनावश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करना आवश्यक है

1. "Those who ate without work were thieves"—Gandhiji, Young India, 13-10-24

था, न बचत है। अब उसे दवा-दारू या भोजनादि कैसे प्राप्त हो ? क्या वह परिवार समेत किसी सामाजिक बारिक मे दाखिल हो जाय ? तो क्या इस प्रकार समाज के लाचारो के लिए सरकारी बारिकें और उनकी भरती तथा मुक्ति की जटिल व्यवस्था का बोझ भी ढोते चलना पडेगा ? हम ऐसी किसी भी व्यवस्था को सामाजिक सुदृढता का द्योतक नहीं मानते जिसके सदस्य स्वावलम्बन के बजाय सामाजिक 'राशन' या 'सरकारी भत्तो' (Doles) पर ही जी सकें। इसलिए हमने व्यक्ति को साधन युक्त बनाने के साथ ही साम्पत्तिक स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया है ताकि वह निश्चिन्त होकर जीवन-संघर्ष के कार्य कर सके। इसी बात के दूसरे पहलू पर विचार कीजिये। उपरोक्त व्यक्ति चार छोटे-छोटे बच्चो को छोड कर मर गया। यदि उसके पास कोई सम्पत्ति नहीं रही तो स्वभावतः बच्चो को सरकारी अनाथालय मे भरती करना होगा। परिणामतः, स्वावलम्बन के बजाय समाज मे निरीहता का उदय होगा और सारा सामाजिक विकास मारा जायेगा। साथ ही साथ समाज को ऐसी अनावश्यक जिम्मेदारियो के बोझ के कारण विकास के अन्य क्षेत्रो मे स्वतन्त्र और समर्थ होकर कार्यशील होने का अवसर ही न प्राप्त हो सकेगा। अभिप्राय यह कि सामाजिक व्यवस्था को सत्य और स्वगामी बनाने के लिए भी पूर्व कथित साम्पत्तिक स्वामित्व और उत्तराधिकार की व्यवस्था करनी होगी। हाँ, यह बात अवश्य है कि समाज को देखना होगा कि प्रत्येक परिवार और उसका प्रत्येक सदस्य साधनयुक्त और कार्यशील है, अन्यथा समाज मे मुफ्तखोरो और निखट्टू मठाधीशो की सृष्टि तथा "चोर वृत्ति" (बिना कमाई के भोजन प्राप्ति) का संस्कार होगा।

१२६. परिवार और उनके सदस्यो को साधन युक्त एवं क्रियाशील रखना समाज का उसी प्रकार उत्तरदायित्व है जैसे परिवार की अनावश्यक सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझना। किसी परिवार के फालतू साधन और सम्पत्ति का सदुपयोग करने के लिए जैसे समाज अन्य व्यक्तियों को कार्य एव सहयोग पूर्ण श्रम द्वारा उसका लाभ लेने का आदेश दे सकता है, व्यवस्था कर सकता है, उसी प्रकार समाज यह भी कर सकता है कि यदि किसी परिवार मे ५० बीघे जमीन की आवश्यकता है और उस परिवार के पास कुल २५ बीघे ही हैं या ५००) मासिक आय की आवश्यकता है

और उसकी मासिक आय २००) रु० ही है तो शेष साधन और उद्योगों की उस परिवार के लिए व्यवस्था करे। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि ऐसे परिवारो की सम्पत्ति ही बढ़ाई जाये। तरीका यह भी हो सकता है कि यदि परिवार के एक या अनेक सदस्य स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यापार मे लग सकते हैं तो उन्हे आवश्यक और सामूहिक सुविधानुसार परिवार से अलग भी साधन युक्त बनाया जा सकता है परन्तु यदि एक माँ के सात छोटे-छोटे बच्चे हैं और दूसरा कोई वयस्क प्राणी उनकी सहायता के लिए नहीं है और न इतना साधन ही है कि इन सब-का भरण-पोषण एवं सुख-सौरभ का विधान हो सके तो यहाँ परिवार की साम्पत्तिक स्थिति को बढ़ाना, नये साधनो से युक्त करना, नये रास्ते, नये उद्योग, तथा नई व्यवस्था से उन्हे उसी पारिवारिक छाया और मर्यादा मे सम्पन्न बनाना होगा। व्यक्तिगत लेन-देन को चालू रखते हुए भी उत्तम यही होगा कि व्यक्तियो के बड़े-बड़े आर्थिक मसले ग्राम पंचायतो के माध्यम से ही हल किये जायें, विशेषतः इसलिए कि व्यक्तियो की ये सारी लेन-देन इस तरीके से चलें कि उनका न तो उत्पादन और साम्पत्तिक विकास पर असर हो और न उनके परिणाम मे साम्पत्तिक विभाजन की समस्या खड़ी हो।

सदस्यों को साधन युक्त करना, उनकी साम्पत्तिक व्यवस्था करना, समाज का उत्तरदायित्व है

१२७. ये सारी बातें पढ़ने मे पेचीदा मालूम होती हैं परन्तु व्यवहार मे सरल हैं बशर्तेकि इस प्रकार की कार्य क्षमता समाज को ग्राम पचायतो के माध्यम से प्राप्त हो। ग्राम पंचायतो का अर्थ है गाँववाले न कि पेचीदा पद्धतियो से चुने हुए दो-चार विशेष प्रतिनिधि या मुखिया। गाँववालो का अनिवार्य धर्म होगा कि गाँववाले काम करें और साधनयुक्त रहे। साधन हीन तो कोई रहने ही नहीं पायेगा, किसी भी दशा मे,—लोगो को साधनयुक्त रखना समाज की एक प्राथमिक जिम्मेदारी होगी। यदि कोई पंचायत इस कार्य मे असमर्थ हुई तो दूसरी या केन्द्रीय पचायतो से सहायता मिलेगी। रही काम करने की बात, सो हमारा निश्चित मत है कि सुरुचिपूर्वक काम करके सुखी रहने से कोई भी वंचित नहीं रहना चाहता। परन्तु यदि कोई किसी कारण विशेष अथवा असामाजिक वृत्तियो के कारण काम से वचित रहता

पारिवारिक उद्यम में सक्षम रहनेवाला व्यक्ति ही परिवार का सच्चा सदस्य है

ही है तो समाज के साम्पत्तिक समतुलन पर कोई परिणाम जनक प्रभाव नहीं पडता। परन्तु ऐसी गुंजाइश ही क्यों हो ? इसके लिए ऊपर कहा गया है कि परिवार का वही सच्चा सदस्य है जो पारिवारिक कार्य और उत्पादन मे परिश्रम एव सहयोगपूर्वक भाग ले। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को कार्ययुक्त रखने के लिए पारिवारिक दबाव भी है। परिवार के ऊपर समाज की भी आँख है। इसलिए अत्यन्त असाधारण परिस्थितियो को छोड कर कोई व्यक्ति बेकार या निखट्टू नहीं रह सकता।

१२८. स्वामित्वान्तर का दूसरा रूप दान और वसीयतनामा हो सकता है। जब तक सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व को अमान्य नहीं किया जाता

दान और वसीयतनामा

दान और वसीयतनामे के अधिकार को भी व्यक्ति से छीनना असम्भव और अव्यावहारिक है। अतएव प्रश्न यही रह जाता है कि दान और वसीयतनामों के द्वारा समाज मे वेश्याओ तथा निखट्टू मठाधीशो के समान अवाञ्छित तथा अनुत्पादक प्राणियो की सृष्टि तो नहीं हो रही है। अतः यह स्पष्ट होना चाहिये कि दान का पात्र कौन है ? जो उत्तराधिकार वर्ग मे आते हैं उन्हे बिना किसी विशेष कारण के दान अथवा वसीयत प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या ? फिर तो बात यही बनती है कि जो उत्तराधिकार क्षेत्र से परे और कार्यशील प्राणी हैं उन्हे ही दान या वसीयत का लाभ प्राप्त होना चाहिये। इस वर्ग मे दूर के रिश्तेदार, विद्यार्थी वर्ग, धार्मिक, सामाजिक तथा शिक्षण सस्थाएँ आदि आ सकती हैं। इस प्रकार साम्पत्तिक स्वामित्व और उसके पारिणामिक हेर-फेर को मानते हुए हम साम्यवादी समानता का दावा भले ही न कर सके परन्तु यह बात तो स्वय सिद्ध है कि थोडी बहुत जो वैषम्यता है भी वह बिलकुल

साधन और समृद्धि साम्यवादी बँटवारे से अधिक जरूरी— सरकारी हस्तक्षेप सामाजिक स्वतन्त्रता का शत्रु

प्राकृतिक और सामाजिक स्वार्थो के अनुकूल है, कम से कम अनुत्पादक तो है ही नहीं। वास्तव मे हमे साम्यवादी बँटवारे से अधिक प्रत्येक व्यक्ति को सुख-समृद्धि के अधिकाधिक साधन और अधिकाधिक अवसर प्रदान करने की आवश्यकता है। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि समाज की उत्पत्ति बढ़ाई जाय।[1] भले ही इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति मे नपी-तुली समानता न हो सके क्योंकि

१ सामाजिक उत्पत्ति की वृद्धि पर विचार करते समय हमें दो प्रमुख बातो पर ध्यान (पृष्ठ २३० पर)

केवल साम्यवादी समानता के नाम पर हम "सम असम्पन्नता" मोल नहीं लेना चाहते। थोड़ी बहुत विषमता ही क्यों न हो, लोग सुखी और सम्पन्न तो हों।[1] विशेष बात तो यह है कि हमें जितना ही अधिक नपी-तुली समानता का शौक बढ़ेगा उतना ही सरकारी हस्तक्षेपों की आवश्यकता होगी और सरकारी हस्तक्षेप सामाजिक स्वतन्त्रता का परम शत्रु है।

१२६. इस प्रकार उत्तराधिकारी वर्ग को जब तक कि कोई असाधारण बात न हो, दान और वसीयत के उपभोग से वंचित कर देने के कारण सम्पत्ति वहीं जायेगी जहाँ कि उसकी आवश्यकता है। हम कोई आदर्श या काल्पनिक बात नहीं कर रहे हैं, हमारे सारे प्रस्ताव बिल्कुल व्यावहारिक और प्रचलित परम्पराओं के संयत और सुसंस्कृत रूप मात्र हैं। अस्तु यहाँ एक बात यह समझने की है कि व्यक्तियों में से अधिकांश लोग किसी न किसी परिवार के सदस्य ही होंगे और परिणामतः उसके अधिकारी भी होंगे। उन्हें पारिवारिक सुखोपभोग के साथ ही सामाजिक संरक्षण भी प्राप्त होगा ही। ऐसी दशा में जब कि बात असाधारण न हो, उन्हीं के माता-पिता या संरक्षक उन्हीं को दान या वसीयत करेंगे, तुलनात्मक दृष्टि से इसकी कम सम्भावनाएँ हैं। फिर अधिकांश यही होगा कि दान और वसीयत अपारिवारिक सूत्रों को प्राप्त हो। अपारिवारिक सूत्रों का अर्थ यह है कि पात्र या तो किसी दूसरे परिवार का सदस्य या कोई सार्वजनिक संस्था या मद होगा। सम्पत्ति की प्रस्तुत योजना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि सारी अतिरिक्त

साम्पत्तिक योजना में नवभारत का आत्यतिक ध्येय—व्यक्ति समाज के लिए क्रियाशील रहे

रखना होगा—एक तो यह कि कहीं भी, किसी भी स्थान पर उत्पत्ति हो, वह आवश्यक और अतिरिक्त की पकड़ में रहने के कारण समाज में अनावश्यक विषमता उत्पन्न कर ही नहीं सकती। दूसरे यह कि नवभारत की उत्पादन व्यवस्था और साधनों के अन्तर्गत सम्पत्ति में स्वच्छन्द और गुणात्मक वृद्धि हो ही नहीं सकती।

1 "The objection to Socialism is not that it would divide the produce of Industry badly, but that it would have so much less to divide' We have to choose between unequal distribution of wealth and equal distribution of poverty'—Sidgwick,—quoted in Economics of Inheritance, P 32

आय समाज की है जिससे दाता और पात्र, दोनों भिन्न हैं। ऐसी दशा मे दान देने या लेनेवाले को जब तक कि सम्पत्ति की, यथार्थतः, आवश्यकता न हो सम्पत्ति मे कोई आकर्षण ही न होगा। फल यह होगा कि दान और वसीयत का एक बहुत बडा अश सार्वजनिक सूत्रो को प्राप्त हो जायेगा। और नवभारत का यही आत्यन्तिक ध्येय है कि व्यक्ति समाज के लिए और केवल समाज के लिए ही क्रियाशील रहे। यदि ऐसा नहीं है तो हमारी सारी साम्पत्तिक योजनाएँ व्यर्थ हैं।

वैवाहिक तथा अन्य सामाजिक स्वामित्वातर

१३०. साम्पत्तिक स्वामित्वान्तर का तीसरा रूप वैवाहिक और अन्य सामाजिक प्रथाएँ हैं। इसमे से वैवाहिक को छोडकर शेप सारी प्रथाएँ व्यवहारतः दान और वसीयत की कोटि मे ही आ जाती हैं। अतएव इस सम्बन्ध मे हमे सम्प्रति कुछ अधिक नहीं कहना है। वैवाहिक स्वामित्वान्तर के सम्बन्ध मे भी हम आवश्यक उल्लेख कर चुके हैं।

'स्त्री-धन"

१३१. अब एक प्रश्न रह जाता है "स्त्री-धन" का। स्वभावतः इसका बहुत बडा महत्त्व है। इसमे एक प्रकार की पवित्रता का समावेश हो गया है। वास्तव मे जब तक कि स्त्रियाँ सम्पूर्णतः स्वतत्र और स्वावलम्बी न हो जायँ "स्त्री-धन" की महत्ता रहेगी ही। "स्त्री-धन" एक ऐसी निधि है जो समाज की साम्पत्तिक उलट-फेर मे नहीं, आपद्काल मे आत्मरक्षा के ही काम आ सकती है। यह अधिकाश चल सम्पत्ति से ही निर्मित होता है और होना भी इसी से चाहिए क्योंकि व्यक्ति की सारी अचल सम्पत्ति परिवारगत, सयुक्त और अविभाज्य है, उसे "स्त्री-धन" मे परिणत ही क्यों कर किया जा सकता है ?

१३२. अब अन्त मे कुछ विशेप बातो को स्पष्ट कर देने की जरूरत है :—

मृत्यु कर

१. ऊपर हम साफ कर चुके हैं कि उत्तराधिकार को हम राष्ट्रीय निधि मानते हैं, साथ ही साथ साम्पत्तिक स्वामित्वान्तर की जो रूपरेखा हमने पेश की है, उसे लेकर विदेशों मे प्रचलित "मृत्यु-कर" को अनावश्यक समझते हैं। वस्तुतः मृत्यु-कर के द्वारा साम्पत्तिक विपमता को रोकना असम्भव और अपर्याप्त ही नहीं बल्कि अप्रेरणात्मक भी है। लार्ड

थोर्ट समाउथ ने इग्लैण्ड में "मृत्यु-कर" के अनुभव को लेकर ऐसा ही मत व्यक्त किया है (देखें 'इग्लैण्ड, मे गाँवो की पुनर्रचना', स. सा. संघ)।

सयुक्त परिवार के लिए सयुक्त सम्पत्ति

२. हमने कहा है कि सामाजिक सुदृढ़ता के लिए सयुक्त परिवार व्यवस्था की निर्विवाद आवश्यकता है और संयुक्त परिवार की सुरक्षा के लिए अचल सम्पत्ति का संयुक्त रहना अनिवार्य है। वहीं यह साफ कर दिया गया है कि यदि—

पारिवारिक सम्पत्ति की विकासमान योजना के लिए बाहरी लोगों का आवाहन और उनका स्वार्थ !

(अ) परिवार के सदस्यो की सख्या कम हो गई है और सम्पत्ति को वृद्धमान और उत्पादक रीति से सुरक्षित रखना असम्भव हो रहा है तो समाज (ग्राम पंचायतो के माध्यम से) दूसरे लोगो को उसमे शामिल करके साम्पत्तिक विकास की व्यवस्था करेगा। परन्तु इस प्रकार परिवार मे बाहर के जो लोग शामिल हो या किये जायँ उनका इस सम्पत्ति मे स्थायी स्वार्थ उसी समय और उसी दशा मे स्वीकार किया जायेगा जव कि मूल परिवार की घटी हुई संख्या मे फिर वृद्धि होने की गुञ्जाइश ही खतम हो चुकी हो। जव तक पारिवारिक सदस्यो की सख्या में पुनर्वृद्धि होने की गुञ्जाइश है नवागन्तुको का स्वार्थ अस्थायी ही रहेगा। वस्तुतः, दत्तक व्यवस्था को ऐसी परिस्थितियो के लिए थोड़ा हेर-फेर के साथ कानूनी अनिवार्यता वना देने से काम चल जायेगा। ऐसे मौके पर गोद उसी को लिया जाये जो वयस्क हो, पुरुपार्थी और श्रमशील हो, उत्पादन मे सक्रिय योगदान कर सके। स्त्री, पुरुष, कोई भी, किसी को भी, किसी उम्रवाले को अपना सकता है। वालको के लिए सामाजिक, सरकारी, पंचायती, सहारा काम देगा।

दत्तक व्यवस्था

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वाभाविक विभाजन

(व) पारिवारिक सम्पत्ति मे, इस प्रकार नवागन्तुक के स्थायी स्वार्थ की स्थिति होने पर यदि मूल सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न खड़ा हो तो उसे स्वाभाविक और "समाज गत" अथवा आय का व्यवस्थित और व्यावहारिक रूप मानना होगा।

अपारिवारिक सदस्यों का परिवार से पृथक्कीकरण

(२) परिवार की घटी हुई संख्या यदि पुनः बढ जाये और मूल सम्पत्ति से नवागन्तुक के स्वार्थ को अलग करना हो तो समाज का उत्तरदायित्व होगा कि तुरन्त इनके जीविका की कोई समुचित व्यवस्था करे— यह व्यवस्था जमीन से अलग, औद्योगिक भी हो सकती है।

परिवारों के प्रति समाज की जिम्मेदारी

(३) उसी प्रकार यदि परिवार की सदस्य संख्या सुलभ साधन से ऊपर बढ़ गई है तो समाज का उत्तरदायित्व होगा कि इनके लिए जमीन, उद्योग, या अन्य उत्पादक साधनो की व्यवस्था करने मे सहायता करे।

बाप की जायदाद में बेटी का हक—हिन्दू कोड बिल का हव्वा

(४) अचल सम्पत्ति, लड़की या लडका, सब के लिए समान रूप से अविभाज्य होगी। लड़की या लडका, जो जहाँ भी, जिस परिवार मे भी होगा, उसके लिए वहीं पारिवारिक आधार पर व्यवस्था होगी। इसलिए बाप की जायदाद से बेटी का भी हक हो, यह सवाल ही नहीं उठता। हमारी इस समाज रचना मे हिन्दू कोड बिल का साम्पत्तिक हव्वा खडा ही नहीं हो पाता।

अचल सम्पत्ति में कुएँ और चरागाह

(५) अचल सम्पत्ति मे जहाँ तक जमीन का सवाल है उसे उपजाऊ बनाये रखने के लिए, बैल, कुएँ तथा अन्य ऐसे ही साधनो को भी उसी श्रेणी मे शामिल करके आवश्यकतानुसार विभाजन-अविभाजन के प्रश्न पर विचार करना होगा।

(६) चरागाहो के समान कुओ आदि को भी सामूहिक या सामाजिक श्रेणी मे लिया जा सकता है।

—:*:—

(ब) कृषि और खाद्य समस्याएँ

(१)

पृथ्वी और कृषक

१३३. सम्पत्ति का स्रोत पृथ्वी है। प्रत्येक देश मे, प्रत्येक युग में, हमारी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति मे पृथ्वी का प्रारम्भिक और प्राथमिक महत्व रहा है और रहेगा भी। परन्तु खेद है कि इस पृथ्वी को लेकर जीने और मरनेवाले कृषक सबसे अधिक त्रस्त और अभावग्रस्त रहे हैं, विशेषतः उन देशो के कृपक जो कच्चे माल के उत्पादक हैं। धूप और ठण्ड से सुरक्षित, पंखो की हवा और बिजली की चकाचौंध मे नाखूनो की 'पालिश' और होठो की 'लाली' के सौदागर खुशहाल और जीवन की अनिश्चितता से दूर देखे जाते हैं जब कि दिन-रात वर्षा और तूफान मे कठोर परिश्रम के साथ खून पसीना करनेवाला किसान रोग और भूख से तड़प-तड़प कर दम तोड रहा है। अन्न के बिना किसी भी देश का अस्तित्व असम्भव है, परन्तु दुखद काकपक्ष तो यह है कि वही अन्नदाता समाज मे सब से अधिक उपेक्षित है। उसकी इज्जत सब से कम नहीं तो किसी से अधिक भी नहीं है। किसानो मे भी अफीम की काश्त करने वाला व्यक्ति गेहूँ वाले से अधिक सम्पन्न और ठाठ-बाट में पाया जाता है।

दुखद काकपक्ष

मतलब यह कि हमारी दृष्टि ही भ्रष्ट हो गयी है और जब तक हम कृषि को सही दृष्टि से हाथ मे नहीं लेते सर्वोदय की बुनियाद पड़ ही नहीं सकती,—'नव भारत' कोरा सपना बना रहेगा।

कृषि–भोजन के पैमाने में

१३४. परन्तु कृषि और खाद्य समस्याओ का प्रश्न इस प्रकार एक दूसरे मे घुल-मिल गया है कि लोग भोजन के पैमाने मे ही कृषि को समझने के आदी हो गये हैं। इसलिए जरूरी है कि हम भारत की खाद्य समस्याओ को समझकर ही भूमि और कृषि के प्रश्न पर विचार करें।[1]

१३५. आज भारत स्वतंत्र है परन्तु उसकी गरीबी, उसका रोग और

---

१ यह अध्याय मेरे "भारत और भोजन" से लिया गया है।

दुख दूर नहीं हुआ। अरबों रुपये विदेशों से महँगे दामो पर पेट भरने के लिए अनाज मँगाने मे खर्च हो रहे हैं फिर भी समस्या हल होती दीखती नहीं। सारे राष्ट्र की कमर टूटी जा रही है। जब तक देश मे ही आवश्यक अन्न उत्पन्न नहीं कर लिया जाता, देश का अपार धन विदेशो की भेंट हुए विना न रहेगा और हमारे जीवन के लाले पडे ही रहेंगे। सरकार का कहना है कि शीघ्र वह विदेशी अनाज की आवश्यकता से मुक्त हो जायेगी परन्तु उसी सरकार का यह भी कहना है कि हिन्दुस्तान की आवादी वे-लगाम बढती जा रही है—फिर भला कैसे भरोसा हो कि विदेशी अन्न की आवश्यकता से हमे स्थायी रूप से मुक्ति मिल सकेगी। हमारे सामने यह सारे प्रश्नो का एक महा प्रश्न है जिसे स्थायी रूप से हल करना है। जब तक हमारे भोजन का सवाल हल नहीं होता हमे सुख और शाति मिल ही नहीं सकती, एक दिन हम वर्ग युद्ध और गृह युद्ध से बढ़ते-बढ़ते विश्व युद्ध के ववण्डर मे फँस कर अस्तित्व-हीन हो जायेंगे।

भोजन : मनुष्य का एक महा प्रश्न

१३६. वस्तुतः यह जीवन का मूल प्रश्न है, सारी उन्नति और उत्थान की एक बुनियादी शर्त है। जिस देश को, जिस राष्ट्र को, पेट भर भोजन की ही निश्चिन्तता न प्राप्त हो, वहाँ आजादी का मतलब भी क्या हो सकता है? इसके अलावा किसी तरह पेट भर लेना ही तो हमारा अभीष्ट नहीं हो सकता। भोजन हो, पेट भर हो, और फिर वह स्वस्थकर हो, शातिपूर्वक, स्थायी और स्वावलम्बी रूप से उसके मिलते रहने की व्यवस्था हो—तभी देश सुखी और समृद्ध हो सकेगा, उसका विकास निश्चित गति को प्राप्त हो सकेगा। जहाँ भोजन की समुचित व्यवस्था नहीं, वहाँ हृष्ट-पुष्ट और मेधावी लोगो का अभाव ही रहेगा और ऐसा स्वत्वहीन राष्ट्र सभ्यता की परम्परा को भी सुरक्षित नहीं रख सकता, सभ्यता की दौड मे वह टिक नहीं सकता, बहुत दूर जा नहीं सकता, राष्ट्रो की श्रेणी मे खडा नहीं हो सकता,—वह निरीह और दुर्बल प्राणियो का एक झुण्डमात्र होगा, जिसे जो जहाँ चाहे दबा देने की कोशिश करेगा।

सारी उन्नति की एक बुनियादी शर्त

१३७. भारत सरकार का दावा है कि '५२ ई० तक वह विदेशी

अन्न की आवश्यकता से मुक्त हो जायगी। अव्वल तो व्यावहारिक दृष्टि से यह दावा गलत है क्योकि जिस जनसख्या के हिसाव से दावा पेश किया जा रहा है, वढ़ती हुई आवादी की संख्या उस हिसाव से वढ़ जाने पर मुँह-ताजी और मुक्ति की नयी समस्या खडी हो जायगी। इसलिए सरकारी दावो से विलकुल स्वतत्र, उत्पादन की एक ऐसी स्थायी और स्वावलम्वी व्यवस्था करनी होगी जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वय समर्थ हो, उसे सरकारी राशन कार्डो पर सडे-गले, आधे पेट, अनुपयुक्त दानो की खोज न करनी पड़े। दूसरी वात यह है कि भोजन के प्रश्न पर विदेशो से जो मुक्ति प्राप्त करने का सरकारी दावा है वह कहाँ तक ठीक है, किस मानी मे ठीक है, इस पर भी विचार करना होगा। क्या इस दावे मे शुद्ध, स्वस्थकर, और सतुलित भोजन की पर्याप्त व्यवस्था है या किसी न किसी प्रकार पेट भर लेने का सवाल है।

स्वस्थ, स्वतन्त्र एवं स्वावलवी खाद्य नीति की आवश्यकता

आज हमे राशन मे २½ सेर के भाव से गेहूँ मिलता है। उसमे पाव-सवा-पाव तक कूडा-करकट मिला हुआ होता है। गेहूँ भी सड़ा-गला और घुना हुआ होता है। क्या इसी प्रकार, इसी हिसाव से हम विदेशी अन्न से मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं?

१३८. वस्तुस्थिति तो यह है कि इस समय जितना मन या टन अन्न वाहर से आ रहा है, उतना ही भारत मे पैदा या प्राप्त कर लेने की कल्पना मात्र ही सरकारी योजना का स्वरूप है। तो क्या इस समय जो हमारी खाद्यस्थिति है वह संतोषजनक है? हर्गिज नहीं। इसलिए वजन के वजाय संतुलन के आधार पर, और आयात के आँकडो के वजाय वृद्धिमान जनसख्या के आधार पर जव तक योजना नही वनती, समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना सरकार के लिए सर्वथा असम्भव ही होगा।

समाधान का सच्चा आधार

१३९. सुख और सभ्यता की दृष्टि से ही नहीं, युद्ध और सघर्ष के लिए भी भोजन का प्रश्न एक निर्णायक महत्त्व रखता है। जो लोग भूखो मर रहे हो वे लड़ नहीं सकते। अकाल पीड़ित देश कभी मजवूत सेनाएँ खड़ी नहीं कर सकता। जहाँ लोगो को पूर्ण और समुचित रूप से स्वस्थकर

युद्ध में भोजन का निर्णायक महत्त्व

भोजन प्राप्त नहीं होता वे न तो संघर्षशील योद्धा बन सकते हैं और न विजय श्री का सुख भोग सकते हैं। आज तो सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिए राष्ट्र की भोजन व्यवस्था को सब से पहले सुनिश्चित बनाना पड़ता। आज यदि इङ्गलैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया हिन्दुस्तान को अन्न देना बन्द कर दें और यदि पाकिस्तान, चीन और बर्मा के रास्ते बन्द हो जायें तो हिन्दुस्तान की क्या दशा होगी ?

इतना ही नहीं, आज की रणनीति (स्ट्रेटजी) और युद्ध रेखाएँ भोजन के आधार पर बनती और चलती हैं। गत दो महायुद्धों के अध्ययन से भोजन के दिलचस्प और महत्त्वपूर्ण चित्र सामने आयेंगे। १९१४-१९ ई० के युद्ध में भोजन के ही प्रश्न पर जर्मनी की हार हुई। १९३९-४५ ई० के युद्ध में हिटलर ने पहले आस्ट्रिया और जेकोस्लावाकिया को क्यों लिया, उसने पहले पश्चिम में आक्रमण न करके पोलैण्ड को निशाना क्यों बनाया, युद्ध को जल्द से जल्द जीत लेने के लिए भयंकर "गोतामार-बम्बाजों" (डाइव बाम्बर्स) के आविष्कार की उत्कट आवश्यकता का जर्मनी में क्योंकर अनुभव किया गया, असख्य युद्ध बन्दियों का आनन-फानन निर्दयतापूर्वक अन्त कर देने की पाशविक लीलाएँ क्योंकर अमल में लायी गयीं—इन सब के पीछे खाद्य-समस्याओं की स्पष्ट रेखा दृष्टि-गत होती है।

सर्वाङ्गीण दृष्टि की आवश्यकता

१४०. सच तो यह है कि यदि भारत को जीवित और स्वतन्त्र रहना है, यदि इसे स्वतन्त्रतापूर्वक संसार में आगे बढ़ाना है तो सब से पहले भोजन के प्रश्न को हल करना होगा। यह जनता और सरकार—दोनों की पहली जिम्मेदारी है। यह राष्ट्र निर्माण का श्रेष्ठतम अंग है, व्यावहारिक राजनीति का पहला सवाल है, समाज सेवा का एक पुनीत पर्व और व्यक्ति की ऐहिक सफलता की एक महत्त्वपूर्ण मञ्जिल है। इसलिए जब तक हम व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और फिर सारे ससार को नजर में रखते हुए भोजन के प्रश्न को सर्वाङ्गीण दृष्टि से हल करने की चेष्टा नहीं करेंगे, नतीजा केवल शून्य रहेगा।

(२)

१४१. आज ससार की जो समाज व्यवस्था चल रही है, उसमें

सरकारो को निर्णायक स्थान प्राप्त है। इसलिए, जब तक उसे बदल कर विकेन्द्रित आधार पर न खड़ा कर दिया जाये, हमारी खाद्य-समस्याओ का बहुताश सरकारी नीति और नियम, सरकार की योजनाओ और कार्य्यवाहियों पर बहुत कुछ निर्भर करेगा। निम्नलिखित पक्तियो से बात सरलतापूर्वक समझ मे आ जायेगी।

खाद्य समस्या में सरकार का निर्णायक स्थान

१४२. अन्न के उत्पादन मे सिचाई का बहुत बडा स्थान है। हमारी केन्द्रीय और प्रातीय सरकारें करोड़ो, अरबो रुपये की लम्बी-लम्बी योजनाओ मे फँसी हुई हैं। कल्पना यह है कि एक दिन सारे देश मे इनके द्वारा फल, फूल, अनाज के हरे-भरे लहलहाते हुए बाग और दूध, घी, मक्खन तथा शहद की नदियॉ बहने लगेंगी। इन भले आदमियो की समझ मे नहीं आता कि भविष्य के सपनो से वर्तमान की उत्पीडाओ को दूर करना अधिक आवश्यक है। इन योजनाओ की आवश्यकता नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु इसके भी पहले गाँवो को सिचाई के स्थायी कुओ से भर देना चाहिये ताकि लोग भविष्य की आशा मे भूख और रोग के शिकार न हो। इस काम मे सरकारो को जनता की पूरी मदद मिलेगी— उसे बहिष्कृत समुदाय के समान जनता से अलग, केवल अपनी अपर्याप्त केन्द्रीय निधि का मुँह नहीं देखना होगा। दामोदर बाँध को तो सरकार धीरे-धीरे चलाती ही रहे, परन्तु आवश्यक है कि छोटे-मोटे नदी-नालो को वह जनता की मदद से ही बॉध कर काम को चालू रखे और जनता को सपनो की अनिश्चितता से मुक्त रखे। कुओ और नालो के सम्बन्ध मे स्थानीय साधनो का ही प्रमुख आधार होना चाहिये, विदेशी मशीनो का नहीं, वरना गाड़ी यहाँ भी दलदल मे ही फॅसी रहेगी। ट्रैक्टरो का प्रयोग भी इसी सिद्धान्त पर करना है।

सिंचाई और ट्रैक्टर

दामोदर बॉध से न तो भारत भर के प्रत्येक गॉव सींचे जायेंगे और न ट्रैक्टरो से हर घर की खेती होगी। हमे तो वर्तमान साधनो को ही सुधार कर काम लेना है।

१४३. सबसे बड़ी बात तो यह है कि राष्ट्र के इस गुरुतर प्रश्न पर सरकार की दृष्टि साफ़ होनी चाहिये। सरकार की नजर साफ न होने

के कारण ही आज भारत आजाद होकर भी विनाश के गढे मे फँसता जा रहा है। आज देश मे मिल की चीनी पर बडा जोर दिया जा रहा है क्योंकि शीशे के मर्तबानो मे सफेद दानो का इस्तेमाल सरल और सुन्दर लगता है। सरकार की बहुत बडी शक्ति और बहुत बडी मदद इन मिलों के पीछे है और नतीजा यह है कि किसानो का एक बहुत बड़ा अश मिलो के घृणित गुलाम के रूप मे अवशेष रह गया है। लाखो-करोडो एकड भूमि गन्ने की खेती मे फँसा दी गयी है और देश को पाकिस्तान, अमेरिका, और आस्ट्रेलिया के गेहूँ के लिए अनाथो के समान मुँह देखना पड़ रहा है। प० जवाहरलाल को अमेरिका जाकर गेहूँ की भीख माँगनी पडती है।

सरकार के दृष्टि-दोष का कुफल

१४४. इससे भी चितनीय दशा वनस्पति घी की है। वनस्पति घी मूँगफली का रासायनिक प्रक्रियाओ द्वारा जमाया हुआ ऐसा तेल है जिससे प्राणी की पाचन और जनन शक्ति नष्ट हो जाती है। सैकडो रोगो की सृष्टि होती है। मनुष्य नामर्द हो जाता है। और इसी जहरीले तेल के लिए सन् ४८ ई० मे २१ लाख एकड भूमि मे मूँगफली की पैदावार हो रही थी। (इस मात्रा मे कमी नहीं, वृद्धि ही हुई है)। इतनी जमीन से १०॥ लाख परिवारो का आसानी से भरण-पोषण हो सकता है जो (वनस्पति की मिलो को कायम रखने के लिए) अन्न के लिए दूसरो के मुँहताज बना दिये जाते हैं। कहा जायगा कि जनता स्वयं मूँगफली पैदा करती है, परन्तु सरकारी दबाव और पूँजीवादी प्रलोभनों का हटा कर जनता को सच्चे रास्ते पर चलने की सुविधाएँ मिलने के बाद ही शायद यह सवाल हो सकता है। उसके पहले नहीं। फिर आखिर उस सरकार का मतलब ही क्या जो गरीब जनता के स्वार्थ को न देख कर मिल मालिको की पूँजी की रक्षा के लिए जनता को धोखे मे रखे, जनता पर दबाव डाले?

वनस्पति घी

आज देश मे ७३०००८० एकड से भी अधिक भूमि मे गन्ना, चाय, नील, जूट आदि व्यावसायिक चीजो की उपज की जा रही है। जब तक इसमे कमी करके इसे अन्नोपयोगी नहीं बनाया जाता भारत की खाद्य समस्या कोरे अमेरिकी ट्रैक्टरो और रासायनिक खादों के भरोसे हल होने के बजाय बिगड़ती जायगी।

वनस्पति घी की मिलो के कारण देश की, स्वास्थ्य के अतिरिक्त, आर्थिक दृष्टि से भी भयकर क्षति हो रही है। आर्थिक क्षति का मतलब ही यह है कि हम दीन और दुर्बल हो रहे हैं। यानी हम ऊँचे दर्जे के पौष्टिक भोजन प्राप्त करने के सामर्थ्य से वञ्चित कर दिये जाते हैं। वनस्पति की मिलो के आँकड़ो पर विचार कीजिये—"इस समय २२½ करोड़ की पूँजी इसमे लगी हुई है। १५००० मजदूर काम करते हैं। इन मिलों से जो दूपित चीज तैयार होती है, यदि उसे चिकना मान भी लिया जाये तो भी देश की जरूरत पूरी नहीं होती। २२½ करोड मे कम से कम ६ लाख घानियाँ चालू की जा सकती हैं। और कम से कम ६००००० आदमी और ६००००० वैलों को पूरी जीविका मिल सकती है, जब कि मिलो से कुल १५००० आदमियो को काम मिलता है, भोजन तो किसी को नहीं। सारे देश को पूरा शुद्ध तेल जितना चाहिये उससे वहुत अधिक इन घानियों के द्वारा पैदा होगा। तेल का वह आधिक्य तथा घानियो से मिली हुई खली जो वनस्पति की मिलो मे वर्वाद हो गयी है, हमारे धन के आधिक्य मे प्राप्त होगी।" इस प्रकार हम देख सकते हैं कि वनस्पति मिलो की वर्तमान नीति यानी खाद्य तेलो से वनस्पति तैयार करने की नीति से भयंकर खाद्य एवं आर्थिक हानि हो रही है। यदि ये मिलें खाद्य तेलो के वजाय किसी अखाद्य तेलहन से वनस्पति तैयार करें तो न मिलो को तोड़ने का प्रश्न होगा, न सरकारी आय पर धक्का आयेगा। यह वनस्पति खाने के नहीं, रवड़ और साबुन की तैयारी मे काम आयेगा (उपर्युक्त आँकड़े 'हरिजन' से लिये गये हैं)।

इसी प्रसंग मे यह भी समझ लेने की जरूरत है कि वनस्पति के उद्योग ने देश की सम्पन्नता को बहुत वड़ा धक्का दिया है। 'हरिजन' मे श्री झवेरचन्द माणकलाल ने मध्य प्रदेश का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वनस्पति की मिलो के पहले वहाँ प्रति वर्ष १० लाख गाँठ कपास और ५५ लाख वोरे बिनौले पैदा होते थे और साथ ही गेहूँ, जुआर, तुअर आदि प्रात की जरूरत से ज्यादा पैदा होता था और दूसरे प्रातो मे स्वतन्त्रता-पूर्वक भेजा जाता था। वनस्पति के कारखानो के वाद कपास कुल ३ लाख गाँठ और बिनौला कुल १५ लाख वोरे होता है। अन्न तो इतना कम हो गया है कि प्रात के खाने भर को ही नहीं होता। भारत मे वनस्पति के कारखाने खुलने के वाद से अन्न और कपास की जमीन की जगह मूँगफ़ली ने ले लिया है।

आज देश की स्थिति यह है कि चारो ओर से भुखमरी और अकाल मृत्यु की भयावनी आवाजें उठने लगी हैं। विहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश तथा सम्पूर्ण दक्षिण भारत की स्थिति खतरनाक होती जा रही है। क्या इसका निराकरण केवल सरकारी घोषणाओ से ही हो जायेगा? हर्गिज नहीं। वड़े-वड़े भाषण, वडे-वड़े आश्वासन, या ससद मे कानून पास कर देने से खाली देश मे अन्न की वखारें नहीं खडी हो जायेंगी। इसके लिए तो राष्ट्र और सरकार को अपनी कृषि और औद्योगिक उत्पादन की नीति साफ और ठीक करनी होगी वरना वडे-वडे नेताओं, वडी-वडी योजनाओ के वावजूद भी अकालो से देश को मुक्ति नहीं मिल सकती।

१४५.—अमेरिका और युरोप की चमक-दमक को देखकर हमारे नेता और शासको के दिमाग मे खब्त सवार हो गया है कि हिन्दुस्तान मे भी सारा काम कल-कारखानो से हो। यहाँ तक कि धान की भूसी भी मिलो मे छुडायी जाने लगी है। परिणामतः गाँव-गाँव मे चावल की मिलें खडी होती जा रही हैं और इसे औद्योगिक प्रगति वताकर सरकारें मदद भी कर रही हैं। परन्तु असलियत यह है कि मिलों के चावल का सारा भोजन तत्त्व नष्ट हो जाता है। इसका सीधा सा मतलव यह है कि जिस अश मे यह तत्त्व नष्ट होता है ठीक उतनी ही देश के अन्न के परिमाण मे कमी हो जाती है। कहा जाता है कि देश मे जितने अन्न की जरूरत है उससे १० प्रतिशत कम भारत मे होता है। इसलिए यदि चावल की मिलें वन्द कर दी जायें तो भारत के भोजन की वहुत वडी समस्या अपने आप हल हो जायेगी।

चावल की मिलें

मिल के चावल से देश मे 'वेरी-वेरी' का संक्रामक रोग कितने जोरो से फैल रहा है—यह दूसरी वात है और इस अग पर हम फिर विचार करेंगे। कहने का मतलव यह है कि हमारे भोजन की समस्याएँ हमारी अपनी ही सृष्टि हैं और सरकारी दृष्टिकोण मे परिवर्तन होने से ये सरलतापूर्वक हल हो सकती हैं।

ऐसे ही अन्य दिशाओ मे भी काम हो रहा है। जव तक इस कार्य पद्धति मे परिवर्तन न होगा, वात सरकार के लिए शुद्ध धोखादेही और जनता के लिए आत्महत्या से किसी अंश मे कम नहीं समझी जा सकती।

१४६. कार्य पद्धति मे परिवर्तन हो नहीं सकता जब तक जनता को स्वयं इस दिशा मे कदम उठाने का मौका न दिया जायेगा। जब तक दिल्ली की भव्य अट्टालिकाओ से जनता को उठने-बैठने का कानून बनता रहेगा जनता कुछ कर न सकेगी। वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि सबल और समर्थ ग्राम पंचायतो का निर्माण किया जाये। इन पञ्चायतो को अधिकार होना चाहिये कि वे स्थानीय साधनो के आधार और क्षेत्रस्थ परिस्थितियो के सामञ्जस्य मे उत्पादन कार्य के लिए पूर्णतः समर्थ हो। यह नहीं कि पञ्चायतें तो खड़ी कर दी जायें पर उनसे कहा जाये कि यह दिल्ली का अधिकार क्षेत्र है, यह लखनऊ का अधिकार क्षेत्र है, और तुम हमारे परमिटो को लेकर हमारी गोदामो से मिट्टी का तेल बेचो। आज की पञ्चायतें तो केन्द्रों की वितरण एजेन्सियाँ मात्र या अधिक से अधिक बहस-मुबाहसे घर और सरपचो के कुश्ती घरो के रूप मे रखी जा रही हैं। इस हालत मे क्या हम आशा कर सकते हैं कि ये पञ्चायतें देश की जटिल समस्याओ को हल कर सकेंगी ? हरगिज़ नहीं।

समर्थ ग्राम पञ्चायतों की आवश्यकता

१४७. कन्ट्रोल को चलाने के लिए सरकार को लोगो के फाजिल अन्न की आवश्यकता है। यह अन्न पञ्चायतो के माध्यम से ही वसूल होना चाहिये। नियम यह हो कि लोग अपना सारा फाज़िल अन्न पञ्चायती गोदामो में जमा कर दें। वहाँ से गाँवो के लिए पञ्चायतो के पास २५% छोड कर शेष सरकार के काम आना चाहिये। इसके लिए पञ्चायतो के आधीन सरकारो को वैज्ञानिक ढग की गोदामे बनवा देनी चाहिये। चाहे तो सरकारी भाग पर सरकारी ताले लगा दिये जायें, परन्तु यह नहीं कि गाँव-गाँव से, व्यक्ति-व्यक्ति से भयकर खर्चीली व्यवस्था के द्वारा अन्न को केन्द्रो मे बटोरा जाये, कुछ रेल और कुछ सरकारी गोदामों मे बरबाद किया जाये, और फिर बचे बचाये, सड़े-गले अन्न को सरकारी कार्डों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के पास उलटे पहुँचाया जाये।

कन्ट्रोल

क्या इसी तरह हम देश की खाद्य समस्याओ को हल करने का दावा करते हैं ? अच्छा है कि हम जल्द सावधान हो जायें वरना बुरी तरह पछतायेंगे।

(३)

१४८, जीवन की आवश्यक वस्तुओं में सबसे पहले उपयोगिता (युटिलिटी वैल्यू) की दृष्टि होनी चाहिये, न कि रुपये की (मनी वैल्यू)। एक भूखे आदमी के हाथ से रोटियाँ छीन कर सोने की सिल पकड़ा देना हितकर नहीं, अहितकर है—भारी अनर्थ (वैड एकानामी) है। इसलिए पहले हमें यह देखना चाहिये कि किसान जो अन्न पैदा करता है उसका उसे पूरा लाभ मिले—इस अन्नदाता को, इसके परिवार और बाल-बच्चो को पहले पेट भर, स्वस्थकर और समुचित ढग से भोजन की सुनिश्चित और स्थायी व्यवस्था होनी चाहिये।

उपयोगिता या रुपये की दृष्टि

१४९, आज हमारी सरकारें और सरकारी कर्मचारी कहते हैं कि किसानो को उनके अन्न की ऊँची से ऊँची कीमतें दी जा रही हैं। यह सरासर धोखादेही है। पेट का अन्न लेकर करेन्सी नोट पकडा देने से क्षुधा निवारण नहीं हो सकता। करेन्सी नोट लेकर अन्न देनेवाले इन्हीं किसानों को फिर दाने-दाने के लिए परेशान होना पडता है। इसलिए सरकारो का परम कर्तव्य है इन भोले-भाले किसानो मे करेन्सी नोटो का चस्का पैदा करके उनकी जीवन दृष्टि को नष्ट न करें। कहा जाता है कि अनाज का दाम चढ जाने से आज का किसान खुशहाल हो गया है। वेशक, वह खुशहाल इस मानी मे जरूर है कि अब वह दूध, दही, घी और गेहूँ के बजाय सरकारी सिक्को के बल पर हमाम सोप, होठो का रग, शहरो मे सिनेमा, मिल का मलमल, पेरिस के लेवेण्डर—न जाने क्या-क्या इस्तेमाल कर सकता है।

अन्न का ऊँचा दाम

१५०, इस परिस्थिति मे परिवर्तन किये बगैर भोजन की समस्या हल नहीं हो सकती। इस काम के लिए सरकार को सबसे पहले व्यक्तिगत आधार पर अन्न की खरीद और गल्ला वसूली की नीति को तुरत रोक देना चाहिये। जैसे भी उचित और सम्भव हो किसानों का सारा फाजिल अन्न ग्राम पञ्चायतो में जमा करवा देना चाहिये। सरकार अपने लिए वहीं से अन्न प्राप्त करे और किसानो को उनके अन्न के बदले करेन्सी नोट नहीं, पञ्चायतो के माध्यम

गल्ला वसूली, व्यक्तिगत नहीं : पचायतों द्वारा हो

से जीवन की आवश्यकताएँ प्राप्त होनी चाहियें। इन पञ्चायतो को सहकारिता, सरकारी महाजनी तथा कानूनी कार्य्यवाहियो की पूर्ण क्षमता और पूर्ण सामर्थ्य होना चाहिये। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को प्रत्येक शासकीय और वैधानिक उद्देश्यो के लिए इन पञ्चायतो को ही प्रारम्भिक एवं आधारभूत इकाई बनाना अनिवार्यत आवश्यक है। आज गाँव और नगर की जनता हतबुद्धि-सी खड़ी है—सडक पर पेशाब करने के लिए जुर्माना नगरपालिका करती है। सड़क पर मोटर चलाने का कर केन्द्रीय कानूनो के अन्तर्गत चलता है। गाँवो मे चक्की चलाने का कार्य और कर जिला बोर्ड के क़ानूनो से चलता है। शालाएँ प्रान्तीय सरकार और सरकारी संस्थाओ की अलग-अलग व्यवस्था और कानून के अन्तर्गत हैं। ऐसी दशा मे बेचारा सीधा-सादा नागरिक समझ भी नहीं पाता कि उसे क्या और कैसे करना है। भोजन की समस्या को एक सफल योजना के अन्तर्गत सुसगठित रूप से चलाने के लिए इस गोरखधन्धे को तुरत बन्द करके सबल पञ्चायतो का आधार ग्रहण करना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

१५१. भोजन की समस्या भूमि पर ही निर्भर करती है, इसलिए धरती को उपजाऊ बनाना पहली आवश्यकता है। भारत मे खेती हजारों वर्ष से होती आयी है, इसलिए पुरानी जमीनो की उपज शक्ति क्षीण हो चली है। इसे फौरन सँभालना है, इस सबंध में रासायनिक खादों का प्रचार किया जा रहा है। यह अत्यन्त घातक बात है। रासायनिक खादो से धरती एक-दो वर्ष तक बहुत उपज देती है परन्तु इसी बीच उसके पेट की सारी उत्पादक शक्ति बाहर निकल आती है और फिर वह बञ्जर से भी बदतर हो जाती है। अमेरिका जैसे विशाल देशो में जहाँ बड़े-बड़े चको के आधार पर खेती होती है, वहाँ कुछ हिस्से मे खेती और कुछ को परती छोड़ कर अदल-बदल की नीति के द्वारा दोष को बहुत कुछ मिटाने की चेष्टा भी होती है, परन्तु भारत मे तो लोगो के पास इतने छोटे-छोटे टुकडे हैं कि पूरी जमीन पर पूरी पैदावार करके भी पूरा नहीं पड़ रहा है, फिर परती छोड़ने पर क्या होगा? अमेरिका मे एक बात और है—जमीन के खराब हिस्सो को छोड़ कर नयी जमीनें तोड़ ली जाती हैं, परन्तु अब तो भारत में मिलो की बढ़ती के साथ जमीन को परती छोडते जाने की यह सुविधा भी खतम होती जा रही है। इसलिए यहाँ रासायनिक खादो के उपयोग से सोने का

धरती की उपज शक्ति; रासायनिक खाद या कम्पोस्ट?

अण्डा देनेवाली मुर्गी का पेट चीर देने के समान होगा। यहाँ तो 'कम्पोस्ट' खादो का उपयोग करने से ही समस्या हल हो सकती है।

१५२. रासायनिक खादो के बारे मे डा० गागुली लिखते हैं—"इसके द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न मे पोषक तत्वो का बिल्कुल अभाव रहता है" (हेल्थ और न्युट्रीशन, पृष्ठ २८३)। वहीं

रासायनिक खाद

डा० केरल के मत का इस प्रकार उद्धरण किया गया है—"रासायनिक खादो के द्वारा फसल तो बढ़ गयी है, परन्तु जमीन का सत् समाप्त हो जाने से अन्न और सागो के पोषक तत्व भी बदल गये हैं।"

इस तरह उपर्युक्त पुस्तक मे डाक्टर गागुली ने कृषि विज्ञान विशारदों के अनुसधान और प्रयोगो के प्रमाण से स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक खाद अत्यंत दूषित चीज है। इसका सीधा-सादा अर्थ यही होता है कि रासायनिक खादो के प्रयोग से भारत की खाद्य समस्या सुधरने के बजाय विगडती जा रही है। भारत सरकार के एक भूतपूर्व कृषि विशारद अधिकारी ने तो रासायनिक खाद के प्रयोग को अत्यंत विनाशक और जुर्म बताया हे (हिन्दू, १७.११.४६)।

१५३. एक बात हम बडी चिंता से देख रहे हैं—यह है सिंचाई के लिए 'नलके' (बोरिंग) कुवो की बात। नलको को फटपट जमीन मे धँसा कर चटपट पानी निकाल लेने मे बड़ी आसानी

'नल-कूप'

मालूम होती है। परन्तु इनके कारण इनके आस-पास पृथ्वी का पानी उतने ही नीचे चला जाता है जितने गहरे ये नलके जमीन मे घुसे होते हैं। नतीजा यह होता है कि पानी दूर हो जाने से पृथ्वी के ऊपर के पेड़-पौधे पानी के अभाव में सूखने लगते हैं। पेडो मे हरियाली और फलो का अभाव प्रचण्ड होता जा रहा है—इसके पीछे इस 'सब स्वायल' पानी की भी एक कहानी है। फलो का ही अभाव नहीं, पृथ्वी के वृक्ष-हीन होने से उसकी उपज भी मारी जाती है। भारत के भोजन की समस्या और पृथ्वी को उपजाऊ बनाने के प्रश्न को हल करने के लिए सरकार को यहाँ दृढता और साव-धानी से काम लेना चाहिये।

उत्तर प्रदेशीय सरकार ने गाँवो मे नल-कूपो की पंचवर्षीय योजना बनाई है। कुछ कुवें बन चुके हैं। एक कुवें पर २००००) के लगभग लगते

हैं; एक कुवें से सरकारी कानूनों की पेचीदा परेशानियो के साथ कई गाँव की सिचाई होती है। अब तक अनुभव यही रहा है कि इन नल-कूपो से गाँव वालो को सन्तोप नहीं है। कुछ तो मौलिक दोप हैं, कुछ सरकारी नियंत्रण आदि के कारण हैं। इन सब को मिला कर यही कहते बनता है कि नल-कूपो से गाँव की सिंचाई के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके ही इसे अमल मे लाना है। जो आपत्ति ट्रैक्टरों के विरुद्व है, वही नल-कूपो के विरुद्ध भी है क्योकि इन नल-कूपो से गाँव के आदमी और बैल, दोनो बेकार होते हैं। गोरक्षा भारतीय सस्कृति का आधारभूत अंग है। इन नल-कूपो से उस पर गहरा धक्का लगता है। वस्तुतः, भारत के उन गाँवो मे जहाँ जमीन पथरीली नहीं और कुवें खोदे जा सकते हैं, अच्छे कुवो की ही व्यापक रूप से व्यवस्था होनी चाहिये।

गो रक्षा

१५४. भारत मे जमीन के बँटवारे की जो स्थिति है जब तक वह पूर्णतः बदल कर चकबन्दी आधार पर खडी नहीं कर दी जाती जमीन को जोतने-बोने मे हल-बैल का खास स्थान रहेगा, ट्रैक्टरों का नहीं। आज तो जहाँ ट्रैक्टरो की जरूरत है, वहाँ के लिए भी ट्रैक्टर उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। भारत सरकार की सारी शक्ति के बावजूद भी कुछ सैकड़े ही ट्रैक्टर अब तक विदेशो से आ सके हैं। इसलिए, बैलो के लिए और घी-दूध तथा मक्खन के लिए भी गायो की सख्त जरूरत है। अतः जनता को गो सेवा और गो पालन, तथा सरकार को गोवध निपेध का तुरन्त प्रबन्ध करना चाहिये। गाय भारतीय संस्कृति का आधारभूत अंग है। इसे मिटाने से भारतीय सभ्यता ही मिट जायेगी।

अन्न की समस्या के लिए गाय की समस्या

१५५. देश मे यदि दूध, मक्खन और घी की पर्याप्त व्यवस्था हो तो अन्न की खपत मे कमी हो जाये। अतः अन्न के प्रश्न को हल करने के लिए गाय के प्रश्न को हल कर लेना तात्कालिक महत्त्व रखता है।

ट्रैक्टर

१५६, आज देश में ट्रैक्टर का शोर मच रहा है। इस शोर-गुल और इसके पीछे छिपे हुए रहस्य को भी गौर से समझ लेना चाहिये।

अव्वल तो भारत के वर्तमान भौमिक बँटवारे को ध्यान मे रखते हुए, जैसा कि ऊपर कहा गया है, ट्रैक्टरों का प्रश्न उठता ही नहीं। यदि यह सम्भव भी बनाया जा सके तो सवाल होता है दूध और घी का। आप

खेती करेंगे ट्रैक्टर से तो बैलो की आपको जरूरत रहेगी नहीं। गाय के बच्चे नर और मादा—दोनो होते हैं। मादा को तो आप गाय बनाने के लिए रखना चाहेंगे परन्तु नर को मजबूरन मार खाना होगा या चमडे के लिए जबह कर देना होगा। इस तरह भारत की गो रक्षा और गो सेवा समाप्त होकर गो-रक्षक देश गो-भक्षक ही नहीं बनेगा, बल्कि भारत का सारा आर्थिक ढाँचा ही उलट-पुलट जायेगा।

धीरे-धीरे गाय पालना भी कठिन हो जायेगा, क्योकि गाय के लिए साँड की समस्या व्यक्ति के हाथ से निकल कर समूह और केन्द्र के हाथ मे पहुँच जायेगी। और अन्त मे इसका विस्तार इस प्रकार होगा कि प्रत्येक गाय के लिए दुरुह साधनों से एक साँड लाने के बजाय पिचकारी से गो वंश को जारी रखना अनिवार्य हो जायेगा।

परन्तु इससे भी भयकर बात तो यह होगी कि ट्रैक्टर को एक बार स्थान दे देने से उसके लिए पूरी जमीन देनी पड़ेगी, यानी लोगों को अपनी अलग-अलग जमीनें एकत्र कर देनी पडेंगी और लोगो का स्वतन्त्र, चेतन, स्वामित्व खतम होकर जडवादी सामूहिकता मे विलीन हो जायेगा। मतलब यह कि ट्रैक्टर को अपनाने का सीधा सा अर्थ है समूहवाद यानी कम्युनिज्म को आमत्रण देना।

इसलिए यदि भारत की खाद्य समस्या को हल करना है तो ट्रैक्टरों के धोखे मे हर्गिज नहीं आना चाहिये। यह विलायत के उद्योगपतियो का नाग-फाँस है जो आपको भाड मे झोक कर भी अपनी मशीनें बेंचना चाहते हैं।

उसी तरह धरती को उपजाऊ स्थिति मे सुरक्षित रखने के लिए जगलो की जरूरत है। गायों के लिए चरागाह की जरूरत है—ये सब सार्वजनिक की अपेक्षा सरकारी प्रश्न अधिक हैं और इसीलिए यदि सरकार सचमुच भोजन की समस्या को हल करना चाहती है तो उसे फौरन जनता के सहयोग और जनता की सहायता से इन्हें हल कर लेना चाहिये।

भला इसी में है कि झूठी धारणाओं को छोड़कर फौरन काम में लग जाया जाये।

(४)

१५७. अब प्रश्न यह उठता है कि भोजन की समस्या में आदमी का स्थान कहाँ है।

यह तो स्पष्ट है कि धरती से अन्न उत्पन्न करने के लिए, विशेषतः भारत की वर्तमान स्थिति मे, मनुष्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु दुख की बात यह है कि सरकार की सैनिक और शिक्षण नीति आदमी को खेती से निकाल कर दूर फेंक दे रही है। संसार की अन्य सरकारो के समान ही भारत सरकार भी सेना और शिक्षण शालाओ का विस्तार करती जा रही है

सैन्य और शिक्षण नीति

यानी दिन-प्रति-दिन अधिक से अधिक आदमी खेती छोड कर अनुत्पादक होते जा रहे हैं। चूॅकि सैनिक वर्ग अधिकांशतः गॉवो से ही आता है इसलिए जितने सैनिक बढ़ रहे हैं, उतने ही लोग अन्न के उत्पादन से खींच लिये जा रहे हैं, यानी अन्न के उत्पादन मे उतनी ही कमी होती जा रही है। शिक्षा प्रणाली भी पढ़े-लिखे बेकारो की संख्या मे दिन दूनी, रात चौगुनी वृद्धि कर रही है। इसलिए सेना और शिक्षा, इन दोनों प्रश्नो पर फिर से विचार करना है। यदि सेनाऍ रखी ही जायें तो उन्हे पक्की बारिको मे बेकार बन्द कर रखने के बजाय ग्रामीण क्षेत्रो मे रखना बेहतर होगा ताकि जब तक वे मोर्चे पर न जायें, खेती मे मदद करती रहे। इससे अन्न का उत्पादन बढ़ जायेगा और सरकार को भी काफी आर्थिक मदद मिलेगी। सैनिक स्वयं तो अनुत्पादक हो ही जाते हैं, उनके भोजन के लिए दूसरो को अन्न उत्पन्न करना पडता है। यह दुहरा बोझ है।

खेती और बाबू वर्ग

आज की शिक्षा शुद्ध बौद्धिक शिक्षा है। जो पढ-लिख लेता है वह अपना काम दूसरों से लेने लगता है। इस तरह भी खेती किसानी से बहुत बडी जन शक्ति शून्य हुई जा रही है। गॉव के लडके पढ़कर शहरो मे झक मार रहे हैं और गॉव से जन-बल और बुद्धि-बल दोनो गायब होता जा रहा है। इस तरह कृषि और ग्रामोद्योग, सब खतम हो रहे हैं। ग्रामोद्योग से ही कृषि और कृषि से ग्रामोद्योग चलते हैं। इन्हे चलाने-वाले ही शहर और दफ्तरो मे गायब हो रहे हैं तो फिर भला भोजन की समस्या कौन हल करेगा? भोजन की समस्या बौद्धिक योजनाओं से नहीं, व्यावहारिक कार्य्यवाहियो से ही हल होगी। परन्तु काम करने-वाले प्रोफेसर, आचार्य, वक्ता और बाबू बन रहे हैं, फिर खेती कौन करे? खेती को सुधारे और बढ़ाये कौन?

इतना ही नहीं। चूॅकि आज की शिक्षा किताबी है, इसलिए पढ़ने-

वाले यानी विद्यार्थी वर्ग, वच्चे और वडे, सभी प्रत्येक प्रकार के उत्पादन से वञ्चित रहते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि देश की अपार जन शक्ति निष्क्रिय, वल्कि विनष्ट हो रही है। स्वभावतः इसी विनाश का वहुत वडा प्रभाव कृषि और गो-पालन पर पड़ता है। अतः यदि इस घातक स्थिति को मिटाना है तो देश की शिक्षण पद्धति को गाधी जी की योजनाओ के अनुसार उत्पादक वनाना होगा, वल्कि स्वयं उत्पादकों को उत्पन्न करनेवाली वनाना होगा।

वर्तमान शिक्षा पद्धति और कृषि कार्य

पूर्ण खेती

१५८. परन्तु जव तक हम "पूर्ण खेती" नहीं करते खेतो से हमे पूर्ण लाभ नहीं मिल सकता और न उससे काफी लोगो की पूर्ति ही हो सकती है। इसीलिए उद्योगवादी कहते हैं कि भारत में हिसाव से अधिक लोग खेती मे लगे हुए हैं। इस प्रकार वे खेती से लोगो को अलग करके मिलों की मजदूरी के लिए वातावरण तैयार करना चाहते हैं। जव तक इस वात को ध्यानपूर्वक समझ कर काम नही किया जाता, अन्न का गुण और परिमाण दोनो अपूर्ण रहेगा।

पूर्ण खेती के अर्थ को अधिक स्पष्टता से समझने की जरूरत है। किसान धान, गेहूँ, और तेलहन—अनेको चीजो का उत्पादन करता है। यदि वही धान से चावल बना कर वेंचे तो यह पूर्ण खेती होगी। गेहूँ गाँव मे पैदा हो और आटा मिलो मे पीसा जाये तो वह यही नहीं कि अपूर्ण खेती होगी और समाज का स्वावलम्वन और प्राकृतिक उद्योग नष्ट होगा वल्कि गाँव का गेहूँ मिलो मे पीस कर गाँव मे आटा वाँटना, स्वास्थ्य की दृष्टि से, विप वाँटने के समान होगा। धान को कूट कर चावल तैयार करने की प्रक्रिया तक खेती की सीमा है। यदि धान गाँव मे पैदा हो, भूसी मिल मे छुडायी जाये और चावल कहीं और दूर किसी दूसरी मिल मे कूटा जाय तो धान पैदा करनेवाले किसान का काम अपूर्ण होगा और वह अपूर्ण खेती कहलायेगी। उसी प्रकार उरद, मूँग और तूर की वात है। उसी प्रकार सरसों और अलसी की वात है। गाँव में सरसो पैदा की जाय और तेल कहीं दूर दराज, किसी मिल मे तैयार हो तो यह अपूर्ण खेती होगी। गाँव मे सरसो और गाँव मे ही तेल पैदा होना चाहिए। उसी प्रकार गाँव मे ही कपास और उसकी प्रक्रिया को पूर्ण

करने के लिए गाँव मे ही वस्त्र भी तैयार होना चाहिये वरना कपास गॉव मे पैदा करके अहमदाबाद और बम्बई की मिलो मे कपड़े तैयार करना, अपूर्ण कृषि कहलायेगी। यह बिल्कुल गलत प्रक्रिया है।

परिणामतः आज जो लोग खेती मे लगे हुए हैं वे खेती पर भार बन रहे हैं क्योकि कृषि जन्य स्वाभाविक उद्योगो का मिलों मे स्थानान्तरण हो गया है। इस प्रकार ग्रामोद्योगो के मारे जाने से गाँवो की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी है। इसका निराकरण किये बगैर खाद्य समस्या का सच्चा हल प्रस्तुत करना असम्भव हो जायेगा।

१५९. इन गृह उद्योगो की सृष्टि करते समय हमे खास बात ध्यान मे यह रखने की है कि ये जापानी नमूने पर कल-कारखानो के द्वारा नहीं चलेंगे क्योकि जापान खेतिहर नहीं औद्योगिक देश है, इसलिए वहाँ के गृह-उद्योग खेती नहीं, कारखानो के प्रतिरूप और पूरक हैं। उनका आधार केन्द्रीकरण है, विकेन्द्रीकरण नहीं। वहाँ उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के लिए किया जाता है, स्व-सम्पन्नता के लिए नहीं। भारत की भोजन समस्या केन्द्रीकरण के कारण ही खतरे मे पड़ गयी है। केन्द्रीकरण का उद्देश्य मनुष्य को बेकार बना देना है। हमे मनुष्य को स्वावलम्बी और सबल इकाई मे परिणत करना है। बिना इसके कोरे केन्द्रीय कानूनो से देश की भोजन समस्या हल होगी नहीं।

गृह उद्योग—जापानी और भारतीय पद्धति

१६०. हम देख रहे हैं कि पश्चिमी जड़वाद के चक्कर मे पड़कर भारतीय विद्वानो की भी बुद्धि उलट गयी है। कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की आबादी बढ़ रही है। आबादी बढ़ रही है यानी अन्न की आवश्यकता बढ़ रही है। इसके इलाज के लिए उतना ही अधिक अन्न उत्पन्न करने के बजाय गर्भपात और भ्रूण हत्या को समाज धर्म और सरकारी कानून बनाया जा रहा है। गर्भ पात के रास्ते चलनेवाला देश दुर्बल और पतित लोगो का ही झुण्ड हो सकता है जिसे दूसरो की लाठी पर ही चलना होगा।

वृद्धमान जनसंख्या और अन्नोत्पादन

१६१. इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि बढ़ती हुई आबादी

के लिए अधिकाधिक अन्न उत्पन्न करने की दृष्टि से खेती और ग्रामोद्योगों की समन्वित धारा कायम की जाये। आज पाकिस्तानी पलायन के फलस्वरूप इस नीति को तुरत अमल मे लाने की जरूरत है क्योंकि शरणार्थियों की समस्या स्थायी होते हुए भी तात्कालिक समाधान की माँग कर रही है। इनके लिए झटपट कुछ न कुछ किया ही जायेगा और यदि नींव गलत पड़ गयी तो निश्चय ही हमारे भोजन की समस्या और भी जटिल हो जायेगी। भागे हुए लोगों को हिन्दुस्तान में बसा लेना ही बहादुरी नही होगी। यदि ढंग से काम न हुआ तो लोग वहाँ से भाग कर यहाँ गुलाम बन जायेंगे, और अपने साथ यहाँ वालो को भी गुलाम बना देंगे। इसलिए कलकत्ता और बम्बई मे इनके वास्ते सीमेण्ट के बगले तैयार कराने के बजाय इन्हे ग्रामीण क्षेत्रो मे स्थान देकर कृषि और ग्रामोद्योग द्वारा देश को समृद्ध और स्वावलम्बी बनाने का भार इन्हे सौंप देना चाहिये। इस प्रकार सरकारो को भी मदद मिलेगी।

शरणार्थी समस्या और कृषि

१६२. आज सरकारें करोड़ो रुपये "अधिक अन्न उपजाओ" पर खर्च कर रही हैं। यदि यह सारा कार्य समझ बूझकर, सही ढग से न किया गया तो नतीजा कुछ न निकलेगा। यदि देश को अकालों से बचाना है तो तत्काल पञ्चायतस्थ गृह उद्योगों की सबल सृष्टि करनी होगी। देश मे अन्न की कमी तो है ही परन्तु जहाँ अन्न है भी वहाँ बहुत से लोग पैसे न होने के कारण भोजन प्राप्त नहीं कर सकते। आज चावल रुपये का सेर-डेढ सेर और गेहूँ २ २॥ सेर मिल रहा है। जिनके पास खेत नहीं, अन्न नहीं, इतना महँगा अनाज खरीदने को उनके पास इतना पैसा भी नहीं होता और भूखों मरते हैं। तकावी बाँट कर, सडकें बनवा कर, या दूसरे सरकारी कार्यों मे लगाकर लोगो को कुछ पैसे दे देना सरकारों की पुरानी नीति रही है। इससे भी लाभ हो सकता है परन्तु वह लाभ पूरा या स्थायी नहीं होता। इस तरह लोगो को कोई स्थायी क्रय शक्ति नहीं प्राप्त होती। यह तो भूखे कुत्ते को रोटी का टुकडा फेंक देने के समान है, समस्या का सच्चा समाधान नहीं हो सकता। स्थायी समाधान के लिए तो ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे लोग अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए स्वयं समर्थ बन सकें। ऐसा नहीं हो तो भारत की भूखी भीड और नाजियों के बन्दी-

अकाल का सच्चा समाधान—तकावी नहीं, ग्रामोद्योग

समूह में कोई तात्विक अन्तर न होगा—'दोनों सरकार की दया वृत्ति पर ही जीवित रहते हैं।

१६३. अतः आवश्यकता इस बात की है कि भुखमरी और अकाल की आशंका को मिटाकर जनता को सबल और स्वावलम्बी बनाने के लिए ऐसे कृषि जन्य उद्योगो की स्थापना की जाये जो सरकारी अनुमति पत्र और केन्द्रीय योजनाओं के मुँहताज न रह कर स्थानीय साधनों के द्वारा प्रफुल्लित हों जैसे खादी, घानी, चक्की, ढेकी, गो पालन, ताड़ गुड़ आदि आदि। इन उद्योगो से लोगो को पैसे तो मिलेंगे ही कृषि भी 'स्वय-पूर्ण' होगी। तात्कालिक समाधान मे स्थायी निर्माण का फल प्राप्त होगा। चूँकि यह सब उत्पादक कार्य होगा, इसलिए स्वभावत: राष्ट्रीय सम्पत्ति मे वृद्धि होगी। राष्ट्रीय सम्पत्ति मे विस्तार का अर्थ ही होता है व्यक्तिक समृद्धि के साथ सरकारी आय का विस्तार यानी जो धन सरकारी कोप से इन नगे-भूखो को पालने मे खर्च होता है वह तो बचेगा ही उलटे सरकार को खर्च के बजाय आय का साधन प्राप्त होगा।

इस प्रकार जब तक भोजन की इस जटिल समस्या को व्यापक और संघटित रूप से हाथ मे नहीं लिया जाता कल्याण की आशा छोड़ रखनी चाहिये।

(५)

(यह अंश श्री धीरेन भाई की पुस्तिका "यह स्वराज्य कैसा ?" से लिया गया है। इसमे किसान और कृषि का महत्त्वपूर्ण विवेचन है जिस पर हमारी खाद्य समस्याओ का प्रमुख आधार है।)

पचायत का पहला काम —— विदेशी अन्न का आर्थिक पहलू

१६४. पचायत बनाकर आपको सबसे पहला काम करना होगा अपने अन्न और वस्त्र की व्यवस्था का। आपको सबसे पहले इन्हीं वस्तुओ की जरूरत है और इन्हीं चीजो के इन्तजाम के बहाने पूँजीवादी राक्षस आपकी छाती पर बैठना चाहता है। आप हैं किसान। आपका सबसे पहला काम है मुल्क का पेट भरना। आज आप जो अन्न पैदा करते हैं, वह काफी नहीं। जो हिन्दुस्तान सारी दुनिया का पेट भरता था, उस हिन्दुस्तान को अब १०० करोड़ रु० का अनाज बाहर से मँगाना पड़ता है। भारत

के किसानो पर यह कलंक का टीका है। फिर इस १०० करोड के अनाज आने का मतलब क्या है ? जब अंग्रेज ६० करोड रु० का कपडा लेकर आये तो आपने बढती अनाज पैदा करके उसका दाम चुकाया था। आज जब बाहर से अनाज ही मँगा रहे हैं तो इसके बदले में आप क्या देंगे ? क्या यह बात आपने कभी सोची है ? यह तो उधार ही आवेगा न ? जब अंग्रेजी सौदा का नकद दाम चुकाने पर भी वे आपके मालिक बन बैठे थे तो क्या यह उधार गल्ला देनेवाले आपको छोड देंगे ?

आपको तो खूब मालूम है कि नकद देनेवाले बनिया और उधार देनेवाले पठान मे क्या अन्तर है ? इस तरह नकद बेचनेवाले अंग्रेजो से उधार देनेवाले रूस और अमेरिका कितने भयकर होंगे इसका अन्दाज आप ठीक-ठीक लगा सकते हैं। इसलिए गाँव समिति बना कर आपका सबसे पहला काम है कि आप अपनी जमीन की पैदावार बढ़ावें ताकि वह १०० करोड रु० का अनाज न आने पावे।

गोपालन और कृषि

१६५. आप किसान हैं। आपको यह बताने की कोई जरूरत नहीं कि खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए आपको चाहिये अच्छा बैल और इफरात खाद। पुराने जमाने मे लोग कहते थे कि एक बीघा जमीन मे २५ और ३० मन अनाज पैदा होता था। आज उसी खेत मे ८ और १० मन अनाज पैदा होता है। यह क्यो ? क्या आपने कभी इसका कारण सोचा है ? उस जमाने मे सारी जमीन के दो हिस्से होते थे। एक हिस्सा लिखा था माता अन्नपूर्णा के नाम, उसको जोतकर अन्न पैदा करने के लिए। और दूसरा लिखा था गो माता के नाम। हमारे देश मे गो धन सबसे बड़ा धन माना जाता था। गोचर भूमि मे गौवें स्वच्छन्द चरती थीं, उनके बलवान बछड़े खेत मे गहराई तक जोतते थे। उनके गोबर से इफरात खाद होती है। और उनके दूध पिये हुए बच्चे सयाने होकर भरभूर मेहनत करते थे। यही कारण था कि उस जमाने मे भारत भूमि की पैदावार इतनी होती थी। इसी कारण से आपके समाज मे गो रक्षा का इतना महत्त्व बतलाया गया है।

लेकिन जब से आपको अंग्रेजो ने मिल का कपडा दिया, आपने चर्खा चलाना त्याग दिया और मिल के कपडे के बदले मे उसका दाम चुकाने के वास्ते बढ़ती अनाज पैदा करने के लिए गो माता की भूमि का

भाग जोतकर लाखों-करोड़ों गौओ का नाश कर डाला। इस तरह मिल के कपड़ो मे फँस कर आपने करोड़ों गौओ की हत्या का पाप अपने सिर पर लाद लिया। क्या आपने कभी इस बात को सोचा है? आज अगर मुसलमान एक गौ का बलिदान किसी ईद के दिन कर देता है तो आपके क्रोध का पारा गरम होकर सैकड़ो मुसलमानो का वध करने के लिए तैयार हो जाता है। लेकिन क्या कभी आपने इस बात को सोचा है कि इस भयंकर मिल देवता की पूजा मे आपने कितने लाख, कितने करोड़ गौओ की हत्या स्वयं कर डाली है? आप मे से बहुत से लोग लाल झण्डा लेकर हिन्दू-धर्म के रक्षा की बात करते हैं। हिन्दू धर्म की रक्षा नारा लगाने से नहीं, गो रक्षा से होगी।

गाय और खाद्य समस्या

१६६. इस तरह जब मिल के कपड़े की लालच मे पड़कर आपने गाय को निर्वंश कर डाला तो आपको न अच्छा बैल मिलता है, न अच्छी खाद। नतीजा यह हुआ कि आपने खेत तो बढ़ा लिया लेकिन पैदावार हो गयी आधी और खानेवाले हो गये दूने क्योंकि जब पहले सब घर मे गोपालन होता था तो बच्चे पीते थे दूध और बड़े खाते थे अन्न; आज बच्चो को भी भरोसा है उसी अन्न का। एक घर मे यदि दो बड़े आदमी हैं तो उस घर मे हैं चार बच्चे और यदि बडे खाते है ३ बार तो बच्चे खाते हैं १३ बार। इस तरह गाय के निर्वंश होने से सिर्फ बैल और खाद की ही कमी नहीं, बल्कि आपके अन्न पर दूना खानेवाले हो गये। फिर यदि उसी अनाज पर अपने कपड़े का भी बोझ डालना चाहते हैं तो कहाँ से मिलेगा खाना और कहाँ से मिलेगा कपड़ा?

भैस और गो रक्षा

१६७. इसलिए अगर आपको अन्न की पैदावार बढ़ा कर अपने को नाश से बचाना है तो आपका पहला काम है गोपालन। आज तो हम देखते हैं कि लोग गोपालन के बदले भैस पालते हैं। आप जिस हिन्दू धर्म की बात करते हैं उस धर्म के किसी ग्रंथ मे महिषि-धन नहीं लिखा हुआ है। सभी जगह गो-धन ही कहा गया है। महिषि को धर्म ग्रथ मे असुर कहा गया है। आज खेती के लिए बैल बाजार मे खरीदते हैं दूध और घी के लिए भैस पालते हैं। अगर आप गौ नहीं पालते तो आपके बैल कहाँ से आवेंगे? नतीजा यह होगा कि आपको बैल सप्लाई करने के लिए बैल

के व्यापारी ही गोपालन करते रहेंगे। उसमे से वछिया और वछडा दोनों पैदा होते हैं। अगर आप वछडा के ही गाहक होते हैं तो वछिया कौन लेगा? अगर पालनेवाले उसे नहीं लेंगे तो वह जायगा खानेवालों के ही हाथ मे। इसी तरह आपके देश मे ४० लाख गौओ की हत्या हर साल होती है और उसके जिम्मेदार हैं किसान जो अपनी खेती के लिए बाजार से बैल खरीदते हैं और दूध-घी के लिए भैंस पालते हैं। आज-कल गो हत्या वन्द करने का नारा जोरो से चला है। इसके लिए कानून बनाने की माँग की जा रही है। शायद कानून बन भी जावे। लेकिन जब आप गोपालन न करके भैस पालन करेंगे तो कानून बनाने से ही गो हत्या कैसे वन्द होगी?

१६८. किसान भाई कहते हैं--"हम गऊ कहाँ से पालें?" उनके लिए गोचर भूमि चाहिये। वह भूमि आज कहाँ है? जो भी जहाँ-तहाँ, जो कुछ परती जमीन वाकी है, आज के जमींदार व

चर्खा और गोपालन

तालुकेदार उन्हे भी तोडते जा रहे हैं। फिर गो माता के लिए जमीन कहाँ से लावें? भाइयो, मैने आपको अभी वतलाया है कि पुराने जमाने मे आपकी जमीन दो हिस्सो मे बँटी थी। एक माता अन्नपूर्णा के नाम और दूसरी थी गौ माता के नाम। आप जिस समय कपड़े के लिए चर्खा छोड कर मिल का भरोसा करने लगे तो आपने गौ माता को उसकी जमीन से वेदखल कर उसी जमीन मे बढ़ती अन्न पैदा करने की विफल चेष्टा की।

गाँधी जी ३० साल से यही वात आप से कहते रहे कि आप चर्खा चलाकर अपना कपडा बना लें और गौ माता के हिस्से की यह जमीन मिल असुर के हाथ से छुडा कर गोचर भूमि के लिए परती छोड दें। इसी से आपके वस्त्र और अन्न दोनों का इन्तजाम हो जायगा। ऐसा करने से जो जमीन अनाज के लिए वाकी वचेगी उसी मे आज का ड्योढा अन्न पैदा होगा। लोग कहते हैं कि गाधी जी ने खेती की वात नहीं की और चरखे पर ही सारा जोर लगाया। भाइयो? गाधी जी हमेशा दूर की और गहराई की वात सोचा करते थे।

विना गोपालन खेती की तरक्की नहीं हो सकती, विना गोचर भूमि के गोपालन नहीं हो सकता, और विना चर्खा चलाये मिल असुर के कब्जे से गोचर के लिए भूमि नहीं खाली हो सकती। यही कारण था कि गाँधी जी वार-वार चर्खे पर जोर देते रहे। इस तरह अपने को बचाने के

लिए आप को महान असुरो का नाश करना है, वे हैं दूध घी के लिए भैसें और कपडे के लिए मिलें।

(६)

१६९. हम व्यक्ति के चेतन अस्तित्व और क्रियात्मक व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। उसे हम समाज के किसी जड़ अंश के रूप मे नहीं देखते और इसी लिए हम वैयक्तिक सम्पत्ति की सत्ता को निर्मूल नहीं बता सकते। परन्तु इस वैयक्तिक सम्पत्ति को हम केवल समाज के सदर्भ मे ही समझ सकते हैं। हम पश्चिम के स्वच्छन्द व्यक्तिवाद को उतना ही घातक और अविवेकपूर्ण मानते हैं जितना जडवादियों के समूहवाद को। कहने का मतलब, धरती पर किसानो के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करते हुए भी हमे ध्यान मे रखना होगा कि धरती का उपयोग सामाजिक और सामूहिक सुख-समृद्धि की दृष्टि से ही होना चाहिये, अन्यथा सारी समाज व्यवस्था ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी, सारे राष्ट्र का जीवन खतरे मे पड़ जायेगा,—पड़ा हुआ है।

धरती का उपयोग सामाजिक दृष्टि से हो

१७०. आज हम देखते हैं कि एक गाँव का क्षेत्रफल १००० एकड़ है और १०० परिवार उसमे आवाद हैं। इन आदमियो के साथ गाय-वैल और अन्य पशु भी हैं। औसत प्रति परिवार १० एकड़ की पड़ी या परिवारों की जनसंख्या के हिसाव से कुछ कम या ज्यादा भी हो सकती है। परन्तु यथार्थ यह है कि सम्पूर्ण क्षेत्रफल का वहुत बड़ा हिस्सा कुछ इने-गिने लोगो के हाथ मे है और शेप थोड़े से हिस्से मे सारा गाँव नन्हे-नन्हे से टुकडो को लेकर जिन्दगी और मौत की यातना भोग रहा है। वेशक जमींदारियाँ खतम हो रही है, परन्तु धरती का आनुपातिक बँटवारा करना अव भी शेप है। समस्या का वास्तविक हल तो यहीं से प्राप्त होगा। जव तक ऐसा नहीं होता हमारी कृपि परिणाम-जनक सिद्ध नह होगी, और जव तक कृपि ही परिणामजनक नहीं सिद्ध होती भोजन की समस्या का सच्चा हल भी नहीं प्राप्त हो सकता।

धरती का आनुपातिक बँटवारा

१७१. परन्तु धरती के बँटवारे से भी बड़ा प्रश्न सन्तुलित कृषि का है। आवश्यकता इस बात की है कि हम एक-एक गाँव को लेकर देखें कि

प्रत्येक गाँव मे कितने खाद्य की आवश्यकता है, कितने चारे और चरागाह की आवश्यकता है और फिर उसे क्षेत्रफल और जनसख्या के हिसाब से बाँट कर पूरा करने की व्यवस्था की जाये। परन्तु आज हो यह रहा है कि १००० एकड मे से ५०० में गन्ना, मूँगफली, जूट और कपास की खेती हो रही है जिसे मिलो को भेंट करके करेन्सी नोट बटोरने की फिक्र मे लोग व्यस्त हैं और बाकी ५०० एकड मे गाँव भर के भोजन की सीमा बाँधी जाती है, पशुओ के चारे और चरा-गाह का हिसाब लगाया जाता है। स्वभावतः नतीजा यह होता है कि खाद्यो का अभाव लोगों को उत्पीडित करने लगता है। और फिर भी हम यह कहते हैं कि आज किसान बड़ा खुशहाल है। हो सकता है कि उसके पास करेन्सी नोट हों, पर पेट के लिए रोटी के लाले तो पडे ही हुए हैं।

सतुलित कृषि

१७२. वस्तुस्थिति यह है कि जिनके पास जमीन काफी है वे तो ठीक हैं परन्तु जिनके पास काफी जमीन नहीं है वे गाँवो मे रह कर भी दानो के लिए बेहाल हो रहे है। इसलिए तत्काल आवश्यकता इस बात की है कि गाँव की खेती गाँव पचायतों की सलाह और अनुमति (लाइसेन्स) से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती मे कितना गेहूँ, कितनी धरती मे कितनी तेलहन, कितनी धरती मे कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है— उसी हिसाब से लोगो को पैदावार करने को आदेश दिया जायेगा।

खेती पचायतों की अनुमति और निर्देश से हो

१७३. इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओ की सरलता पूर्वक एव सतोपजनक रीति से पूर्ति हो सकेगी। आज जो हम चारो ओर से भुखमरी का शोर सुन रहे हैं, उसका अधिकाश निराकरण हो जायेगा। इस तरह खाद्यों का अधिकाधिक उत्पादन हो सकेगा और जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि सरकारो को पचायतो के माध्यम से आसानी के साथ पर्याप्त मात्रा मे खाद्यो को प्राप्ति हो सकेगी और गल्ला वसूली के खर्चीले एव अन्यायपूर्ण रास्ते पर उसे उतरने की जरूरत ही नहीं होगी। आधिक्य क्षेत्रो (सर्प्लस एरिया) से अभावग्रस्त क्षेत्रों (डेफिशेंट एरिया) की पूर्ति करने मे आसानी होगी। पचायतो से (व्यक्तियो से नहीं) प्राप्त खाद्यो को स्थानीय गोदामो मे सञ्चित करके स्थानीय आधार पर

पचायती माध्यम और खाद्य समस्याएँ

वर्तुलाकार विस्तार के साथ पूर्ति करते जाने की नीति से खाद्यों के नष्ट होने की सम्भावनाएँ, यातायात की अड़चनें—सारी खतम हो जायेंगी। इस तरह यह भी आसान हो जायेगा कि देश के अभावग्रस्त क्षेत्रो की दृष्टि से कहाँ, कितना अधिक, और क्या उत्पन्न किया जा सकता है। उसी समय यह भी आसान होगा कि जूट, चीनी और कपास आदि की ऐसी व्यवस्था की जाये जिससे जनता की बुनियादी चीजों मे कमी न हो। सम्भव है कि सारे हिसाब और सारी संयोजित चेष्टा के बावजूद भी आवश्यक खाद्य का पर्याप्त उत्पादन सम्भव न हो। ऐसी हालत मे पचायतो और सरकारो को यह आसानी से पता रहेगा कि बाहर से कितनी चीजें मँगानी हैं।

संतुलित कृषि के इन तरीको से वैयक्तिक सम्पत्ति के सिद्धांत अक्षुण्ण बने रह सकते हैं, सामूहिक कृषि (कलेक्टिव् फार्मिंग) की अप्रियता से भी लोग वञ्चित रह सकते हैं।

खाद्यो के अधिकाधिक उत्पादन की जितनी सख्त जरूरत है उनके रक्षण की आवश्यकता उससे कम नहीं है। इस रक्षा कार्य मे वैयक्तिक चेष्टाओ का जहाँ तक सामूहिक महत्त्व है, हमने आगे विचार किया है, यहाँ हम रक्षा के केवल उसी अश को ले रहे हैं जिससे सरकार और समाज का संयोजित सम्बन्ध है। इस स्थल पर हमारा ध्यान अति वृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ और वन्दरो के प्रकोप या अन्य ऐसे ही उपकरणो पर जाता है।

बरसाती पानी का निकास

१७४, हम देखते हैं कि स्वयं अति वृष्टि से उतनी हानि नहीं होती जितनी कि वर्षा के पानी के जमाव से ताल-तलैया, नदी-नाले बन कर फसलों को डुबा रखने से होती है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि हमारी सारी विकास योजनाओ मे बरसाती पानी के निकास की सुनिश्चित व्यवस्था को सबसे पहले हाथ मे लिया जायेगा। हमारा अनुभव है कि जहाँ भी यह समस्या वर्तमान है वहाँ की जनता को यदि थोड़ी सी भी सरकारी सहायता मिल जाये तो वह स्वयं इस चिरकालीन विपदा से मुक्त होने की व्यवस्था कर सकती है। सरकार को केवल प्रेरणा और सहारा देने भर की जरूरत है। उसी प्रकार अनावृष्टि के लिए कूओं और नहरो की भी व्यवस्था की जा सकती है। बेशक बाढ़ की समस्या

भयंकर और जटिल है जो गाँव और जिलों के आधार पर नहीं, राष्ट्रीय या प्रान्तीय आधार पर हल करनी होगी।

बाढ और कृषि

१७५. प्रति वर्ष देश का अपरिमित अन्न नदियो की बाढ़ मे विनष्ट हो जाता है। जब तक इस प्रश्न को हल नहीं किया जाता भारत की भोजन समस्या सुनिश्चित और विकासमान बन ही नहीं सकती। यह समस्या दामोदर योजना से भी अधिक जरूरी है।

यह बुद्धिमत्ता समझ मे नहीं आती कि वर्षो मे अरबो के खर्च से तैयार होनेवाली सिंचाई की योजना मे हम उलझे रहे परन्तु हर साल करोडो मन अन्न को नदियो की बाढ से बचाने का कोई उपाय ही न हो। यथार्थतः इस काम को हमे सबसे पहले हाथ मे लेने की जरूरत है। नदियों की बाढ़ का रोकने के लिए मजबूत बाँधो की जरूरत है। इस कार्य मे सरकार को प्रत्येक गाँव से अपार धन और जन की सहायता मिलेगी। नदियो के बाँध की जिम्मेदारी सम्बद्ध क्षेत्रो मे टुकडा-टुकडा करके बाँट देने से कार्य जल्द और आसानी से पूरा हो सकता है। जो गाँव के सामर्थ्य के बाहर को बात हो उसे चाहिये कि सरकार सुलभ बनाये। जो लोग इस कार्य मे सहायक नहीं होते उन पर सरकारी दबाव डालने के बजाय उन्हे छोड देना चाहिये। जब वे देखेंगे कि सहायता देनेवाले सुखी हैं और वे सहायता न देने के कारण विनष्ट हो रहे हैं तो झक मार कर बाँधो की योजना मे सरकार के साथ हो जायेंगे।

बन्दर

१७६. बाढ़ के बाद बन्दरो की समस्या कृषि के लिए विशेष चिन्ता का विषय बन रही है। बन्दरो के अमेरिकी व्यापार की नारकीय कहानियों से तो किसी इन्सानी दिल मे दर्द, क्षोभ और घृणा का संचार होगा परन्तु जो लोग सीधे तौर से भी बन्दरो को मार डालने के पक्ष मे नहीं हैं समस्या उनके लिए अधिक जटिल है। बन्दरो को पकड कर जगलो मे छोड देने से वे फिर लौट आ सकते हैं। इसलिए एक सज्जन ने सलाह दी थी कि बन्दरो को पकड कर भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे नर-मादा करके अलग-अलग बन्द कर दिया जाये। ये स्थान बडे बडे बागो को "जाली बन्द" करके ही तैयार होगे। कुछ तो उन्हे उन बागो से ही भोजन मिल जाया करेगा और कुछ भक्त जनो के द्वारा भेट किए हुए आहार से मदद

मिलेगी। इस प्रकार जो कुछ खर्च होगा वह स्वच्छन्द विनाश का शतांश, सहस्रांश भी नहीं होगा। दूसरी ओर नर-मादा अलग-अलग रहने के कारण बन्दरो की वृद्धि ही नहीं खतम होगी, कुछ दिन के बाद उनकी जाति ही प्राकृतिक रूप से क्षीण हो जायेगी। इस सलाह पर विचार करने की जरूरत है।

(७)

प्राप्त साधनो में ही अधिकाधिक उत्पादन की जरूरत

१७७. हमारे पास भोजन के जो साधन हैं वे अधिक से अधिक उत्पन्न हो ताकि जीवन के इस मूल प्रश्न पर हम अधिक से अधिक आत्मनिर्भर हो सकें। हमे जितना भी सुलभ है उसका हमे अधिक से अधिक गुण प्राप्त हो ताकि हम थोड़े मे भी ज्यादा कर सकें—यही हमारी चेष्टा, यही हमारी योजना होनी चाहिये।

खूराक की हद कायम करें

१७८. भोजन की जब देश मे कमी है तो भोजन को किसी भी रूप मे खराब करनेवाले सीधे देश पर आघात करते हैं। हमारी मूढ़ता से जितना भोजन नष्ट होता है, हम उतना ही देश को कमजोर बनाते हैं। हमारे पास पैसे हैं; हम जरूरत न होते हुए भी सेर के बजाय दो सेर अन्न इस्तेमाल करते हैं—इसका मतलब है कि हमने भूखे लोगो से १ सेर भोजन छीनकर खराब कर दिया। देश मे जब पेट भरने का सवाल पैदा है तो किसी को कोई हक नहीं कि वह इन कीमती दानो को जायको से नष्ट करे—भूखी भीड के बीच तश्तरियो का दौर चलाना जुल्म और बर्बरता है। मुल्क के साथ गद्दारी है। आज जो लोग हिन्दुस्तान का दम भर रहे हैं, जो लोग गरीबो की हिमायत कर रहे हैं, उनका पहला फर्ज है कि अपनी खूराक की हद कायम करें, वरना उनका सारा उपदेश, "अधिक अन्न उपजाओ" के सारे नारे, 'एक वक्त उपवास' करने की सारी सलाहें—सरासर धोखादेही साबित होंगी और एक दिन अपनी इन मक्कारियो के लिए उन्हे पछताना होगा।

१७९. वैयक्तिक सुख और राष्ट्रीय समृद्धि के सपने देखनेवालो को

साफ तौर से समझ लेने की जरूरत है कि जब तक देश को पर्याप्त स्वस्थकर भोजन नहीं मिलता उनकी सारी आशाएँ दुराशा मात्र रह जायेंगी, 'उनके सारे मनसूबे झूठे साबित होंगे। जो लोग यह सोचते हैं कि सरकारी राशन मे ताजी साग-सब्जी, फलों के टोकरे, दूध, दही, मट्ठे और मक्खन के डिब्बे, गेहूँ, मूँग, मसूर और शक्कर के बोरे उनके घरों मे ढकेले जायँगे, उनसे बढकर बेवकूफ और पागल कोई हो ही नहीं सकता।

खाद्य प्रश्न के समाधान के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वय, सचेष्ट होना चाहिये

भोजन प्राणी का वैयक्तिक क्षेत्र है, समाज और सरकारें केवल हमारी सहायता कर सकती हैं। मूल प्रश्न को तो हमे स्वय हल करना होगा। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह सरकार को कोसते रहने के बजाय सावधानी पूर्वक काम मे लग जाये।

(८)

१८०. भोजन के प्रश्न पर सबसे पहले हमारी नजर अपूर्ण और अपुष्टकर भोजन पर ही जाती है। प्रत्येक प्राणी को कम से कम इतना भोजन तो मिलना ही चाहिये जिससे वह जीवन व्यापार को सुचारु रूप से चला सके। हमने जीवन शक्ति की चर्चा करते हुए देखा है कि शक्ति यानी शरीर की गर्मी को कायम रखने के लिए कितना और कैसा भोजन आवश्यक है ताकि अपेक्षित मात्रा मे शक्ति प्राप्त हो जाये। इसीलिए अधिक शारीरिक श्रम करनेवालों को अधिक भोजन की जरूरत होती है। यदि यह भोजन सरकारी राशन से मिलता है तब तो सरकार का पहला काम हो जाता है कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे जनता को पूरी खूराक मुयस्सर हो सके। और जो नहीं मिलता, उस कमी को स्वय पूरी करना प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होता है।

जनता के पूरी खूराक की व्यवस्था

हमने शुरू मे ही कहा है कि भारत मे प्रत्येक व्यक्ति को शरीर की बनावट के हिसाब से अवस्था भेद के अनुसार कितने जीवन मान यानी कितने भोजन की जरूरत है। खाद्य पदार्थों की तालिका से यह मालूम हो जायगा कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं मे कितना जीवन मान यानी किस मात्रा मे जीवन शक्ति होती है। खूराक की शक्ति निर्धारित करने मे इससे काफी मदद मिलेगी।

१८१. इसके बाद, बल्कि इसी के साथ, हमे यह भी ध्यान में रखना होगा कि हम जो कुछ खाते पीते हैं उनमे आहार और जीवन तत्त्वो की पर्याप्त संख्या है या नहीं,—शरीर केवल पेट भरने से ही नहीं चलता। भिन्न-भिन्न तंतुओ को स्वस्थ-कर रीति से सजीव और सक्रिय रखने के लिए अनेक तत्वो की जरूरत होती है और ये सब हमे भोजन के द्वारा प्राप्त होते हैं। इसलिए हम जो कुछ खाते हैं, उसका पारिमाणिक ही नहीं, तात्विक गठन भी होना चाहिये।

खाद्य का पारिमाणिक के साथ तात्विक गठन जरूरी है

१८२. इन दोनो दृष्टियो के मेल से जो भोजन लिया जाता है वही शरीर मे जीवन उत्पन्न करता है, शरीर सवर्द्धन और सपोपण का कारण बनता है, मनुष्य स्वस्थ और क्रियाशील बना रहता है, प्रसन्नता उसके चेहरे पर छलकती रहती है, उसकी त्वचा चिकनी और कान्तिमय होती है। ऐसे सुन्दर, सुडौल, हृष्ट-पुष्ट और कान्तिमय सक्रिय प्राणी को देखकर समझना चाहिये उसे पूरी खूराक मिलती है, जो मिलती है वह पूरी तरह हजम होकर शरीर निर्माण, सरक्षण और सवर्द्धन मे लग जाती है।

तात्विक एवं परिपूर्ण भोजन का प्रमाण

परन्तु जब हम टेढ़े-मेढ़े रोगी, दुर्बल, हारे और थके हुए, जीवन से उदासीन और कार्य से विमुख, आलसी और कामचोर प्राणी को देखते हैं तो समझना चाहिये उसे पूरा और तत्त्वपूर्ण भोजन नहीं मिलता, या जो मिलता है वह पूर्णतः शरीर के काम नहीं आता अथवा वह दोषपूर्ण है जिससे दुष्ट प्रवृत्तियो की सृष्टि होती है। आज हमारा देश ऐसे ही भूखे और रोगी लोगो से भर गया है। क्या ऐसे लोगो को लेकर ससार के बलवान राष्ट्रो के साथ उन्नति और उत्थान की दौड लगायी जा सकती है? राष्ट्र की रीढ़ जनता है—वही रोगी और दुर्बल हो तो क्या कुछ पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी लोगो से हमारे देश मे जान आ सकती है? क्या कुछ जवाहर और पटेल, कुछ डालमिया और बिड़ला के प्रदर्शन से भारत बलवान हो जायेगा? हो नहीं सकता।

१८३. अतएव समुचित और सम्पूर्ण भोजन किसे कहते हैं—यह हमारे ज्ञान की पहली सीढ़ी होनी चाहिये। फिर उस ज्ञान को राष्ट्रीय जीवन मे परिणत करना हमारी पहली शिक्षा, पहली राजनीति और

पहली समाज सेवा का अङ्ग बनना चाहिये। खेद है कि आज ऊँचे-ऊँचे होटलों मे न्यूयार्क की 'पेस्ट्री' और ब्रिटानिया बिस्कुट के जायके लेते फिरनेवाले लोग भारत के उजडे हुए गाँवो के क्षुधानिवारण का राग अलाप रहे हैं। यह उससे कम अफसोस की बात नहीं है कि गाँवो के उद्धार की कसम खानेवाले सेवक और सस्थाएँ भी प्रातीय रसद विभाग के भरोसे गाँवो की अन्नपूर्णता और स्वावलम्बन की दुहाई दे रही हैं। हिन्दुस्तान की भूख इन तरीकों से हरगिज़ दूर नहीं हो सकती। जब तक खाद्य समस्या को हम अपने कार्यक्रम का व्यावहारिक अग और आधार नहीं बनाते केवल बौद्धिक बातो से देश की कोई समस्या हल न होगी।

खाद्य समस्या व्यावहारिक कार्य-क्रम से ही हल होगी

आज जो लोग देश के हित चिंतन मे लगे हुए हैं उन्हे खाद्य-समस्याओ की पूरी जानकारी होनी चाहिए। उन्हे यह भी जानना चाहिये कि अपूर्ण, असतुलित या दूपित भोजन का शरीर पर क्या प्रभाव होता है और फिर एक-एक की क्षति सारे राष्ट्र की कितनी भारी क्षति बन जाती है, क्योकर वह सारे राष्ट्र को जर्जर और निःसत्व बना देती है।

१८४. वस्तुतः अन्न और वस्त्र, मनुष्य की दो मूल आवश्यकताओं मे शामिल हैं। इन दो मे से भी अन्न का पहला स्थान है और यदि इसी के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अपूर्ण हो, हमारा कार्य-क्रम अधूरा हो, तो इससे बढ़कर शोचनीय स्थिति और क्या हो सकती है? इसीलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारी सारी शिक्षा पद्धति मे भोजन शास्त्र का व्यापक और महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। और यही कारण है कि गाधी जी ने खादी और कृपि को नयी तालीम के दो मूल उद्योग माना है। कृपि और भोजन, दो अन्योन्याश्रित एव पर्य्यायवाची चीजें हैं। अतः शिक्षकों, विशेपतः नयी तालीम के अध्यापको को, इसकी विधिवत् एव व्यावहारिक जानकारी कराना और करना चाहिये।

शिक्षा पद्धति में भोजनशास्त्र का समावेश आवश्यक है

भारत रोगो के यातनापूर्ण दलदल मे जिन्दगी और मौत की साँसें ले रहा है—इनमे से अनेकों के पीछे भोजन की करुण कहानियाँ हैं, अनेको की सृष्टि हमारी खाद्य अज्ञानता और कुसस्कारों से होती है।

बेरी-बेरी, रतौंधी, मोतियाबिन्द, प्रसूत ज्वर, रक्ताल्पता—अनेकों मे से ये कुछ ऐसे रोग हैं जिन्होंने राष्ट्रीय जीवन के लिए समस्या खड़ी कर दी है, परन्तु भोजन सम्बन्धी मामूली सी जानकारी और सतर्कता के द्वारा देश को इनके चगुल से मुक्त किया जा सकता है। पेट भर होने पर भी यदि भोजन संतुलित नहीं है तो वह दूषित और रोगप्रद बन जाता है। अपूर्ण और असंतुलित भोजन से बच्चो की वृद्धि और विकास मारा जाता है। क्या ऐसे बच्चे किसी उन्नतिशील राष्ट्र के सदस्य बन सकते हैं? जिन माताओं को आवश्यक भोजन नहीं मिलता वे स्वस्थ सन्तानो को क्योंकर जन्म दे सकती हैं? बच्चो की सुरक्षा और संपोषण के लिए वे स्वयं भी क्योकर स्वस्थ और सुखी रह सकती हैं?

आज, ठीक इसी स्थल पर, हमारे अध्यापक वर्ग का महत्त्व स्थापित होता है। शिक्षा के मानी यही तो नहीं होते कि कुछ बच्चों को बटोर कर उनके खोपड़ो में कुछ ऐसी किताबी बातें ठूँस दी जायें जिनसे उनके जीवन प्रवाह का कोई साक्षात् सम्बन्ध न हो या जिनसे उनकी व्यावहारिक गति-विधि पर कोई असर न पड़े। वह शिक्षा भी क्या जो सीधे जीवन तत्वों से न मिलकर कागजी पन्नो मे धरी हो? यदि बालक गणित की कठिनतम सूक्तियो को हल कर रहा हो और दूसरी ओर उसकी नाड़ियाँ और मासपेशियाँ सूखती जा रही हो तो क्या हम स्वीकार कर सकते हैं कि उसे जीवन की सही शिक्षा मिल रही है? वस्तुतः जीवन को सही तौर से कायम रखना जीवन की पहली शिक्षा होनी चाहिये, पहली योग्यता होनी चाहिये, वरना क्षीणप्राय गणितज्ञो से यही नहीं कि सबल राष्ट्र नहीं बनेगा बल्कि हम इन्हे गणितज्ञ भी नहीं मानेंगे।

व्यक्ति के, राष्ट्र के, ये आधार भूत सवाल हैं और इन्हें सावधानी पूर्वक हाथ में लेना होगा। परन्तु इस सिलसिले मे खास बात समझने की तो यह है कि आहार तत्त्वो की तालिकाओ से संतुलित भोजन के नुसखे तैयार कर देने से ही हमारे भोजन की समस्या हल नहीं हो जायेगी। भारत बड़ा गरीब देश है, इसलिए भोजन के जो नुसखे हम तैयार करें वे संतुलन की रक्षा करते हुए सस्ते से सस्ते होने चाहियें। सस्ते ही नहीं, सुलभ भी होने चाहियें।

१८५. परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि हम जो कुछ खाते हैं उसके उत्पादन मे हमारा कितना अंश है—इस प्रश्न पर हमे

सतर्क रहना होगा। आज हिन्दुस्तान को बहुत सा अन्न विदेशों से महँगे दामो पर मँगाना पड़ रहा है। विदेशों से केन्द्रीय सरकार द्वारा मँगाकर बँटनेवाला अन्न कभी पूरा और स्वस्थकर नहीं हो सकता। जहाजों मे, बन्दरगाहो मे, गोदामो मे सड़ने-गलने और खराब होने के बाद ही वह हमे अपूर्ण मात्रा मे प्राप्त होता है। इसके अलावा भारत जैसे विशाल देश के ३०-४० करोड़ प्राणियों को पूर्ण तरह से रसद पर रखा भी नहीं जा सकता, रसद पहुँचायी भी नहीं जा सकती। हमे अपनी जरूरत का बहुत बड़ा अश स्वय मुहैया करना है। यही कारण है कि हमारी नजर स्वावलम्बन पर ही होनी चाहिए। स्वावलम्बन के बिना कोई राष्ट्र आत्मनिर्भर या बलवान् हो ही नहीं सकता।

स्वावलम्बी दृष्टि की आवश्यकता

समतोल भोजन

१८६. हमने शुरू मे कहा है कि भारत मे प्रति व्यक्ति लगभग २६०० जीवन मान (कैलरी) की प्रतिदिन आवश्यकता है। इस दृष्टि से समतोल भोजन की एक तालिका इस प्रकार हो सकती है—

चावल—(मिल कुटा)	५ छटाँक
बाजरा, गेहूँ, जव—(चोकरदार आटा)	२½ ,,
दूध—	४ ,,
दाल—(अरहर ½ छ०, उर्द १ छ०)	१½ ,,
तरकारी—(बैगन १, गवार की फ० ½, भिण्डी ½, सहजन ½, चिचिड़ा ½)	३ ,,
पत्तीदार भाजी–(लाल चौ. १ छ., पालक ½ छ., सहजन की पत्ती ½ छ.)	२ ,,
चर्बी—(मक्खन, घी, तिल का तेल)	१ ,,
फल—(आम ½, केला ½)	१ छटाँक

यह समतोल भोजन की तालिका है। इससे निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं, जो शरीर के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए पर्याप्त हैं—

नत्रज	७३ ग्राम
चर्बी	७४ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	४०८ ,,

चूना	१·०२ ,,
फासफोरस	१·४७ ,,
लोहा	४४·०० ,,
'अ'	७००० (इकाइयाँ)
'ब १'	४०० ,,
'स'	१७० मिलिग्राम (लगभग)
जीवनमान (कैलरी)	२५६०

ऊपर का भोजन केवल नमूने के तौर पर है। देश और काल तथा परिस्थिति के अनुसार खाद्य-पदार्थों मे हेर-फेर हो सकता है। भोजन के वाद ही फौरन ½ छटाँक के लगभग गुड़ खाने से वहुत लाभ होता है। भोजन सुपाच्य वनता है यानी शरीर को शक्ति अधिक मिलती है। गुड़ स्वय शक्ति प्रदान करता है।

चावल मिल कुटा होने से दूसरे अन्न को नहीं छोड़ना चाहिये। केवल चावल ही लेना है तो वह हाथ कुटा हो और दूध और दाल मे वृद्धि कर देनी होगी। उसना चावल अरवा से अधिक सयोजक होता है। मिल कुटा होने पर भी अधिक हानि नहीं करता। चावल विल्कुल छोड़ देने से अनाज की मात्रा केवल छः छटाँक ही काफी होगी। दूध न मिले तो हर्ज नहीं, मट्ठे और मक्खनियाँ दूध से काम चलाया जा सकता है।

१८७. यह तो हुई भोजन के शुद्ध संतुलन की दृष्टि। परन्तु हमारे भारतीय खाद्य योजना सामने दो प्रमुख प्रश्न हैं। वस्तुतः भारत की के दो निर्णायक प्रश्न खाद्य योजना के ये दो निर्णायक प्रश्न हैं—

(१) भारत की गरीवी।

(२) भारत मे अन्न की कमी।

इन दोनो वातो की अवहेलना करके देश भर के लिए, व्यक्ति या वर्ग विशेष के लिए नहीं, कोई सामान्य आधार नहीं स्थिर किया जा सकता। इन्हीं प्रश्नो को ध्यान मे रख कर गाधी जी ने (हरिजन, २५–१–४२) मे जो मर्यादाएँ स्थिर की थीं उनका उल्लेख करने के पश्चात् ही हम इस समस्या को अधिक विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे।

१८८. "हमारी तात्कालिक समस्या भूखो को भोजन और नंगों को

वस्त्र देने की है। देश में इस समय दोनो की कमी है। युद्ध की प्रगति के साथ[1] यह अभाव दिन-प्रति-दिन कटुतर होता जायेगा। वाहर से गल्ले और कपड़े का आयात बन्द है।[2] पैसे वालो पर भले ही असर न हो, पर गरीबो पर तो असर पड़ ही रहा है। अमीरों को गरीबो के खून पर पलने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। इसलिए जो जितना ही अन्न वचाता है, उतना ही उसके उत्पादन के वरावर है। इसलिए जिन्हे गरीबो का ख्याल और आत्मीयता है, उन्हे अपने खर्चों को कम करना चाहिये। इसके अनेक रास्ते हैं, उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ करूँगा। अमीर लोग वहुत ज्यादा खाते हैं और उससे भी ज्यादा वर्बाद करते हैं।

गाधी जी का सुझाव

एक समय एक ही अनाज का उपयोग होना चाहिये। वहुत से घरो मे चावल, दाल, रोटी, घी, गुड, तेल, फल और साग सब्जी आम तौर से इस्तेमाल किया जाता है। जिन्हे दूध, पनीर, अण्डा या मास के रूप मे प्राणिज नत्रज मिलता है उन्हे दाल बिल्कुल न खाना चाहिये। गरीबो को केवल वानस्पतिक नत्रज मिलता है, अगर अमीर लोग दाल और तेल छोड दें तो गरीबो को जिन्हे प्राणिज नत्रज और चर्बी नहीं मिलती ये अत्यावश्यक पदार्थ सुलभ हो जायँगे। इसके वाद अनाज द्रव रूप (जैसे पतली खीर वगैरह) मे नहीं खाना चाहिये क्योंकि जब यह सूखा या किसी शोरवे मे भिगो कर नहीं (यानी रोटी या भात) खाया जाता है तो आधी मात्रा मे ही पर्याप्त होता है। इन्हे कच्ची सब्जियो जैसे गाजर, टमाटर, प्याज, सलाद, मूली के साथ खाना अधिक लाभप्रद है। कच्चे सलाद का १ छटाक पावभर पकी हुई सब्जी के वरावर होता है। रोटी दूध के साथ नहीं खाना चाहिये। एक वक्त का भोजन रोटी और कच्ची सब्जी का हो, दूसरे वक्त पकी हुई सब्जी और दूध या दही के साथ भोजन हो। मीठी तश्तरियाँ वन्द कर देनी चाहिये। उसके वजाय थोडा गुड़ या चीनी रोटी या दूध के साथ या खाली ही खाना चाहिये।

---

१. आज भारत की स्थिति युद्धकालीन भारत से भी वदतर है। शरणार्थियों की संख्या लाखो से करोड़ो तक पहुँच रही है। उन्हें भोजन देना है।

२. इस समय यदि आयात वन्द नहीं है तो वह वन्द होने से भी अधिक प्राणघातक है क्योंकि देश का अपार धन इसमें लग रहा है और नतीजा यह है कि जीवन के अन्य कार्य-क्रम मुर्झा कर मरने पर आ रहे हैं।

ताजे फल अच्छे होते हैं, पर शरीर-यन्त्र को व्यवस्थित रखने के लिए थोड़े ही काफी होते हैं। यह महँगी वस्तु है और अमीरों द्वारा लोलुपता पूर्वक हड़प लेने से वेचारे गरीब और रोगी वंचित हो जाते हैं जिन्हें इसकी अमीरो से अधिक जरूरत है।

कोई भी डाक्टर, जिसने खाद्य विज्ञान का अध्ययन किया है, इस वात का प्रमाण देगा कि ऊपर दिये हुए नुसखे से सुन्दर स्वास्थ्य में मदद मिलेगी।

भोजन के सदुपयोग और सुरक्षा का यह एक रास्ता है, पर इतने ही से स्थिति मे वहुत ज्यादा अन्तर न होगा।

अनाज के व्यापारियो को लाभ और मुनाफाखोरी छोड देना चाहिये। कम से कम मे उन्हे संतोष करना चाहिये। अगर वे गरीबो के लिए अनाज का उपयोग नहीं करते तो लूट लिये जाने के खतरे मे पड़ना होगा। उन्हे पडोस वालो के संपर्क मे रहना चाहिये। कांग्रेस वालों को चाहिये उन्हे समय का संदेश दें।

सबसे जरूरी वात यह है कि गॉव-वालो को समझाया जाय कि उनके पास जो है उसकी रक्षा करें और पानी की सुविधा के अनुसार ताजी फसलें तैयार करें। उन्हें वताना चाहिये कि केला, आलू, चुकन्दर, रतालू और सूरन तथा कुछ हद तक कद्दू खाद्य-पदार्थ हैं और आसानी से पैदा किये जा सकते हैं। जरूरत पड़ने पर रोटी का स्थान ले सकते हैं।

पैसो के लिए कताई का सरलता पूर्वक लाभ लिया जा सकता है। "काहिल लोग ही भूखे मरते हैं, मरना ही चाहिये। सब के साथ काहिलों को भी कार्यशील वनाया जा सकता है।"

समतोल भोजन का उदाहरण दिया गया है। उसे गांधी जी की रूप-रेखा मे वैठा कर काम लेने से भोजन की समस्या को सुलझाने मे वहुत वड़ी मदद मिलेगी। इसमे अमीर और गरीव, सबके लिए रास्ता है।

घातक तरीके

१८६. इस समय देश मे भोजन की समस्या उत्कट रूप मे विद्यमान है। तात्कालिक कठिनाइयो को हल करने के अलावा भी राष्ट्रीय समृद्धि के लिए भोजन के प्रश्न पर व्यक्ति और समाज, दोनों को सचेष्ट और सावधान रहना चाहिये। अक्सर देखा जाता है कि जिसको जो मिला, जब भी मिला, और जितना भी मिला, पेट मे भर लिया जाता है। दूसरी ओर दफ्तर, खेत और कारखाने जानेवालो का कोई समय ही नहीं

होता। जितना खाना चाहिये यदि मिला भी तो खाने का मौका नहीं होता। भोजनो के बीच समय और मात्रा का ठीक हिसाब नहीं रहता। ये सारे तरीके व्यक्ति और राष्ट्र, दोनो के लिए घातक हैं। बच्चो के खाने-खिलाने का भी कोई ढंग, कोई सीमा नहीं होती। बच्चे जहाँ नहीं मिलता, भूखो मरते हैं, जहाँ मिलता है गाय-बैल की तरह चरते फिरते हैं। इसलिए सबसे पहले तो भोजन का समय और ढग निश्चित रखना चाहिये। इसके बिना समतोल भोजन की मर्यादा कायम ही नहीं हो सकती।

भोजन और शिक्षण शालाएँ

१६०. भोजन के समय का निश्चित ढग होने मे स्वास्थ्य के लिए हितकर तो है ही, मात्रा भी निश्चित हो जायेगी,—जो होगी उसका पूरा-पूरा लाभ मिलेगा, शरीर शक्ति बढेगी और सामूहिक रूप से राष्ट्र का हित होगा—लोग क्रियाशील होंगे, उत्पादन बढेगा। इस स्थान पर माँ-बाप के समान ही या बल्कि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान अध्यापको का है। इसलिए आवश्यक है कि शाला मे जानेवाले शिशुओ की भोजन-व्यवस्था, यथासभव, शाला से ही सम्बद्ध हो। भोजन की व्यवस्था ही नहीं, उसके उत्पादन और तैयारी मे भी बालकों की प्रमुख रूप से जिम्मेदारी होनी चाहिये। शाला मे स्थान, साधन और परिस्थिति के अनुसार ऐसे खाद्य-पदार्थो के उत्पादन की योजना बनायी जाये जो कम से कम मे अधिक से अधिक और यथासम्भव, पर्याप्त हो सके। शाला की भोजन सामग्री मे उनका उपयोग होना चाहिये। इस प्रकार कृषि और भोजन की व्यापक प्रक्रियाओ द्वारा बालको को श्रेष्ठतम रीति से शिक्षा दी जा सकेगी और ये लोग सच्चे नागरिक बन सकेंगे जिन पर एक सबल राष्ट्र का आधार कायम हो सकता है। केवल तात्कालिक दृष्टि से भी देश की खाद्य-समस्या के सामाधान में इस प्रकार बहुत बडी मदद मिलेगी। दूसरो को इस दिशा मे क्रियाशील होने के लिए प्रेरणा प्राप्त होगी।

(६)

१६१. भारत मे शिशु और बच्चो की समस्या सबसे टेढ़ी है। दूध का भयानक अभाव है; जो होता है वह भी पैसो के लिए घी बना दिया जाता है। बच्चों को समय के पहले ही अनाज पर ढकेल दिया जाता है: गरीबी मे दूसरा चारा भी नहीं दीखता। इसलिए इस प्रश्न को गम्भीरता

पूर्वक हाथ मे लेना है। मजदूरी करनेवाली माताएँ बच्चों को अफीम देकर सुला देती हैं, कुछ तो इसलिए कि जागते शिशु को लेकर कमाई करने मे बाधा होती है और कुछ इसलिए भी कि भूखे बच्चे रोयेंगे; इसलिए इन्हे बेहोश रखना ही रक्षाजनक प्रतीत होता है। नतीजा, दोनों हालत मे यही होता है कि बच्चे आवश्यक पोषण के अभाव मे रोग और मृत्यु के शिकार हो जाते हैं, उनकी शरीर-रचना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। बेचारी ये गरीब स्त्रियॉ स्वयं भी भूखी रहती हैं, बच्चों के लिए इनके स्तन मे दूध भी नहीं होता।

शिशु और बच्चे

१६२. इसलिए, सबसे पहले, शिशु की रक्षा और विकास के लिए, आवश्यक है कि मॉ के भोजन की सम्पूर्ण व्यवस्था की जाये। वस्तुतः गर्भवती और दूध पिलानेवाली मॉ को अतिरिक्त पोषण की जरूरत है जिसका हिसाब नीचे दिया जाता है—

माताओं को अतिरिक्त भोजन

तत्व	अतिरिक्त प्रतिशत
जीवन मान (कैलरी)	२५
नत्रज	५०
चर्बी	१०
फास्फोरस	५०
चूना	१००
लोहा	५०

इसी प्रकार जीवन तत्वो मे भी सुविधानुसार वृद्धि कर देने की जरूरत है।

१६३. शिशु को अवस्था और बनावट (वजन) के हिसाब से प्रति दिन कितने जीवन मान की जरूरत होती है, इसका हम उल्लेख कर चुके हैं। शिशु की मुख्य खूराक माँ का दूध ही है। मॉ के ½ छटॉक दूध से २० 'जीवनमान' प्राप्त होता है। इस तरह एक महीने के बच्चे को १० छटॉक दूध की जरूरत पड़ेगी। यदि ५ बार (आध पाव प्रति बार) पिलाया जाये तो अच्छी दुधार मॉ को भी १५ छटॉक दूध मुश्किल से ही होता है। इसलिए आवश्यक है कि छठे महीने बच्चे को

दुध - मुँहा बच्चा और अन्न

अलग से भी कुछ शुरू कर दिया जाये। छः महीने तक हो सके तो (यदि माँ हृष्ट-पुष्ट और निरोग हो) बच्चे को माँ के दूध पर ही रखा जाये। माँ को दूध बढानेवाली उपयुक्त खुराक देकर, जरूरत के मुताबिक दूध बढाने की भी कोशिश होनी चाहिये क्योंकि माँ के दूध के बराबर कोई गिजा है ही नहीं। इसकी मुख्य श्रेष्ठता इसकी सुपाच्यता मे है। जल्द बिगडता नहीं, छूतिहर दोषो का इसे कम भय रहता है।

१६४. परन्तु यह लापरवाही हर्गिज न होनी चाहिये कि बच्चा माँ का या कुदरती दूध तो पी ही रहा है, इसलिए और कुछ करने की जरूरत नहीं। माँ का स्वस्थ दूध जब तक काफी हो, कोई फिकर नहीं, वरना फौरन आवश्यक प्रबन्ध करना चाहिये। बच्चे को पूरी खुराक मिल रही है, इसकी परीक्षा उसके साप्ताहिक वजन की वृद्धि से की जानी चाहिये। २-३ छटाँक प्रति सप्ताह वजन बढना चाहिये,—न बढ़े तो समझें, पूरी खूराक नहीं मिल रही है। सच यह है कि मिलती ही नहीं। भारत की गरीब स्त्रियो को विदेशी स्त्रियों का तिहाई दूध भी नहीं होता और बच्चे क्षीण और दुर्बल रहते हैं। जिन स्त्रियो को खाना मिलता भी है तो वह इतना तत्वहीन होता है, या भून-बघार कर अथवा अन्य प्रकार के अज्ञान के कारण इतना तत्वहीन बना दिया जाता है कि स्त्रियो को पूरा दूध नहीं होता। जो समर्थ हैं उनके भोजन का तो सुधार करके ठीक किया जा सकता है, परन्तु बेचारी गरीब औरतो का क्या हो?— जिन्हे भरपेट भोजन ही नहीं मिलता हो उन्हे पौष्टिक भोजन की सलाह देना मूर्खता होगी। फिर भी ऊपर हमने भोजनो की जो सूची दी है, जो तरीके बताये हैं उनसे गरीबो को भी उपयोगिता बढ़ाने मे मदद मिलेगी। सस्ते मे भी बहुत कुछ किया जा सकता है।

गरीबी और मातृत्व-सहायक तरीके और खाद्य पदार्थ

इन औरतो को अकुरित अन्नो का विशेष रूप से सहारा लेना चाहिये। दूध के बजाय मथे हुए दूध से भी काम लिया जा सकता है। बिल्कुल न मिलने से तो कुछ अच्छा ही होगा। मट्ठा भी अच्छी चीज है। जो तत्व है वह तो है ही, पाचक और रक्तशोधक होने से अन्य खायी हुई चीजो के गुण को बढायेगा। खाद्यो की सूची मे कई अत्यन्त सस्ती और दुग्धवर्धक चीजें हैं, उन्हे लें। गाय के दूध के अभाव मे बकरी पाल लेने की कोशिश करनी चाहिये। बकरी का दूध "जीवन मान" की दृष्टि से गाय के ही बराबर गुणकारी और सुपाच्य और भैंस के दूध के

दोषों से मुक्त है। इसकी सेवा-सुश्रूषा और खर्च बर्दाश्त करना बहुत भारी न होगा। बकरी अधिकतर पत्तियो पर ही रहती है। कड़ुवी और काँटेदार झाड़ियो मे लम्बी रस्सी से बाँध कर चरायी जा सकती है।

शिशु को माँ के दूध की आवश्यक मात्रा के अभाव मे गाय या बकरी का दूध शुद्ध और संशोधित जल के साथ मिलाकर देना चाहिये, क्योकि सभी दूधो मे माँ के दूध से अधिक नत्रज होता है और बच्चो के पाचन के प्रतिकूल पड़ता है। पानी मिलाने से नत्रज की मात्रा पाचन के अनुसार कम हो जाती है। ताजे शिशु के दूध मे १/२ दूध और १/२ पानी और फिर धीरे-धीरे पानी की मात्रा घटाते घटाते १/४ कर देनी चाहिये। चूँकि पानी मिलाने मे दूध की शक्कर कम हो जाती है, इसलिए शक्कर मिला देना चाहिये। परन्तु चीनी देशी, साफ शक्कर होनी चाहिये—मिल की दानेदार चीनी नहीं क्योकि यह शरीर से चूने का अपहरण कर लेती है। इस तरह दिनभर मे तीन-चार बार और बड़े शिशु को ५-६ बार पिलाने की जरूरत है। दूध उबाला हुआ हो, दूध का बर्तन भी गरम पानी से खूब साफ किया हो।

दूसरे महीने की अवस्था से थोड़ा 'स' भी शुरू कर देना चाहिये यानी संतरा, आम, टमाटर या पपीहते का रस दो-तीन चम्मच देना चाहिये। जिनको सुलभ हो और पसंद हो वे काड मछली का १—२ बूँद तेल भी दूध मे मिला सकते हैं। बड़े बच्चे को १ चम्मच तक दिया जा सकता है। बच्चो को दूध मिलने से शरीर मे 'द' बनता है, इसलिए ऋतु, और स्वास्थ्य का ख्याल रखते हुए धूप और ताजी हवा का खुला लाभ कारना स्वास्थ्यप्रद और शरीरवर्धक है।

लोहे से रक्त बनता है, जो दूध मे पर्याप्त रूप से नहीं मिल पाता। इसलिए दूसरे-तीसरे महीने से किसी न किसी रूप मे लोहा देना जरूरी है वरना बच्चा रक्ताल्पता (अनेमिया) का शिकार हो जायेगा। डिब्बे या बोतलो के दूध से ताजा दूध अच्छा होता है। डिब्बे खुल जाने पर बहुत जल्द खराब हो जाते हैं। यो भी उनका 'स' उत्पादन क्रिया की कड़ी आँच से नष्ट हो चुकी होती है। इसलिए यदि देना ही हो तो संतरे और टमाटर का रस भी देना जरूरी है। आज के बच्चे बचपन से ही कमजोर होते हैं और छोटी अवस्था मे ही चश्मे लगने लगते हैं—इसका एक कारण यह होता है कि कृत्रिम दूधो मे 'अ' नहीं रहता। इसलिए 'अ' मिलना

चाहिए, चाहे जिस रूप मे हो। 'अ' की कमी से आदमी बिलकुल अंधा हो जाता है।

बच्चों को ठोस भोजन छठे महीने के बाद शुरू करना चाहिये। १०वें महीने से केवल गाय के दूध और भोजन पर भी बच्चा रह सकता है। बच्चो के भोजन मे गेहूँ या बाजरे की दलिया, मूँग के दाल का पानी, उबाली हुई सब्जियों का रस, या रोटी और मक्खन या घी और थोड़ा नमक होना चाहिए। १ वर्ष के बाद अनाज और फलों का भर-पेट भोजन दिया जा सकता है, परंतु दूध का प्रबन्ध होना ही चाहिए। नमकीन दलिया मे साग-सब्जी का मिश्रण बडा लाभप्रद होगा।

(१०)

१९५. शोर है कि देश मे अन्न का अभाव है और जनसख्या बे-हिसाब बढ़ती जा रही है। इसलिए पढ़े-लिखे लाग और सरकारी वर्ग मिलकर कृत्रिम मैथुन और गर्भपात आदि के द्वारा जनन-निग्रह के लिए जमीन को सिर पर उठा रहे हैं। इस तरह एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी है। प्राकृतिक मार्ग से लोग विरत होते जा रहे हैं, नैतिक अराजकता का बोलबाला है। परन्तु मजा तो यह है कि इन बावेलों से समस्या मे रत्ती भर भी सुधार नहीं हो रहा है। 'ज्यॉगरफी आव् हगर' के विद्वान लेखक ने विश्व की खेतिहर भूमि और जनसख्या की तुलना मे स्पष्ट कर दिया है—

जनसख्या

"अकाल एक तरह के कुदरती कानून का नतीजा है, इस कथन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस सम्बन्ध मे कुछ बुनियादी आँकडों के विश्लेषण से मालूम होगा कि यह कल्पना कितनी कृत्रिम है। धरती की सतह का ७१ प्रतिशत भाग समुद्र है और बाकी २९% हमारी पृथ्वी का ठोस हिस्सा है। इस पृथ्वी का क्षेत्रफल लगभग ५ करोड़ ६० लाख वर्ग मील है। जिसका ३०% भाग जगल है, २०% भाग मे घासवाले मैदान हैं, १८% भाग पहाडी प्रदेश है, और ३२% भाग उष्ण कटिबन्ध या ध्रुव वृत्त वाला रेगिस्तान है। अमेरिका के कृषि विभाग के विशेषज्ञ रॉबर्ट सॉल्टर और होमर शान्ट्ज के कथनानुसार केवल २ करोड ५० लाख वर्ग मील—पृथ्वी का आधा ठोस भाग—जमीन पर ही खेती के मौजूदा तरीको से खेती की जा सकती है। रेगिस्तान और पहाडी प्रदेश खेती के योग्य नहीं माने जाते, यद्यपि हाल मे कृषि-विज्ञान को ऐसे भागों में खेती करने मे अच्छी सफलता मिली है। यह सीमित हिसाब भी मनुष्य जाति को खेती के लिए कोई १६ अरब एकड जमीन देता है. दूसरे शब्दो में दुनिया

की मौजूदा आबादी के हिसाब से हर एक आदमी को ८ एकड जमीन खेती के लिए मिलती है। खेती और पोषण के विषय मे प्रमाण माने जानेवाले विशेषज्ञो ने, पोषण के आधुनिक ज्ञान के प्रकाश मे, खेतीवाले भाग और खुराक की पैदावार के परस्पर सम्बन्ध का अध्ययन करते हुए यह अन्दाज कूता है कि प्रति मनुष्य लगभग २ एकड़ जमीन युक्ताहार के अनिवार्य पोषक तत्व मुहैया कर सकती है। इस अनुपात से खेती की जाय तो दुनिया की खेती लायक जमीन का एक चौथाई भाग भी उपयोग मे आयेगा; उसी से दुनिया की सारी आबादी को पूरी खुराक मिल सकेगी। अभी तक पृथ्वी का जोता जानेवाला भाग २ अरब एकड़ की हद तक यानी धरती की कुल खेती लायक जमीन के ⅕ तक भी नहीं पहुँचा है। इससे जाहिर है कि भूख और अकाल किसी कुदरती कानून के नतीजे नहीं हैं।" (ज्यागरफी आव् हगर', पृष्ठ २१-२२, हरिजन सेवक ३१-५-५२ से उद्धृत)

वस्तुस्थिति यह है कि एक शक्तिशाली वर्ग जन नजर के सामने जनसंख्या के काले बादल खडा करके सत्य उसकी आँखो से छिपा रखने पर तुला हुआ है क्योकि इसी मे उसका स्वार्थ निहित है। अतः इस रहस्य का भण्डा फोड़ किये विना भारत मे अन्नाभाव की समस्या को हम न तो समझ सकेंगे और न उसे हल करने के लिए किसी सही और सम्मिलित चेष्टा में लोग अपनी व्यक्तिगत शक्ति और साधन का योग दे सकेंगे।

जनसंख्या बढ़ी है, हम इससे इनकार नहीं करते, परंतु 'जन-वृद्धि' एक शुद्ध सापेक्ष (रिलेटिव) तथ्य है। जन-वृद्धि के साथ यदि साधनो की कमी हो तो उसे जन-वृद्धि कहेगे। यदि जन-वृद्धि के होते हुए भी भोजन के साधन पर्याप्त हो तो फिर जन-वृद्धि का महत्त्व ही क्या रह जाता है? घवड़ाहट क्यो हो? भारत मे जितनी जमीन जोती-बोयी जाती है उसकी कई गुना जमीन बेकार परती पडती है।

जनन निग्रह नहीं, उत्पादन बढ़ाने की जरूरत

१६६. इतना ही नहीं। प्रति बीघा या प्रति एकड़ पैदावार की औसत भारत मे दुनिया के सभी देशो से कम और दुनिया की औसत के दसवें हिस्से से भी कम है। भारत की जल-वायु और मिट्टी अधिकाधिक उपज के लिए परम उपयुक्त है, इसलिए थोडी सी चेष्टा से केवल मौजूदा जमीन मे ही पैदावार कई गुना बढ़ायी जा सकती है। पैदावार बढ़ाने मे सरकार और समाज की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है, परंतु व्यक्तियों की जिम्मेदारी उससे कम नहीं होती। अतः आवश्यकता

इस बात की है कि पैदावार के सम्बन्ध में प्रत्येक आदमी व्यक्तिगत रूप से सही दृष्टि और सही तरीकों को अपनाये और फिर सब मिलकर ऐसी सामूहिक चेष्टा में लगें कि भारत की कुल पैदावार बढ़ जाये। व्यक्तिगत चेष्टाओं के समुच्चय बिना सामूहिक सुख-समृद्धि की सच्ची स्थापना हो ही नहीं सकती। केवल सरकारी कानूनों से विश्व का विकास नहीं हो सकता।

इसलिए स्वाभाविक प्रश्न यही होता है कि कृषि योग्य जमीन को बढ़ाया जाये या गर्भपात शुरू किया जाये? "यह तो ठीक उसी तरह है जैसे खाट छोटी होने पर लम्बे आदमी के पाँव काट देने की सलाह दी जाये" (प्रो० एम० एल० दोशी,—"क्या जनन निग्रह भारतीय दरिद्रता का समाधान है?"—अमृत बाजार पत्रिका, ३-६-५०)। निस्संदेह, गर्भपात और भ्रूण-हत्या के बजाय उपज और उपजाऊ जमीन को बढ़ाना ही सही दिमाग का सबूत होगा।

हमने शुरू में ही दिखाया है कि केवल वनस्पति घी की मिलों को चालू रखने के लिए लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन में मूँगफली पैदा की जाती है और लाखों परिवार के अन्न का साधन छिन गया है। उसी प्रकार सफेद चीनी और जूट की मिलों को चालू रखने के लिए गन्ने और जूट की खेती में लाखों एकड़ अन्न योग्य जमीन को फँसा दिया गया है। परिणामतः साधन सम्पन्न उद्योगपति और उनसे प्रभावित उद्योगवादी वर्ग जनवृद्धि का शोर मचाने लगा है ताकि जनता का ध्यान भी अपने अपहृत जीवन साधन की ओर न जाने पाये।[१]

जनसंख्या के तुलनात्मक आँकड़े

१९७. अब जरा प्रश्न की गहराई में उतरिये। भारत में जनवृद्धि हुई है, दूसरे देशों में भी जनवृद्धि हुई है, परन्तु अन्य देशों की तुलना में भारत की जनस्थिति क्या है इसका गौर से अध्ययन करने की आवश्यकता है। ऐसे उदाहरणों से साफ हो जायगा कि भारत में जनवृद्धि की असलियत क्या है?

---

१. अमृत बाजार पत्रिका में १३-६-५० को पी० टी० आई० का एक समाचार छपा है—"दिल्ली की आबादी जनवरी और मई '५० के बीच ४२००० घट गयी है क्योंकि रसद विभाग ने जाली कार्डों को रद्द कर दिया है। ऐसे ही जाली प्रमाणों पर लोग जन-वृद्धि का अस्तित्व कायम करना चाहते हैं। दिल्ली ही नहीं, अहमदाबाद और अन्य स्थानों पर भी ऐसा ही हुआ है।

वर्ष	जनसंख्या, प्रति वर्ग मील[1]			१८७१ के आधार पर एक तुलनात्मक अध्ययन		
	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड	भारत	फ्रांस	इङ्गलैण्ड और वेल्स
१८७१	२१५	१७४	३८६	१००	१००	१००
१८८१	२२७	१८२	४४५	१०५·१	१०४·६	११४·४
१८९१	२२६	१८५	४६७	१०६·५	१०६·३	१२८
१९०१	२१०	१८८	५५८	९७·६	१०८	१४३·४
१९११	२२३	१८९	६१८	१०३·६	१०८·६	१५८·८
१९२१	२२६	१८४	६४९	१०५·१	१०५·७	१६६ ८

	इङ्गलैण्ड	फ्रांस	भारत
पिछली अर्धशताब्दी की वृद्धि	६६·८	५·७	५·१
प्रति दस वर्ष की औसत वृद्धि, प्रतिशत	१३·३	१·१५	१·०

नोट :—साधारणतः १०% प्रतिशत वृद्धि होनी चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि भारत मे जन-वृद्धि की कोई समस्या नहीं है।

१, राजस्व और हमारी दरिद्रता (अंग्रेजी, पृष्ठ १०४ से उद्धृत)।

एक दूसरा आँकड़ा देखिये—

"भारतीय जनवृद्धि की मन्द प्रगति"[1]

(१८८१ से १९३१ ई० तक)

संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका)	१८६·०
जापान	७४·१
ब्रिटेन	५५·१
इटली	४०·८
स्विटजरलैण्ड...	४३·५
जर्मनी	४२·२
भारत	३९·०
स्पेन	३०·८
फ्रास	११ ३

१९८. इस प्रश्न पर एक दूसरे पहलू से भी विचार कीजिये। मद्रास सरकार के स्वास्थ्य संचालक डा० ऑक्रॉयड लिखते हैं—" .. .. मैं जन्म-निरोध का नाम भी नहीं लेना चाहता क्योंकि भारत में वह सर्वथा असभव है। परन्तु जनता को यदि स्वस्थ जीवन के तरीको को समझाया जाये तो उसका असर अवश्य होगा। मद्रास शहर के एक भाग मे इसका ऐसा ही नतीजा हुआ। मैं जब मद्रास शहर (१९२४-२५ ई०) की जन-संख्या का निरीक्षण कर रहा था तो मुझे यह देख कर बडा आश्चर्य हुआ कि नगर के ब्राह्मण और युरोप निवासियो की जनसंख्या करीब-करीब बराबर निकली। इतना ही नहीं। जैसे-जैसे हम अन्य वर्गों में सामाजिक व्यवस्था के अनुसार नीचे उतरते गये जन-वृद्धि की गति उतनी ही तीव्र मिली। सबसे नीचे पहुँच कर वह ब्राह्मणों की दूनी मिली। इससे मैं इसी नतीजे पर पहुँचा कि यदि स्वास्थ्य की शिक्षा का प्रसार हो तो अधिक जनसंख्या का प्रश्न ही नहीं उठेगा।"[3]

दूसरा पहलू

१९९. हमारे सामने इस तरह दो बातें आयीं (१) पहले तो यह

---

१ प्रो० एम० एल० दोशी, अमृत बाजार पत्रिका ३-६-५०

२ 'पापुलेशन ट्रेन्ड इन इण्डिया'—बी० के० मुका, प्रो० दोशी द्वारा उद्धृत।

३ हमें क्या खाना चाहिये, पृष्ठ ८३ से उद्धृत

कि भारत मे जन-वृद्धि की समस्या नहीं है ; जन-वृद्धि का हव्वा इसलिए खड़ा किया जाता है कि हम सच्चाई को समझ न सकें और भारत के औद्योगीकरण मे बाधक न हो; बल्कि उलटे भारत को जल्द से जल्द औद्योगीकरण के रास्ते पर पहुँचा दें क्योकि हमे जन-वृद्धि से डरा कर इससे बचने के दो ही रास्ते बताये जाते हैं—

दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष

(अ) जनन निग्रह
(ब) औद्योगीकरण

चूँकि जनन निग्रह का प्रश्न पूरी तरह और फौरन हल नहीं होता, इसलिए ख्वाह-म-ख्वाह औद्योगीकरण का समर्थन करना पड़ेगा।

(२) दूसरी बात यह बनती है कि जन-वृद्धि को संयत करने के लिए जनता का जीवन स्तर ऊँचा करना होगा। जीवन स्तर ऊँचा होने का एक यह भी मतलब होता है कि लोगो को पेट भरने के लिए पशुवत् परिश्रम करना पड़े यानी भोजन की समस्या के वास्तविक हल के लिए लोगो को भोजन की ओर से अधिक से अधिक निश्चित बनना होगा।

परन्तु जब हम यह देखते हैं कि इङ्गलैण्ड का जीवन स्तर ऊँचा होते हुए भी वहाँ आबादी बढ़ रही है तो हमारा ध्यान एक और ही बात पर जाता है : वह यह कि जन-वृद्धि का मूल कारण ही औद्योगीकरण है। ऊपर डाक्टर ऑकरॉयड ने स्पष्ट तौर से साबित किया है कि जन-वृद्धि मे स्वास्थ्य और सफाई के प्रभाव का बहुत बड़ा हाथ है। औद्योगीकरण का मतलब शहरी सभ्यता है और शहरी सभ्यता अस्वस्थकर वातावरण की जननी है (देखिये जाथार और बेरी का 'इण्डियन एकॉनॉमिक्स', जिल्द १)। औद्योगिक केन्द्रों मे ठसाठस भरमार के कारण लोग चूहो की तरह बच्चे पैदा करते हैं—खेतिहर और औद्योगिक जनता की तुलना से यह बात साफ हो चुकी है और इस पर नवभारत मे काफी विस्तार से लिखा जा चुका है। यहाँ सिर्फ इतना ही कहना है कि भोजन की समस्या को हल करने के लिए अव्वल तो जन वृद्धि का प्रश्न नहीं है। जो है वह

(१) गरीबी
और
(२) औद्योगीकरण की वृद्धि
के कारण है।

भोजन की समस्या को हल करने के लिए सब से पहले इन दोनों कारणों को दूर करना होगा या, कम से कम, रोक थाम करनी होगी।

२००. जीवन स्तर को ऊँचा करना और गरीबी को दूर करना—दोनों के एक ही मानी हैं। इसका मतलब यह है कि उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाया जाये, परन्तु उत्पादन की इस वृद्धि की शर्त यह होनी चाहिये कि बेकारी न बढ़े। पर हम देखते हैं कि औद्योगीकरण की तीव्रता के साथ बेकारी भी तीव्र होती जाती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हमारे उत्पादन-क्रम का विस्तार चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण के आधार पर ही हो, उत्पादन क्रम का यही एकमात्र रास्ता है जहाँ शत-प्रति-शत रोजी का विधान हो सकता है। मिलें अधिक से अधिक स्थान और अधिक से अधिक धन लेकर कम से कम लोगों को रोजी देती हैं। चर्खात्मक उद्योग-व्यवस्था मे ठीक इसी का उलटा होता है।

उत्पादन की विकेन्द्रित वृद्धि आवश्यक है

हमने पुस्तक के प्रथम खण्ड में वनस्पति मिलों की पूँजी और कार्यकर्ताओ की तुलना से देखा है कि २२३ करोड़ की पूँजी से कुल १५००० हजार आदमियों को काम मिला जब कि उतने ही से चर्खात्मक विधान मे ६००००० लोगों को काम दिया जा सकता है। इसी प्रकार केवल ४००००००) की पूँजी से चर्खासंघ ने जितने बड़े दायरे मे काम किया, जितने लोगो को काम दिया, उतने मे एक मिल भी थोडे से आदमियों को लेकर कुछ एकड़ जमीन मे मुश्किल से काम कर पाती। भारत की मिलों मे जितनी पूँजी लगी है उतने से कितने लोगो को रोजी मिली है? और फिर हिसाब लगाइये कि उतने ही से विकेन्द्रित आधार पर कितने बडे दायरे मे कितने लोगो को काम और रोजी दी जा सकती है। इस स्थान पर मिलवाले कहते हैं कि जो लोग इस तरह बेकार होते हैं, उन्हे दूसरे धन्धों मे लगाया जा सकता है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों की बहुतायत को ही वे तरक्की मानते हैं। यह भिन्न-भिन्न प्रकार के काम क्या हैं?—खेती के बजाय चाक मिल और सोप फैक्टरी, घानी के बजाय वनस्पति का उत्पादन, लिपस्टिक, और नेल पॉलिश के कारखाने, गुड़ और चीनी के बजाय चीनी मिलों में 'अलकोहल' तैयार करना इत्यादि-इत्यादि। क्या इसी को सच्चा कार्य कहेंगे जिससे जीवन की आवश्यकताएँ

केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का एक तुलनात्मक उदाहरण

दूर होने के बजाय उलटे नयी आवश्यकताएँ और नये रोग पैदा हो जायँ ?

२०१. इस सम्बन्ध में जीवन स्तर ऊँचा करने का हव्वा खड़ा किया जाता है। पहले तो हम यह पूछते हैं कि उस ऊँचे स्तर का अर्थ ही क्या जहाँ १० के लिए सिनेमा, सिगरेट, रेडियो और नाचघर की व्यवस्था हो और ९० को कुष्ट और क्षय से गल-गल कर कीड़े-मकोड़ो की तरह मरने के सिवा दूसरा रास्ता ही न हो। और फिर, सचमुच, ऊँचा स्तर क्या है ? शुद्ध अनाज, शुद्ध दूध, घी, प्राकृतिक जीवन और प्राकृतिक आनन्द मनोरञ्जन को छोड़कर नकली सामान और नकली जीवन, रोटी के बजाय सिगरेट, कॉन्ट्रासेप्टिव्, लिपस्टिक, और हम्माम साबुन, दुग्धालयो के बजाय मदिरालय, प्रसूति गृहो के बजाय गर्भपातालय—क्या यही ऊँचा स्तर है ?

जीवन स्तर

२०२. अमृत बाजार पत्रिका (३-६-५०) मे प्रो० दोशी और सरदार के० एम० पणिक्कर ने विद्वत्तापूर्वक हर पहलू से, वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक रीति से सिद्ध कर दिया है कि यही नहीं कि १९वीं सदी के व्यापक अनुभवो ने मालथस के बहु-प्रचारित जन-सिद्धातो को गलत ठहराये हैं, बल्कि यह भी कि भारत मे न तो जन-वृद्धि की समस्या है, और न भारतीय परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जो हमे जनन-निग्रह की प्रेरणा दें। प्रश्न यह अवश्य है कि उत्पादन बढ़ाया जाये। हम मानते हैं कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए हमारे ढंग और साधन युग और परिस्थितियो के अनुसार उत्कृष्ट आकार और प्रकार के होने चाहिये, परन्तु इसका यह मतलब हर्गिज नहीं होता कि चर्खे के बजाय हम सूती मिलो का जटिल व्यूह खडा कर दें। अधिकतम उत्पादन के लिए हमे अपने औजारो और तौर-तरीको मे अधिकतम सुधार अवश्य करना है, परन्तु इसके पीछे जो क्रियात्मक शक्ति है, स्वावलम्बन और स्व-सम्पन्नता की जो सञ्जीवनी शक्ति है, उसकी रक्षा करते हुए। यह कार्य औद्योगिक केन्द्रीकरण से नहीं, चर्खात्मक विकेन्द्रीकरण से ही सम्पन्न होगा। जन-संख्या और भोजन की अन्योन्याश्रित समस्या को इसी तरह और केवल इसी तरह हल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे अमृत बाजार पत्रिका (१५-६-५३, सम्पादकीय) ने विद्वत्तापूर्वक सर्वाङ्गीण समीक्षा करते हुए लिखा है "हमे यह हर्गिज न भूलना चाहिये कि जन-वृद्धि साधारणतः

जनवृद्धि और अधिक उत्पादन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध, विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति की जरूरत

इन्हीं क्षेत्रो मे होती है जो बहुत घने आबाद हैं, जिन क्षेत्रो की आबादी कम है वहाँ जन-वृद्धि का कोई उल्लेखनीय प्रमाण नहीं मिलता।…… हमारे देश मे शहरो की आबादी अत्यधिक बढ़ती जा रही है और गाँव वीरान होते जा रहे हैं।…… …यदि आबादी का समान रूप से बँटवारा हो सके तो रोग को एक बहुत बड़ी हद तक मिटाया जा सकता है।…… और जनसख्या इस प्रकार समान वितरण, कृषि और ग्रामोद्योगों के समुत्थान से ही सभव है … ।"

२०३. अतएव जन-वृद्धि और जनन-निग्रह के बावेलों को छोड़कर हमें सही तौर से काम मे लगने की जरूरत है, सम्मिलित रूप से, सहयोग और सद्भावनापूर्वक। जरा सोचिये कि प्रकृति ने आखिर स्त्री और पुरुष को बनाया ही क्यो और इनके सहयोग का प्राकृतिक परिणाम भी क्या होता है? परन्तु इन जनन-निरोधकों ने प्राकृतिक कार्य को ही दोष घोषित कर दिया है। परिवार मे हँसते-खेलते हुए बच्चों को देखकर खुश होने के बजाय ये लोग मातम मनाते हैं; मातृत्व के पुण्य पर्व को इन्होंने असामाजिक कृत्य और देश-द्रोह का रूप दे दिया है। कैसा पाप और कैसी धोखादेही है कि काम करके उसके नतीजे की जिम्मेदारी यह नहीं लेना चाहते, ठीक उसी तरह जैसे किसी को मारकर कोई हत्यारा न बनना चाहे।

प्राकृतिक और अप्राकृतिक जीवन

२०४. परन्तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि इन प्रकृति-द्रोहियों को आप निःशस्त्र नहीं कर सकेंगे जब तक कि आप अनाज, दूध और फल के बजाय लिपस्टिक, मिल की चीनी, वनस्पति घी, नेल-पालिश, चाकलेट और आइसक्रीम की माँग करते रहेंगे। इस तरह गैर-जरूरी चीजों को जरूरी बना देने से उसी घातक औद्योगीकरण और परिणामतः गर्भपात और भ्रूण-हत्या की जरूरत रहेगी। हिन्दुस्तान मे भले ही जन-वृद्धि की समस्या न हो, जनन-निग्रह की जरूरत पैदा कर दी जायेगी, जवाहरलाल और राजेन्द्र बाबू से इसके लिए कानून भी बनवा लिया जायेगा।

प्रकृति - द्रोहियों को निःशस्त्र करने का सही उपाय

(११)

२०५. भारत की खाद्य समस्या इसलिए और भी कटु हो गयी है

कि सभी अन्न पर टूट पड़े हैं। हमने यही समझ लिया है कि पेट भरने का एकमात्र सहारा अनाजो का है। सभी अनाज पर टूटते हैं जब कि अनाजों से शक्ति (जीवन मान—कैलरी) तो भले ही मिल जाती है, पर शरीर संरक्षक तत्वो की पूर्ति नहीं होती।

खाद्य समस्या कटुतर क्यों है !

हमने आहार तत्वो का अब तक जो अध्ययन किया है, उससे हम समझ चुके हैं कि शरीर के लिए अन्न से अधिक आवश्यक बहुत सी दूसरी चीजें हैं। अन्न के लिए जितनी जमीन, जितना साधन और शक्ति की आवश्यकता पड़ती है दूसरी चीजों के लिए इतनी जरूरत नहीं पड़ती। यदि हम इस बात को ध्यान मे रखें तो प्रति व्यक्ति जितनी जमीन उपलब्ध है, उतने मे ही बहुत कुछ किया जा सकता है। खेतिहर जमीन पर जो दबाव पड रहा है वह भी हलका हो जायेगा, अन्न के लिए हाय-हाय भी कम हो जायगी, और हम आसानी से थोड़े मे ही बहुत ज्यादा सुख और शक्ति प्राप्त कर सकेंगे।

२०६. गाँव का एक गरीब आदमी है। उसके पास खेती के लिए काफी जमीन नहीं है। खेती के लिए न तो सहायक लोग हैं, और न हल-बैल और सिंचाई का साधन प्राप्त है; बीज के लिए पैसे नहीं। एक छोटी सी घास फूस की झोपड़ी मे स्त्री-बच्चों को लेकर दीन—दरिद्र की भाँति गुजर करता है और अन्न की मुँहताजी मे जानवर की तरह दम तोड़ता हुआ मरता फिरता है। फिर भी अच्छा और पूरा अन्न नहीं मिलता। इस बेचारे को यह नहीं मालूम कि यदि पेट भर अन्न मुयस्सर भी हो जाये तो शरीर मे बल और मेधा नहीं उत्पन्न होगी जब तक दूध, घी, साग-भाजी, फल और अन्य चीजें न प्राप्त हो। उसे यह नहीं समझाया जाता कि यदि वह अन्न के मोह को कम कर दे तो उसके साधनों मे अपने आप वृद्धि हो जायेगी। अब इन्हीं बातो पर विचार कीजिये—

अन्न के मोह को त्यागने से खाद्य साधनों में वृद्धि

(१) केला एक बड़ा ही उत्तम लौह प्रधान फल है। कच्चे केले की तरकारी बड़ी पौष्टिक और सुपाच्य तरकारी होती है। केले के फूल मे जीवन तत्व 'अ' का प्राचुर्य है। पक्का केला भी उसी प्रकार गुणकारी फल है। यह ठोस भोजन के रूप मे भी प्रयुक्त होता है, यहाँ तक कि जब केले

केला

का पेड़ काट दिया जाता है तो उसके डंठल की भी उत्तम तरकारी बनती है। और यही केला बिना हल-बैल, बिना जमीन और बीज, के ही पैदा होता है। झोपडे के चारों ओर लगा दीजिये। अच्छा सुन्दर बाग तैयार रहेगा। भोजन देता रहेगा। घर की नालियों से ही इसकी सिंचाई हो सकती है।

(२) कद्दू—बहुत अच्छी सब्जी है। भर पेट तरकारी देने के अलावा इसके बीज से उत्तम प्रकार का तेल निकाला जा सकता है। और यह कद्दू होता कहाँ है ? झोपडे के ऊपर बेचारा फैला रहता है, फल देता रहता है। झोपडा न हो, घर हो तो भी थोडे से झाड झंखार पर फैलाया जा सकता है। दस-पाँच पेड में १०-५ घड़े पानी बहुत होते हैं। यदि ठीक तरह से देख-भाल की जाये तो जाडा, गर्मी, वर्षा—१२ महीने हमे भरा-पूरा रख सकता है।

कद्दू

बहुत से साग हैं जो बहुत आसानी से, बहुत थोडी जगह मे पैदा हो सकते हैं। यहाँ तक कि शहरो में गमलो मे पैदा किये जा सकते हैं। अक्सर शहरो मे भी इतनी जमीन मिल जाती है कि साग और सब्जी आसानी से बिना किसी परिश्रम के उत्पन्न हो जाये।

गाँवो मे जिन्हे जमीन उपलब्ध है, वे अनाज ही पैदा करे, ऐसी बात नहीं। कन्द, मूल, फल मे कम जमीन, कम साधन और अधिक सपोषण और संरक्षण प्राप्त होता है। शर्त तो यह है कि हम कुछ करना चाहें, वरना कुछ होगा नहीं।

गाँधी जी ने भोजन के प्रश्न पर बहुत कुछ लिखा है, पूर्ण वैज्ञानिक, आर्थिक और राजनीतिक ढग से प्रत्येक पहलू पर सुझाव दिया है। उनके लेखो का संकलन "खूराक की कमी और खेती" के नाम से नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है। 'हमे क्या खाना चाहिये'—यह पुस्तक ग्रामोद्योग संघ, वर्धा से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार और भी अपार साहित्य भरा पडा है। हमे उनसे दिशा प्राप्त करनी चाहिये, जनता को इस ओर जागृत और सचेष्ट करना चाहिये ताकि लोग अपना दुख दूर करने के लिए अपने पैरों पर खडे हो। सरकार की ओर मुँह उठाये पड़े रहने से बात बनेगी नहीं, बिगड़ती जायेगी। सरकार अकेले कुछ कर भी नहीं सकती। जनता को

भोजन की समस्या को आन्दोलन रूप से चलाने की जरूरत है

स्वावलम्बी बनना चाहिये। इसीमें हित है। यदि हम सरकार के भरोसे पड़े रहेंगे तो सरकार को पूँजीपतियो और विदेशियो के दरवाजे पड़ा रहना पड़ेगा और देश आजाद होकर भी गुलाम बना रहेगा। आज जो सचमुच देश को सुखी और सम्पन्न देखना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि भोजन के प्रश्न पर आन्दोलन रूप से कार्य प्रारम्भ करें, जनता को योजना-पूर्वक अपना प्रश्न स्वयं हल करने के लिए तैयार करें। सच तो यह है कि जो जनता की रोटी का प्रश्न हल करेगा, जनता उसी की होगी, और इसी-लिए आज भारत की सच्ची राजनीति भी भोजन की राजनीति है।

(३) भोजन की समस्या को हल करने के लिए अन्य आवश्यक बातें भी हैं, जैसे सहकारिता, सिचाई, ग्रामोद्योग, वस्त्र, स्वावलम्बन आदि। इन सारी वातो का रचनात्मक ढङ्ग से अध्ययन करके स्वावलम्बी रास्ते निर्धारित करने की जरूरत है। हम चाहे तो बहुत कुछ कर सकते हैं, बशर्ते कि मिल-जुल कर काम करने पर तुले हो। आज देश भर मे पंचायतें काम कर रही हैं; इनका बहुत सा समय लड़ने-झगड़ने मे जाता है। इन्हें जीवन के मूल प्रश्नो पर झगड़ा छोड़ देना चाहिये। लोगो को अधिकारो के लिए लड़ना छोड़कर तथ्य को पकड़ना चाहिये—कुछ कम या कुछ ज्यादा, नीचे या ऊँचे, यदि हमें अपने जीवन को सुखी बनाने का मौका मिलता है तो व्यर्थ झगड़े-फसाद मे गाडी रोक कर बैठे रहना अनर्थ होगा और अंत मे अवसर भी हाथ से निकल जायेगा। गाधी जी अंग्रेजो को हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंकने पर तुले हुए थे; उनसे बढ़कर असहयोगी संसार मे पैदा हुआ ही नहीं, परन्तु भोजन के प्रश्न पर उन्होने भी अंग्रेजो से सहयोग की सलाह दी थी। यही दृष्टि हमारी होनी चाहिये।

अन्य उपाय

पंचायतो को समर्थ बनाने से सहकारिता को बल मिलेगा, भोजन की अन्य समस्याओ को हल करने मे मदद मिलेगी, सिंचाई का काम आसान बनाया जा सकेगा, पशुओ के चरागाह की समस्या को हल किया जा सकेगा।

दूध-दही की दृष्टि से पशुओ का प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज गॉव के जानवरो को कहीं चरने का ठिकाना नहीं रह गया है। गाय-बैल ही नहीं रहेगे तो हमारी खेती क्या होगी ? दूध-दही कहाँ से मिलेगा ?

आदमी के भोजन के लिए जानवर के भोजन की समस्या को हल

करना होगा। जानवरो को हरा चारा मिलना चाहिये—इस सम्बन्ध मे हमे योजना और सतर्कतापूर्वक काम करने की जरूरत है।

(१२)

२०७. जनसंख्या के समान ही भारत को अकाल का देश कहा जाता है। प्रचार यह है कि यह मानसून का देश है,—कभी सूखा पड़ता है, कभी अति वृष्टि से फसलें नष्ट हो जाती हैं।

परन्तु सत्य यह है कि भारत में ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ है अकालों की गति और भीषणता, दोनों बढ़ती गयी हैं। '४३ का बङ्गाल का अकाल तो दुनिया के सारे इतिहास मे अपना कोई नमूना ही नहीं रखता। इससे साफ हो जाता है कि यदि अकालों का कारण केवल मानसून या अन्य प्राकृतिक दोष होता तो रेल, तार, जहाज, यातायात तथा अन्य सरकारी और गैर-सरकारी साधनों की वृद्धि के साथ इसमे कमी होनी चाहिये थी, परन्तु ऐसा हुआ नहीं—क्यों? क्योंकि भारत का आर्थिक गठन ही इस प्रकार से किया गया था कि इसे भूखों मरना पडे। और अब तक आजाद होकर भी हम लोग आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन के बजाय अनावश्यक वस्तुओ की वृद्धि मे लग रहे हैं। विज्ञान का अवैज्ञानिक और प्रकृति का अप्राकृतिक प्रयोग ही हमारा कार्य-क्रम बन गया है, और इसीलिए अन्य देशों के समान ही हमारे रोग और हमारी निरीहता बढती जा रही है। इस गलत दृष्टि का परित्याग करना ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन धर्म होना चाहिये वरना समूह, समाज और राष्ट्र कभी सुखी हो ही नहीं सकता। समाज और देश के दुखी और दुर्बल होने से व्यक्ति कभी सुख पा ही नहीं सकता।

अकाल और उसके कारण

२०८. भारत को अंग्रेजो ने कच्चे माल का उत्पादक बना दिया; यहाँ के सारे उद्योग-धन्धो को उन्होंने नष्ट कर दिया। नतीजा यह हुआ कि अधिकतर लोग तो कोरे अनाज की खेती पर निर्भर हो गये यानी खेत में किसी तरह फसल खडी करके काट देना ही उनका काम रह गया। वास्तव मे खेती पूरी ही नहीं होती जब तक उसकी सारी प्रक्रियाएँ पूरी न हो। गेहूँ, तेलहन या कपास की खेती के मानी हैं आटा, तेल और कपड़ा। इन कार्यो के गाँव मे न होने से खेती अपूर्ण रह गयी,

ग्रामोद्योगों का अभाव और अकाल

लोग बेकार होकर भूखो मरने लगे। यह बेकार और क्षुधा पीड़ित समुदाय मिल, शहर या सरकारी दफ्तरो की नौकरी पर हिलने-डोलने लगा। स्वतंत्र जीविका का कोई जरिया रहा ही नहीं। यहाँ तक कि गाँवों में तेली तक न रह गये, लोग मिलो के तेल के आश्रित हो गये। आटा और धान की भूसी भी मिलो मे छुडाई जाने लगी। इस तरह एक ओर तो जमीन इतने लोगो को अन्न देने मे असमर्थ होने लगी, दूसरी ओर शहर और कारखानों की तेजी-मंदी के साथ लोग डूबते-उतराते रहे। लोग अपना कच्चा माल अंग्रेजो के हवाले करके उनकी मर्जी पर जीते-मरते रहे।

भारत की राजनीतिक शक्ति बढ़ने पर भी इस हालत मे सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसे तो कारखानों के लिए कच्चे माल का उत्पादक मात्र बना रखा गया था। गन्ने, जूट, कपास--इन चीजो के उत्पादक और विकास पर जितना जोर दिया गया, अन्नादि पर नहीं। अव्वल तो जूट और गन्ना, गेहूँ या चावल बन कर पेट नहीं भर सकता था और दूसरे जूट और गन्नेवाले भी तो मिलो के ही क्रीत दास रूप स्थित थे।

२०६. ग्रामोद्योगो को पुनर्जीवित करके खेती के बोझ को दूर कर देने की जरूरत है। ग्रामोद्योगो के बिना अन्न पर जो दबाव पड़ता है, वह कम नहीं हो सकता। किसान को कपड़े के लिए, मिट्टी के तेल के लिए, साबुन के लिए—सभी के लिए अन्न को पैसो के भाव पर बेंच देना पड़ता है। यदि खादी, तेल घानी, शहद, साबुन तथा अन्य चीजें गाँव मे ही ग्रामोद्योग रूप से तैयार हो तो इनसे किसान को आर्थिक बल भी मिलेगा और अन्न पर का दबाव भी कम हो जायेगा। उसी प्रकार यदि किसान को उत्तम प्रकार के बीज आसानी से न मिलें तो अच्छा अन्न पैदा करना किसान के लिए असम्भव हो जायेगा। जब तक अच्छा और काफी अन्न पैदा नहीं होता, खाद्य समस्या हल हो ही नहीं सकती। अतः सिचाई के लिए, बीज के लिए, सरल और सुगम पंचायती तरीके और महाजनी तथा अन्य क्रय-विक्रय के लिए सहकारिता को सक्रिय बनाने से ही खाद्य समस्या हल होगी।

ग्रामोद्योगों के अभाव से कृषि पर दबाव

खाद्य समस्या और सहकारिता

भारत की खाद्य समस्या के सम्बन्ध मे खाद्यो की बर्बादी को रोकने की सख्त ज रत है। बर्बादी कई तरह से हो रही है :—

खाद्यों की बर्बादी

(१) खाद्यों को इस तरह बनाना-खाना कि उनके गुण नष्ट हो जाते हैं जैसे हरी सब्जी को बहुत भूनना, बघारना या मसाला देना। ऐसे तत्वहीन पदार्थ से पेट भर लेने से भूख भले मिट जाये, शरीर को लाभ नहीं होता। इसका सीधा सा मतलब यह है कि उनने से व्यक्ति वंचित रह गया। ऐसे व्यक्तियों के जोड का मतलब है राष्ट्र का एक बहुत बडा भाग खाद्यो से वंचित हो गया। साग-सब्जी ही नहीं, चावल को धोकर बहा देना, बार-बार ताजी चीजों के लिए खेत या बाजार जाने के डर से एक बार ही खरीद कर रख लेना और खाते रहना, चाहे सूख कर, सड कर, उनका गुण विनष्ट हो चुका हो, अच्छा नहीं। ऐसी जो चीज, जितनी भी खायी जाये, शरीर की आवश्यकताओं की उनसे पूर्ति नहीं होती। यानी उतने खाद्य की समस्या खडी हो जाती है।

(२) दावतों मे पूरी पकवान मे अन्न की बर्बादी, लोगों को ठूंसना। यह सब फौरन रुकना चाहिये।

अगर दावतें देना ही जरूरी हो तो पीछे बताए हुए पेय और नाश्तों से काम लिया जाए, और वह भी कम से कम मात्रा मे, कम से कम बार। इस प्रकार खानेवालो को जो कुछ मिलेगा सतुलित होगा, और इधर अन्न तथा चिकने की आवश्यक बचत भी हो जायेगी। जो लोग शुद्ध घी वगैरह नहीं इस्तेमाल करते वे अन्नादि का नाश तो करते ही हैं, खानेवालो को भी मुसीबत मे डालते हैं क्योकि ऐसी चीजें सरासर स्वास्थ्य को खराब करनेवाली होती हैं।

(३) अक्सर घरों मे देखा जाता है कि खाना जरूरत से ज्यादा बना लिया जाता है या जबरदस्ती परस दिया जाता है और वह आखिरकार फेंक दिया जाता है। यह देश और समाज, दोनो पर आघात है। देश में जब अन्न की समस्या उत्पन्न हो, उस हालत मे एक दाना भी खराब करना जुर्म है। बनानेवाले और खिलानेवाले—सबको सावधान हो जाना चाहिए, वरना सब को पछताना पडेगा। खास कर माताओं को बच्चों के भोजन में यह सतर्कता बरतनी चाहिये।

(४) बर्बादी का एक भयकर रूप सरकारी तरीके हैं। गल्ला रेल की गोदामों मे, बन्दरगाहो मे, गलता और सडता रहता है। जब इतनी मेहनत और इतने खतरे के साथ वह प्राप्त किया जाता है तो उसके सञ्चय और सञ्चालन की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। वास्तव मे गल्ले को तो इस तरह इकट्ठा ही नहीं करना चाहिये। गल्ले की वसूली की जरूरत

हो सकती है या बाहर से भी अन्न मँगाया जा सकता है, परंतु एक बार उसे केन्द्रित गोदामों में इकट्ठा किया जाये और फिर जहाँ से आया था वहीं बँटने के लिये भेजा जाये—हिमाकत का इससे बड़ा नमूना और क्या हो सकता है ?

गल्ला यदि इकट्ठा ही करना है तो उसे जिले या तहसील की गोदामों में ही रखा जाये ; पंचायतों की गोदामें सबसे सुन्दर साधन बन सकती हैं। रेल के डिब्बे और गोदामों में उन्हें सड़ने का तो मौका न रहेगा।

गोदामें जहाँ हों, वैज्ञानिक तरह की हों, जानकार लोगों की देखरेख में हों ; खराब होने के पहले ही चीजों को इस्तेमाल कर लिया जाये। अच्छी वैज्ञानिक ढंग की गोदामों से अन्न का दुरुपयोग रुक जायेगा यानी हमारे खाद्यान्न का अभाव बहुत कुछ स्वतः दूर हो जायेगा।

अंत में, जो खाना चेष्टाओं के बावजूद बच ही जाये, या जो चीज खराब हो ही जाये, उसे दुधार पशुओं को खिला देना चाहिये ताकि उसका कुछ न कुछ हिस्सा लौट कर दूध के रूप में हमें प्राप्त हो सके।

(१३)

२१०. भारत और भोजन के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते

संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि

समय हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेने की जरूरत है कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि परम आवश्यक तो है ही, संतुलित कृषि पर समाज का संतुलन भी निर्भर करता है।

कृषि के समस्यात्मक पहलू पर विचार करते हुए हमने जोर दिया है[१] कि खेती पंचायतों की सलाह और अनुमति (लाइसेन्स) से ही होनी चाहिये यानी कितनी धरती में कितना गेहूँ, कितना तेलहन, कितनी दाल, कितनी कपास और कितना गन्ना पैदा करना है—उसी हिसाब से लोगों को पैदावार का आदेश दिया जायेगा।......इस प्रकार गाँव भर की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी......।

यहाँ हम उसी समस्या को समाज संतुलन की दृष्टि से और भी सफाई के साथ समझने की कोशिश करेंगे।

२११. एक आदमी को भोजन में जैसे गेहूँ, जौ, चावल, दाल, दूध,

१. भारत और भोजन पृष्ठ २२–२७

फल, साग-सब्जी की सम्मिलित आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसके परिवार और फिर परिवारों के समूह अर्थात गाँव भर को इन चीजों की सम्मिलित और समन्वित आवश्यकता होती है। जिन्दगी की इन जरूरी चीजों में से गाँव में जिस चीज की पैदावार न होगी उसे कहीं बाहर से मँगा कर ही कमी को पूरी करनी होगी। जिस हद तक यह कमी होगी और जितनी दिक्कत इस कमी को दूर करने में होगी उतनी ही दूर तक, उतना ही अधिक वह गाँव दूसरों का मुँहताज होगा, यानी उतनी ही उसकी स्वतन्त्रता में कमी होगी। स्पष्ट रूप से ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह केवल राजनीतिक ही नहीं, मौलिक स्वतन्त्रता है। उस मौलिक स्वतन्त्रता के अभाव का मतलब है सामाजिक सन्तुलन का अभाव।

समाज संतुलन का अभाव

२१२. गौर कीजिये। गाँव की १००० एकड़ जमीन में से, गाँव की खाद्यावश्यकताओं का विचार किये बिना ही, केवल पैसों के लिए, ५०० एकड़ या उससे भी अधिक में, गन्ना और मूँगफली जैसी व्यावसायिक चीजें पैदा की जा रही हैं। नतीजा यह होता है कि अन्न के लिए उस गाँववालों को दूसरों का मुँहताज होना पड़ता है। इस मुँहताजी का स्पष्ट अर्थ है जघन्य दासता और घोर केन्द्रीकरण। गन्ना, मूँगफली, जूट आदि जिनकी कारखानों में ही खपत होती है उनकी पैदावार से हमें मिलों की मर्जी पर जीना-मरना पड़ता है। कुछ उत्साही समाजवादी और समूहवादी, सम्भवतः रूस के हवाले से, कहेंगे कि पंचायती (कम्युनिस्ट) राज में ऐसा नहीं होगा क्योंकि वहाँ वास्तविक सत्ता जनता के हाथ में ही रहती है। परन्तु यह तो सफेद झूठ है। मानिये तो सही। बनारस में मूँगफली पैदा होती है, सूरत में रूई पैदा होती है, बिहार में गन्ना पैदा होता है, बङ्गाल में चावल पैदा होता है, पञ्जाब में गेहूँ पैदा होता है। और इसी पृथक्करण को विशेषता का रूप देकर उक्त चीजों की उक्त क्षेत्रों में प्रचण्ड पैदावार की जाती है। मान लिया इन सब स्थलों पर उसी एक जनता का राज है। फिर भी एक क्षेत्र को दूसरे स्थल की सुविधा-असुविधा पर हिलना-डोलना पड़ेगा। एक की दिक्कत से दूसरे में दिक्कत पैदा हो जायेगी। इसके अलावा इन सब की सामूहिक और सम्मिलित व्यवस्था के लिए, यहाँ तक कि दैनिक जीवन की छोटी-छोटी बातों के लिए भी एक अत्यन्त जटिल और महँगी केन्द्रीय सरकार की

मुँहताजी का अर्थ है दासता और केन्द्रीकरण

जरूरत अनिवार्य हो जायेगी। केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण, दो ध्रुव के समान एक-दूसरे के विरोधी हैं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। चेतन (व्यक्ति) को जड़ (केन्द्र) के इशारे पर नाचना पड़ेगा।

२१३. एक कदम और आगे बढ़िये। जब गाँव की कृषि संतुलित रीति से नहीं होती, जब उसमे स्वसम्पन्नता का विचार नहीं होता तो लोगो की नजर स्वभावतः गाँव से हटकर केन्द्र पर, मौलिक आवश्यकताओ से हट कर मिल और पैसो पर अटक रहती है। परिणामतः गाँव का पारस्परिक तार टूट जाता है। गाँव मे कपड़ा बुननेवाले जुलाहे को गाँव के दूसरे किसानो से कोई वास्ता नहीं रह जाता। वह कपड़ा बुनकर कस्बा या शहर के बनिया के हाथ बेंच देता है। गाँव के सुख-दुख, गाँव के रस्म व रिवाज, गाँव वालो के नीति-धर्म से उसे कोई लगाव नहीं रह जाता। उसे अपने पडोसी के दर्द का आभास भी नहीं होता। इसीलिये वह गाँव मे रह कर गाँव की गाय को काट कर बकरीद की कुर्बानी के नाम से खुश होता है। हिन्दुस्तान मे बस कर भी वह पाकिस्तान की हिमायत करता है। हिन्दू-मुसलमान ही नहीं, हिन्दू-हिन्दू भी एक-दूसरे को उसी प्रकार चूसते और सताते हैं क्योकि उनकी जरूरतों का कोई पारस्परिक सूत्र नहीं रह गया है। और कुल मिलाकर सारे समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। समाज का सारा संतुलन ही नष्ट हो जाता है। और इसी सूत्र से आज एक राष्ट्र दूसरे का गुलाम बन रहा है, गुलाम बने रहने के लिए बाध्य हो रहा है, बाध्य किया जा रहा है।

संतुलित कृषि के अभाव में समाज का पारस्परिक विच्छेद

२१४. इसलिए "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" (रीजनल सेल्फ सफीशियन्सी) के आधार पर जब तक "संतुलित कृषि" (बैलेन्स्ड ऐग्रीकल्चर) नहीं होती, भारत के भोजन की समस्या तो हल होगी ही नहीं, देश का सामाजिक संतुलन भी नष्ट हो जायगा। ट्रैक्टर और कारखानो को छोड़ कर हल-बैल और चर्खे ले लेने पर भी हम विकेन्द्रित रामराज से बहुत दूर, केन्द्रवाद के घातक दलदल मे फँसकर भ्रष्ट हो जायेंगे।[1]

संतुलित कृषि बिना विकेन्द्रीकरण असम्भव

---

१ किस तरह इस केन्द्रवाद का घातक चक्र हमें हाड़-माँस सहित हड़प रहा है, इसका निम्नलिखित तथ्य से प्रमाण मिल जायगा —

(शेष पृष्ठ २६१ पर)

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि संतुलित भोजन के लिए संतुलित कृषि और संतुलित कृषि के लिए प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि और चेष्टाएँ संतुलित होनी चाहिएँ। प्रत्येक व्यक्ति जब तक अपनी आवश्यकताओं को मर्यादित करके उनका संतुलन कायम न करेगा और फिर उनकी पूर्ति के लिए सही और संतुलित ढंग से कोशिश न करेगा, समस्याओं का समाधान होना असम्भव है। आवश्यक अभाव फिर उसके निराकरण के बहाने सरकारी नियंत्रण (कन्ट्रोल) का विनाशक चक्र जो हमारे सामाजिक तन्तुओं को दीमक के समान एक-एक करके चाटता जा रहा है, उनकी जिम्मेदारी से कोई व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। मतलब यह कि वर्तमान परिस्थितियों को दूर करके विकेन्द्रित आधार पर सही और स्वयं-पूर्ण समाज की स्थापना में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्पष्ट हिस्सा है और सब के जोड़ से ही नवभारत का नव-निर्माण होगा।

(श) भू-दान-यज्ञ और ग्रामोद्योग[१]

२१५. भारत की लगभग ८५ फी सदी जनता गाँवों में बसती है। इनके जीवन का सहारा, किसी न किसी रूप में, पृथ्वी यानी कृषि रह गया है।

वस्तुस्थिति

सदियों की गुलामी से त्रस्त जनता में इतना दम नहीं रहा कि वह धरती को कमा कर उर्वरा बनाये। कृषि के साधन भी नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं। सरकारी सहायता अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। लोग खेती से उदासीन और जीवन से निराश हो रहे हैं। ऐसी निराश स्थिति में भारत की वर्तमान भूमि व्यवस्था घाव में दर्द बन रही है। भारत की कुल आबादी की ८५%

जनता जैसा ऊपर कहा गया है, गाँवों में धरती के सहारे टिकी हुई है और विडंबना यह है कि इस विशाल जनसंख्या का लगभग ४५% भूमि-हीन हैं। क्या ऐसी हालत में किसी देश की आर्थिक दशा स्थिर रह सकती है ? स्वभावतः क्षोभ और हिंसा ने लोगों को पथच्युत और विकास से विमुख कर दिया है।

दो तरीके

२१६. देश का हित चिंतन करनेवाला कोई भी व्यक्ति इस दुर्व्यवस्था को सहन नहीं कर सकता। इस दशा को सुधारने के दो ही तरीके हो सकते हैं :—

(१) जिनके पास जमीनें हैं उनसे जबर्दस्ती छीन कर जिनके पास नहीं हैं उनमें बाँट दी जायें। स्पष्ट है कि इस जोर-जबर्दस्ती में भयंकर हिंसा का आश्रय लेना होगा।

यह जडवादी तरीका है जिसे रूस और कम्युनिस्टों के साथ जोड़ा जाता है। इस तरीके को जन-क्रांति के नाम पर अमल में लाया गया है परन्तु दुनिया को उससे वास्तविक सुख-शांति प्राप्त नहीं हुई; प्राप्त हो ही नहीं सकती थी। जन-क्रांति का यह तरीका है भी नहीं। वस्तुतः प्रश्न केवल जमीन के वितरण या पुनर्वितरण का ही नहीं, जमीन के आधार पर स्वावलम्बन का है जो केवल जमीनें बाँट देने से ही सिद्ध नहीं होगा।

(२) दूसरा तरीका है संत विनोबा का भू-दान-यज्ञ जिसे उन्होंने अप्रैल, '५१ में तेलगाना (हैदराबाद) में शुरू किया।

सत्य यह है कि जमीन उसी की है जो उसकी सेवा करे, स्वयं जोते-बोये, कमाये और स्वावलम्बी स्वामित्व पूर्वक जीवन का सुख भोग करे क्योंकि "जमीन पर सब को उसी प्रकार हक है जैसे हवा, पानी और रोशनी पर"। हवा, पानी और प्रकाश पर जिस हद तक व्यक्ति का स्वाधिकार नहीं है, उसी हद तक वह परावलम्बी है। परावलम्बन मानवता के शुद्ध विकास में बाधक होता है।

जमीन पर नैसर्गिक अधिकार

इसीलिए यदि किसी के कब्जे में हजारों बीघा जमीन हो और किसी के पास एक गज भी न हो तो यह सरासर अन्याय है, ऐसा अन्याय जो सारे समाज में घातक विषमता उत्पन्न करेगा, समाज में दुर्व्यवस्था, अशांति और असमृद्धि को जन्म देगा और अंत में मनुष्य के स्वावलम्बन को भी नष्ट कर देगा। इस मौलिक दोष को मिटाकर

समता और स्वावलम्बन स्थापित करने मे ही वैयक्तिक और, अंततः, सामूहिक कल्याण है ।

परन्तु जोर-जुल्म से लोगों मे कायम की हुई समता से हिंसा प्रति-हिंसा और सामाजिक अस्थिरता का प्रजनन होता है । स्वावलम्बन तो किसी हालत में नहीं सधता । इसीलिए विनोवा जी ने जमीन वालो को स्वय, प्रेमपूर्वक, अपनी फाजिल जमीनें वे जमीन वालों को देकर सामाजिक सुरक्षा और समुत्थान का कारण बनने की सलाह दी है ।

भू-दान यज्ञ—सामाजिक क्रांति की एक मनोवैज्ञानिक पीठिका

२१७. परन्तु दोनो मे से किसी भी तरीके से समस्या का स्थायी समाधान प्राप्त नहीं हो सकता । पहला तरीका तो गलत है ही, उसमे पराजय की स्वीकृति है, दूसरे तरीके के बारे में स्वय, उसके जनक, सन्त विनोवा ने ही कहा है कि "इससे समस्या हल नहीं होगी, मैं तो केवल हवा पैदा करना चाहता हूँ ताकि लोग समझ जायें कि वे-जमीन और जमीन वालो के बीच की घातक विषमता को देर तक कायम नहीं रखा जा सकता । इस विषमता के मिटते ही समानता के लिए मार्ग प्रशस्त हो जायेगा ।

विनोवा जी का भू-दान-यज्ञ कोई स्थायी व्यवस्था नहीं, एक अभूत-पूर्व सामाजिक क्रांति को मनोवैज्ञानिक पीठिका है । वस्तुतः इसे सामा-जिक क्रांति का त्रिविध सूत्र कहा गया है । स्वय विनोवा जी कहते हैं कि इसके द्वारा "मैं पहले तुम्हारा हृदय परिवर्तन करूँगा । फिर तुम्हारा जीवन परिवर्तन करूँगा । और वाद में समाज रचना मे परिवर्तन लाऊँगा । इस प्रकार तेहरा इन्कलाब, त्रिविध परिवर्तन, मैं तुम्हारे जीवन मे देखना चाहता हूँ ।"

पृथ्वी—सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत

२१८. जमीन सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत है और यदि बुनियाद मे ही विषमता हो तो स्पष्ट है कि सारा सामाजिक ढाँचा ही विषमता से व्याप्त रहेगा, सामाजिक समु-त्थान की सारी कल्पनाएँ झूठी सावित होंगी, सारी योजनाएँ निष्फल जायेंगी ।

२१९. पश्चिमी अर्थशास्त्रियों का कहना है कि सभी खेती करें,

यह जरूरी नहीं। हम भी यह नहीं कहते कि सभी खेती पर आधारित रहे। परन्तु इसका यह भी मतलब नहीं हो सकता कि कुछ थोड़े से लोग हजारों-लाखों एकड़ के चक लेकर बैठ रहे और बाकी लोग उनकी मजदूरी मे क्रीत दास के समान जीवन-यातना में नित्य-निरतर घुल-घुल कर प्राण गँवाते रहे। पहली बात तो यही बनती है कि मालिक संचालक के रूप मे हो या मजदूर के रूप मे, जमीन पर काम करने-वालो का उस पर समान हक होना चाहिये। इससे भी बडी बात यह है कि अन्न प्राणी की प्रथम आवश्यकता है, जीवन की बुनियादी जरूरत है, और इसी को कुछ थोड़े से लोगो के हाथो मे केन्द्रित और संगठित करके उसे समाज की पहुँच से दूर कर देना समाज की स्वतंत्रता, समाज के अस्तित्व पर ही कुठाराघात करना है। इसीलिए सामूहिक कृषि की पश्चिमी कल्पना, स्पष्टतः जड़ता की जननी सिद्ध हुई है। हम वैयक्तिक स्वच्छंदता के हामी नहीं हैं, हम हर्गिज नहीं चाहते कि हर शख्स की मनमानी मे समाज टक्कर खाता फिरे परन्तु यह भी तो नहीं हो सकता कि व्यक्ति की चेतना, व्यक्ति का व्यक्तित्व ही खतम कर दिया जाये। व्यक्ति की स्वचेष्टाएँ, व्यक्ति का व्यक्तित्व, योजना आयोग के पुरस्कारो की मदद से जिदा नहीं रखा जा सकता। व्यक्ति और समाज का सजीव और साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिये, दोनो का पारस्परिक आदान-प्रदान होना चाहिये।

पृथ्वी—व्यक्ति और समूह

२२०. हम गत अध्याय मे "क्षेत्रस्थ सम्पन्नता" और "संतुलित कृषि" पर विचार कर चुके हैं। समस्या का वास्तविक हल वहीं प्राप्त होगा। उसे नजर मे रखते हुए जब हम भू-दान-यज्ञ पर विचार करते हैं तो पहला प्रश्न होता है कि आखिर "आर्थिक पर्याप्त" ("एकॉनॉमिक होल्डिग") किसे कहा जाये? कम से कम कितनी जमीन प्रत्येक के पास होनी चाहिये? विनोवा जी ने एक परिवार के लिए ५ एकड़ खुश्क या १ एकड़ तर जमीन की सीमा बाँधी है।

"आर्थिक पर्याप्त"

विनोवा जी भूदान को दान नहीं, हक जरूर कहते हैं, पर वहाँ दाता की स्वेच्छा और कुल जमीन की मात्रा, यही दो निर्णायक प्रश्न बनते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ५० एकड़ चाहिये, ऐसा कह देने से ही काम तो चलेगा नहीं। मान भी लें कि सभी जमीनवाले अपनी सारी जमीनें छोड़ दें तो

क्या वह सबके लिए प्रति व्यक्ति ५० एकड बन जायेगी ? इतनी जमीन आयेगी कहाँ से ? जमीन कोई रबड है नहीं जिसे खींच कर लम्बी कर दी जाये। इन बातों को देखते हुए, जमीनें छीन कर ली जायें या दान में प्राप्त हों, भूमि वितरण के लिए कम से कम पर हद बाँध कर ही योजना बनानी होगी, अधिक से अधिक यानी 'सीलिंग' वाली कल्पना अव्याव-हारिक और घातक सिद्ध होगी।

अब प्रश्न उठता है कि इस तरह जो हद हम कायम करते हैं क्या वह आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त है ? इस प्रश्न को, खुलाने के लिए कई टुकडो मे बाँटना होगा—

(१) क्या कोई व्यक्ति केवल ५ एकड़ लेकर पारिवारिक तुष्टि और राष्ट्रीय समुन्नति को सभव बना सकता है ?

(२) इस प्रकार देश को असख्य छोटे छोटे टुकडो मे बाँट देना क्या आर्थिक दृष्टि से हितकर है ?

(३) क्या गाँव मे बसनेवाले सभी लोगों का जमीन पर हक है और जो भी जमीन माँगे, उसे जमीन मिलनी ही चाहिये ?—इस प्रकार जमीन के, छोटे से छोटे, चाहे जितने भी टुकड़े क्यो न हो जायें ?

हम अन्तिम प्रश्न को सबसे पहले लेंगे। यह सिद्धान्ततः उचित और व्यवहारतः आवश्यक है कि एक गाँव मे जितने परिवार आबाद हैं, उन सब का गाँव की कुल जमीन, कुल सम्पत्ति और साधनो पर, समान अधि-कार हो। इसलिए गाँवो मे बसनेवाले परिवारो को जो स्वय खेती कर सकते हैं और खेती करें, उन्हें खेती के लिए जमीन मिलनी ही चाहिये। गाँव की कुल जमीन का जब तक समान रूप से बँटवारा नहीं हो जाता, और इस समीकरण मे यदि जोर-जुल्म, हिंसा और बर्बरता के दुष्परिणामों से हम दूर रहना चाहते हैं, तो हमें बँटवारे की न्यूनतम हद कायम करनी ही होगी और वह है विनोबा जी का एक एकड तर या पाँच एकड खुश्क। जहाँ तक भू-दान और भूमि-वितरण का प्रश्न है, विनोबा जी ने इसे बिलकुल साफ कर दिया है—

"यह मै चाहता हूँ कि जो भी जमीन पर परिश्रम करके रोटी कमाना चाहे, उसे जमीन दी जाये।····· लेकिन जमीन तकसीम करने के सम्बन्ध मे मैंने···साफ कर दिया था कि बढई, बुनकर, लोहार आदि जिनके पास जीविका के अन्य साधन हैं उन्हे हम जमीन नहीं देनेवाले हैं।··· अगर

हर बे-जमीन को हम जमीन देना चाहे तो प्रधान मंत्री भी जमीन मॉग सकते हैं।......"

इससे प्रकट है कि जमीन उसी को मिलेगी जो खेती अच्छी तरह जानता है, अच्छी तरह करना चाहता है और जिसके पास रोजी का दूसरा जरिया नहीं है।

इतना तय हो जाने के बाद, स्वभावतः, हमारे सामने पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतने से प्रत्येक परिवार का काम चल जायेगा? स्पष्ट है कि जब हम जमीन की न्यूनतम सीमा कायम करते हैं तो परिवार की अधिकतम सख्या भी हमारे सामने होगी। परिवार यदि बहुत बड़ा है और उसके पास कुछ भी जमीन नहीं है तो न्यूनतम जमीन को लेकर उसे केवल अन्न और वस्त्र का साधन बनाना होगा,—अन्न और वस्त्र की कमी अथवा परिवार की अन्य आवश्यकताओ के लिए अन्य ग्रामोद्योगो का सहारा लेना होगा जो स्थानीय एवं सहयोगी आधार पर चलेंगे।[1]

हमारी योजना मे जोर-जबर्दस्ती को स्थान नहीं है, इसलिए यहीं यह भी तय हो जाता है कि किसी के पास कुछ कम जमीन और कम साधन हो सकते हैं और किसी के पास जरूरत से ज्यादा भी हो सकता है। पिछले अध्यायो मे "आवश्यक" और "अतिरिक्त" आय पर विचार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि "अतिरिक्त आय" समाज की है, उसी प्रकार समाज को अपने प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे साधन-युक्त और कार्यशील बनाने की जिम्मेदारी लेनी होगी। इस कमी-बेशी की सारी व्यवस्था मे गॉव पञ्चायत और परिवार का माध्यम ही श्रेष्ठ माना जायेगा।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या भू-दान योजना मे मिले हुए छोटे-छोटे टुकड़े आर्थिक दृष्टि से "पर्याप्त" (एकॉनॉमिक होल्डिंग) होगे? विरोधियो का यह भी कहना है कि बैल, कूएँ, तथा अन्य साधनो के बिना

---

१ सामूहिक कृषि और सहयोगी एवं सम्मिलित कृषि में भेद है। समूहवादी पद्धति जड़-वादी है जिसमें केन्द्रित ढंग से, कुछ सचालक विशेष के इशारो पर, शेष सारा समूह स्वचेतना और स्वचेष्टा से शून्य होकर काम करता है। इसके विरुद्ध सम्मिलित एव सहयोगी कृषि है जिसमें सारा समूह पारस्परिक सहयोग के साथ सम्मिलित रूप से काम करता है जिसमें वैयक्तिक चेतना और स्वचेष्टाओं को पूरा-पूरा अवसर प्राप्त होता है। समूहवादी तरीको के विरुद्ध सम्मि-लित एव सहयोगी कृषि के लिए भी "सामूहिक शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु उपर्युक्त भेद को हमें सावधानी पूर्वक ध्यान में रखना होगा।

सफल और सम्पन्न खेती नहीं हो सकती और पाँच एकड या एक एकड की खेती पर एक जोडी बैल या अन्य उपर्युक्त साधनों का भार वहन नहीं किया जा सकता। पहली बात तो यह है कि एक के बजाय कई परिवार साधनों का सम्मिलित एवं सहयोगी उपयोग करेंगे। एक कुएँ से कई खेतो की सिंचाई और एक जोडी बैल से कई की जोताई बोआई हो सकती है। इसके अलावा चीन और जापान ने जमीन के छोटे से छोटे टुकडों को लेकर, बिना हल-बैल, खेती का उच्चतम मान स्थापित किया है। खेती केवल बैलो से ही नहीं, कुदाल और फावड़ो से भी की जाती है। इन तरीको से केवल खेती हुई है सो बात नहीं, राष्ट्रीय उपज का श्रेष्ठतम मान भी स्थापित किया गया है। कल तक जो चीन भूख और रोग का शिकार था आज वह इन्हीं तरीको से सुखी और अन्न सम्पन्न है। कल का अभावग्रस्त चीन आज भारत जैसे कभी के अन्नसम्पन्न देश की क्षुधा निवारण के लिए अन्न देने जा रहा है। जापान जैसा पथरीला देश भी छोटे-छोटे टुकडो मे कुदाल-फावडों से खेती करके आज भारतीय अन्नाभाव से मुक्त है।[1] स्वय विनोबा जी ने अपने पावनार आश्रम मे इसका सफल नमूना पेश किया है। युद्धग्रस्त इङ्गलेण्ड ने "फावडो की खेती" (हार्वेस्ट आव् द स्पेड) से राष्ट्र की खाद्य समस्या को हल करने

---

१ चीन और जापान का उल्लेख करते समय हमारा लक्ष्य केवल उनके मापतिक परिमाण पर ही है। परन्तु साम्पत्तिक उत्पादन मे जहाँ समाज-दर्शन (Social Philosophy) का प्रश्न उठता है वहाँ गाधी विचारधारा की रचनात्मक पद्धति उन सबसे बिल्कुल अलग अपना स्वतन्त्र स्वरूप प्रकट करती है, इसे ध्यान में रखने की जरूरत है। गाधी विचारधारा में "विकेन्द्रीकरण" और "स्वावलम्बन" दो रचनात्मक शब्द आते हैं। यहाँ ये दोनों शब्द अन्योन्याश्रित भी माने जाते हैं। आज औद्योगिक दशा मे भी "विकेन्द्रीकरण" की बडी चर्चा है। इसका वहाँ केवल इतना ही अर्थ समझा जाता है कि बडे बडे उद्योग और कारखानों का किसी एक स्थान पर संगठित और केन्द्रित रूप से काम न चला कर उन्हें अलग अलग स्थानों में टुकडे-टुकडे करके चलाया जाये, चूँकि यह केन्द्र में नहीं रहा इसलिए इसे इस केन्द्रित के विरुद्ध विकेन्द्रित नाम दिया जाता है। परन्तु गाधी का 'विकेन्द्रीकरण' इससे बहुत आगे, बिल्कुल अलग की चीज है। "औद्योगिक विकेन्द्रीकरण" और "रचनात्मक (गाधी) विकेन्द्रीकरण" में अन्तर यह है कि एक विकेन्द्रित होकर भी किसी एक केन्द्र से ही जीवन और गति प्राप्त करता है, किसी एक केन्द्र के ही नियन्त्रण मे रहता है, जब कि गाधी के विकेन्द्रीकरण में स्वावलम्बन और वैयक्तिक स्वसम्पन्नता पहली शर्त है। रचनात्मक विकेन्द्रीकरण में सपुष्ट इकाइयो के योग से ही किसी सुदृढ केन्द्र का स्वरूप सिद्ध होता है किसी सर्वग्राही केन्द्र के बल से निर्जीव, निःस्व, इकाइयो का परिचालन नहीं होता। (पृ० २९८ पर)

की चेष्टा की थी। (देखें "अन्नपूर्णा", स० सा० सं०) वस्तुतः केवल जमीन की लम्बाई पर "आर्थिक पर्याप्त" की हद नहीं कायम की जा सकती, इसके साथ और भी अनेकों विचारणीय प्रश्न हैं। ३० गज × ६० गज का टुकड़ा पर्याप्त हो सकता है जब कि १०० एकड़ भी अपर्याप्त हो सकता है। इसका भी किशोरलाल भाई ने बहुत ही स्पष्ट रूप से 'हरिजन' मे खुलासा किया है।

२२१. आज संसार के सामने अन्नोत्पादन की विकट समस्या उपस्थित है। अमेरिकी कृषि विभाग के प्रसिद्ध भू-वेत्ता, डा० चार्लस ई० केलॉग का अनुमान है कि संसार मे इस समय दो अरब तीस करोड़ (२३००००००००) एकड़ भूमि अन्नोत्पादन के काम के लिए खाली पड़ी है। इस विशाल भू-खण्ड पर छोटे-छोटे परिवारो को बसा कर आसानी के साथ ससार की अन्न समस्या को हल किया जा सकता है और साथ ही साथ संसार की बेकारी की समस्या का समाधान भी प्राप्त हो सकता है। भारत के योजना आयोग का विचार है कि लगभग दस करोड (१०००००००) किसानो को खेती से अलग करके दूसरे धन्धो मे लगाने की जरूरत है जो असम्भव सा ही मालूम होता है। इसका हल विनोबा जी के भू-दान-यज्ञ और स्वावलम्बी साम्ययोग मे प्राप्त होगा। यहाँ भोजन की गारण्टी और सबके लिए पूरे काम की व्यवस्था है।

सबको काम मिलना चाहिये

विडम्बना तो यह है कि आज देश मे एक ओर भयंकर बेकारी और दूसरी ओर भूख और अभाव की बढ़ती हुई पेचीदगियो ने हमारे ऊपर दुहरी जिम्मेदारी लाद दी है—लोगो को पूरा काम और भरपेट भोजन मिलना चाहिये। यही ईमानदारी और नैतिकता है, यही सच्ची राजनीति

रचनात्मक पद्धति में उद्योग धन्धे स्वावलम्बी और स्व-सम्पन्न होते है, केन्द्रो के विक्रय या वितरण भण्डार (Sale or Distributing depots) नही होते। इसीलिए 'विकेन्द्रीकरण' होते हुए भी वहाँ लोकशाही और जन-शक्ति के बजाय तानाशाही (totalitarianism) और 'कटरे' (Regimentation) की सत्ता रहती है। वहाँ मनुष्यो के कल-पुर्जो और पशुओ के समान चलाया और हाँका जाता है, परन्तु रचनात्मक पद्धति में प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बी और समर्थ होने के कारण कुल का एक चेतन इकाई बनता है।

जमीन के पुनर्वितरण की पाश्चात्य कल्पना और भू-दान यज्ञ की 'रचनात्मक पीठिका मे भी यही सैद्धांतिक अन्तर है। चीन और जापान की भूमि समस्या को समझते हुए इस बात को ध्यान में रखना होगा।

और शुद्ध अर्थशास्त्र है। किसी भी योजना की यही कसौटी साबित होगी। परन्तु भारत के योजना आयोग का कथोपकथन यह है कि हम सब को पूरा काम देने की जिम्मेदारी नहीं ले सकते। जिस योजना में लोगों को काम देने की भी व्यवस्था न हो वह योजना नहीं, मजाक है।

२२२. हम पुस्तक के पिछले भागों में ग्रामोद्योग की रूपरेखा पर विचार कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि कृषि और ग्रामोद्योगों का अटूट सम्बन्ध है। प्रत्येक गाँव में जरूरत की चीजों का उत्पादन होना चाहिये। प्रत्येक घर गृह उद्योग में लगा होगा, खेती की कमी को इन उद्योगों से ही पूरा किया जायेगा। गाँव का कोई भी कच्चा माल, यथासम्भव, कच्ची हालत में गाँव से बाहर न जा सकेगा। गाँव में वे ही चीजें बाहर से आ सकेंगी जो स्वयं गाँव में तैयार नहीं होतीं या जिन्हें मँगाने के लिए कोई असाधारण कारण हो। सारे गाँव का आयात-निर्यात ग्राम पञ्चायतों के द्वारा ही होगा और पञ्चायतों के "वस्तु-विनिमय बैंक" के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा।

कृषि और ग्रामोद्योग का अटूट संबंध है

२२३. ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए गाँवों में मिलें हर्गिज न रहने पायेंगी। वस्त्र एवं खाद्य सामग्री के लिए तो मिलों की कोई भी वस्तु कोई ग्रामवासी न इस्तेमाल कर सकेगा। इस तरह मिल बहिष्कार ग्रामोद्योग की बुनियादी शर्त है। स्पष्टतः कृषि के लिए ग्रामोद्योग और ग्रामोद्योगों के लिए व्यक्ति-प्रधान कृषि अनिवार्य है। इसीलिए कृषि और ग्रामोद्योगों को विनोबा जी 'सीता-राम' कहते हैं।

मिल बहिष्कार

इस तरह जब हम व्यक्ति-प्रधान कृषि के साथ ग्रामोद्योगों की सजीव शृङ्खला खड़ी करेंगे तो भारत में पुनः दूध की नदियाँ बहने लगेंगी, लोग हँसी-खुशी सबल और सम्पन्न राष्ट्र का रूप धारण कर सकेंगे। इसी में भू-दान-यज्ञ की सफलता निहित है। और इस यज्ञ की सफलता पर ही हमारी सम्पूर्ण रचनात्मक पद्धति की नींव पड़नेवाली है। यह अर्थशास्त्र का एक युगान्तरकारी कदम है। इससे विश्व में समता और समानता के नव-प्रयोगों को प्रेरणा मिलेगी।

२२४. पिछले अध्यायो में उद्योग-धन्धो पर विचार करते हुए हम काफी खुलासे के साथ लिख चुके हैं। यहाँ उन्हीं मे से दो खास बातो को फिर से दुहरा देने की जरूरत है—

औद्योगिक उत्पादन की दो प्रमुख शर्तें

(१) हम गाँवो की पुनर्रचना और समुत्थान के लिए प्रत्येक सुलभ साधन का सदुपयोग करेंगे; हम मशीनों का भी उपयोग करेंगे, परन्तु उन्ही शर्तों के साथ जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं।

(२) हमारे खाद्य तथा औद्योगिक उत्पादनो का लक्ष्य केवल पेट भरना या स्वार्थ-सिद्धि तक ही सीमित रहेगा, ऐसी बात नहीं। हम अपने उत्पादन मे पर्याप्त आधिक्य कायम करना चाहते हैं ताकि आवश्यकतानुसार देशी और विदेशी व्यापार भी चलाये जा सके। परन्तु ध्यान मे रखने की बात यही है कि हम विभिन्न वर्गों या देशो के 'मान' (स्टैन्डर्ड्स) की अन्तर्पूर्ति के लिए उत्पादन नहीं करेंगे। कहने का मतलब यह है कि दिन मे दर्जनो पोशाक बदलने के लिए, खिड़की, मेज़, और दीवारों को ढकने के लिए, अमीरों के जूतों के नीचे जमीन पर फैलाने के लिए या ऐसे ही कामो के लिए स्वयं अधनगे रहकर वस्त्रोत्पादन के हम कायल नहीं हैं। जिन लोगो को दो वक्त भोजन भी मुयस्सर नही उनसे इसलिए अधिक अन्न उपजाओ नहीं कहा जा सकता कि तरह-तरह के और दिन मे कई बार खानेवालो को सप्लाई करना है।

(५) यातायात

२२५. आज हम देखते हैं कि अमेरिका के चिड़ियाघरो को भारत से हवाई जहाज द्वारा हाथी पहुँचाये जाते हैं। यह साधनो का दुरुपयोग है। इसी प्रकार जगली लकड़ियो को जल्द से जल्द शहरो मे ढेर कर देने के लिए रेल के डिब्बो और मोटरो को काबू कर लेने के लिए गलत और सही तरीके इस्तेमाल हो रहे हैं। इन सारी बातों को देखते हुए हमे इस सम्बन्ध मे अपनी नीति को स्पष्ट कर देने की जरूरत है क्योंकि राष्ट्रीय गति-विधि के साथ ही कृषि, व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का दारोमदार इसी पर है।

स्पष्ट नीति की जरूरत

हम रेल चाहते हैं, हवाई जहाज चाहते हैं, अच्छी-चौड़ी सड़कें चाहते हैं, सब कुछ चाहते हैं, पर यह हर्गिज नहीं चाहते कि रेल, मोटर और हवाई जहाजों के कारखानों की बढ़ोत्तरी को कायम रखने के लिए ही हम इन सवारियों के इस्तेमाल को बढ़ाते जायें। हिन्दुस्तान में पैदा होनेवाला फल यदि हवाई जहाज से इङ्गलैण्ड पहुँचाया जाये तो बात समझ में आ सकती है क्योंकि जल मार्ग की लम्बी यात्रा में वह गन्तव्य स्थान तक पहुँच न पायेगा, हम यह भी समझ सकते हैं कि काश्मीर के मोर्चे पर चटपट सैनिक उतार देने के लिए हवाई जहाजों का इस्तेमाल आवश्यक होगा, परन्तु हिन्दुस्तान का हाथी अमेरिका के चिड़िया घर में हवाई जहाज से पहुँचाये जायें, हिमालय के लकड़ी के लट्ठे भी हवाई जहाजों द्वारा ढोये जायें, या सैर-तफरीह के लिए भी हम पार्सलों की तरह बंद गाड़ियों या हवाई जहाजों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर लद के ला बैठने की कोशिश करें—समझ से आता नहीं। यह केवल अनाव-श्यक जल्दी का ही सवाल नहीं है; इस तरह हम बस और गाड़ीवान तथा समुद्री जहाजों में लगनेवाले मनुष्य समुदाय का काम छीन कर निर्जीव मशीनों को देते हैं। कुछ वर्ष पहले बनारस में सुन्दर बैलगाड़ियाँ और इक्के सुलभ थे, कितने ही लोग इनके सहारे जीते और पलते थे। परन्तु आज शहर से इक्के-ताँगे गायब हो चुके हैं, बैल गाड़ियों की संख्या भी सीमित ही रह गयी है। अब घोड़ों के बजाय आदमी घोड़े की शकल में रिक्शे खींच रहा है। यह आदमी जानवर से भी बदतर हालत में है। यदि इस दुर्दशा को रोकना है, यदि चेतन सृष्टि को कलमय जड़ता के हवनकुण्ड में लोप हो जाने से रोकना है तो हमें सवारी और यातयात सम्बन्धी नीति को फिर से कायम करना होगा।

गलत दृष्टि के अलावा इसका आर्थिक पहलू भी हानिकारक ही प्रतीत होता है—रेल-डिपो और हवाई अड्डों में मिल और कारखानों के समान ही देश की धरती का बहुत बड़ा भाग बर्बाद हो रहा है। यह देश की छाती पर बोझ है। इसलिए रेल और हवाई मार्ग के अनावश्यक विस्तार को यथासम्भव कम करना होगा। इसके बदले सड़क और जल मार्ग के उपयोग को आवश्यकतानुसार बढ़ाना चाहिये। यहीं यह साफ होना चाहिये कि किस काम में मोटर, किस काम में बैलगाड़ी और किस काम में रेल या हवाई जहाज का उपयोग होगा।

सडकों के किनारे—फलदार वृक्ष, ग्रामोद्योग भण्डार, मार्ग कर

२२६. सड़को के किनारे फलदार वृक्षो तथा ग्रामोद्योग भण्डारो की स्थापना होनी चाहिये। इनसे मिलनेवाले लाभ से सम्बद्ध क्षेत्र के स्वास्थ्य और शिक्षा का काम चलाया जा सकता है। इन राजमार्गों के निर्माण और सुरक्षा मे केन्द्र द्वारा सम्बद्ध क्षेत्रो का सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था का जा सकती है।

कृपि और ग्रामोद्योग मे लगनेवाली सवारियों पर मार्ग कर (Vehicle tax) न लगना चाहिये।

राष्ट्रीय नीति

२२७. यातायात सम्बन्धी राष्ट्राय नीति को भी स्पष्ट रूप से निर्धारित कर देने की जरूरत है। इसके विना चारो ओर दुर्व्यवस्था और कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। हम देखते हैं कि अभावग्रस्त क्षेत्रो मे खाद्य सामग्री अथवा पशुओ के लिए चारे की तत्काल आवश्यकता है परन्तु बहुधा प्राप्ति स्थानो से चीजें समय पर नहीं पहुँच पातीं जब कि लखनऊ से नैनीताल सरकारी हवाखोरी के लिए सैकड़ो परिवारो की ढुलाई मे गाड़ियाँ और मोटरें लगी रहती हैं। कब, किस काम के लिए, किस सवारी का उपयोग और सुविधा होनी चाहिये—इसकी स्पष्ट नीति होनी चाहिये।

यह हमारे आये दिन का अनुभव है कि जीवनावश्यकताओ को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने मे जितनी दिक्कत और खर्च होता है वह कल-पुर्जे, व्यापारी अथवा विलास सामग्रियो के आयात-निर्यात मे नही होती। यह नाति उस विदेशी हुकूमत की थी जो अपने व्यापार के लिए ही भारत पर राज करती थी और उसी विदेशी व्यापार की दृष्टि से ही यहाँ की यातायात नीति निर्धारित हुई थी। उस नीति मे आमूल परिवर्तनकरना है।

यातायात नीति और ग्रामोद्योग

२२८. भारत की यातायात नीति ऐसी होनी चाहिये जिससे ग्रामोद्योगो को न कि न्यूयार्क, लण्डन, बम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली या कलकत्ता के उद्योगपतियो को जीवन प्राप्त हो। स्पष्ट है कि भारत का ८५% गाँव है। इसलिए भारतीय यातायात मे ८५% गाँवो का हिस्सा होना चाहिये, गाँवो की सुविधा और ग्रामोद्योगो की समृद्धि का विधान होना चाहिये। मशीनोत्पादित पदार्थो का भाड़ा बढ़ा देना चाहिये, सुविधाएँ आवश्यकतानुसार घटा देनी चाहियें और उसी अनुपात से ग्रामोद्योगी वस्तुओ को राहत मिलनी चाहिये।

कितना दुःखद उपहास है कि जिन गाँवों को लेकर आज भारत विश्व का एक सबल राष्ट्र बनने का दावा करता है वे ही ग्रामीण गाड़ियों में भेड़ बकरियों की तरह ठुसे चलते हैं, पावदानों पर चमगादड़ों की तरह लटकते हुए या छतों पर धूप, वर्षा और कड़ी सर्दी में भी बन्दरों की तरह बैठ जाते हैं परन्तु उसी गाड़ी के बहुत बड़े भाग में थोड़े से मुलायम बदन लोग विलासितापूर्ण यात्रा का सुखोपभोग करते हुए देखे जाते हैं। जब तक हमारी यह यातायात नीति न बदलेगी, देश में शान्ति और व्यवस्था के बजाय अशांति और हिंसा की वृद्धि होगी। हमारी आर्थिक प्रगति असम्भव साबित होगी,—८५ को दबा कर १५ को मोटा बनाने का मतलब मोटी अकल वाला भी समझ सकता है। वह अच्छी तरह समझ सकता है कि दिल्ली और लखनऊ में भव्य और विशाल सड़कें क्यों और क्योंकर बनती हैं जब कि गाँवों में चलने को रास्ते भी नहीं हैं।

दुःखद उपहास

यह सब हमने केवल दिशा निर्देश के लिए लिखा है, तफसील तय करने की यहाँ जरूरत नहीं है। हम देखते हैं कि आज देश की अपार शक्ति और सम्पत्ति इन सड़क और राजमार्गों के पीछे बर्बाद हो रही है फिर भी देश का जीवन इनकी लपेट में फँसा हुआ कराह ले रहा है। इसलिये जरूरी है कि हमारी नीति स्पष्ट हो ताकि मार्ग के रोड़े दूर किये जा सकें और देश को गतिशील और जीवमान होने का मौका मिले।

(स) शिक्षा : नयी तालीम

(मनुष्य की पाँच मूलभूत आवश्यकताएँ है—अन्न, वस्त्र निवास, स्वास्थ्य और शिक्षा। शिक्षा अंतिम परन्तु सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। गांधी जी की शिक्षा पद्धति समाज के सारे आर्थिक ढाचे को बदल देनेवाली है। धीरेन भाई ने अपनी 'नयी तालीम' में इसका अधिकारी एवं सुचिन्तित पूर्ण विवेचन किया है। यह अध्याय उसी पुस्तक से लिया गया है। जैसी समाज रचना हो, उसकी शिक्षण प्रणाली भी वैसी ही होती है। इस तरह सर्वोदय समाज के लिए गांधी जी की शिक्षा योजना अनिवार्यतः आवश्यक तो है ही, परन्तु देश की वर्तमान स्थिति में, जब कि हमारी शिक्षा पद्धति के कारण ही घातक बेकारी भी दिन दूनी, रात चौगुनी, वृद्धि हो रही है, एक रचनात्मक शिक्षण पद्धति की संकटकालीन आवश्यकता भी उपस्थित हो गयी है।)

(१)

२२९. 'नयी तालीम' द्वारा गांधी जी वास्तविक जन-तंत्र की स्थापना करना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज की योजना जन-तंत्र के इतिहास मे एक बड़ी क्रान्तिकारी कल्पना है और शासन-यन्त्र से तानाशाही के भय को दूर रखने का केवल यही एकमात्र उपाय है। लेकिन सिर्फ राजनीतिक स्वराज्य से ही समाज का संतुलन कायम नहीं हो सकता। इतिहास को देखने से पता चलता है कि एकांगी क्रान्ति से प्रजा कभी अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर पायी है। इसलिए यह आवश्यक है कि जनता अपने आदर्श पर पहुँचने के लिए और फिर उस आदर्श पर स्थायी रूप से कायम रहने के लिए सभी क्षेत्र मे सर्वांगीण क्रान्ति करे, और हर क्षेत्र की वही दिशा होनी चाहिये। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता इसलिए है कि प्रायः जोश मे आकर क्रान्तिकारी लोग सर्वांगीण दृष्टि और क्षेत्र सामंजस्य की बात भूल जाते हैं और विभिन्न क्षेत्र के लिए विभिन्न दिशा मे कदम उठाते हैं। यही कारण है कि गांधी जी शुरू से ही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक, सभी क्षेत्र मे एक साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन करते रहे। परन्तु देश ने केवल राजनीतिक दिशा मे चलकर सिर्फ राजनीतिक मुक्ति पाई और बाकी दो दिशाएँ शून्य ही रह गयीं। लोगो ने इस बात पर गौर नहीं किया कि 'सन् २१ से ही गांधी जी असहयोग और सत्याग्रह द्वारा अंग्रेजी सल्तनत से लड़ते हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर अत्यधिक जोर देते रहे और जनता का ध्यान आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति की ओर अंतिम क्षण तक खींचते गये। एक ओर तो वे राजनीतिक क्षेत्र मे एक नये ढंग की क्रान्ति द्वारा एक नया राजनीतिक ढाँचा कायम करना चाहते थे और दूसरी ओर वे नयी तालीम यानी नव शिक्षा के द्वारा संसार के वर्तमान आर्थिक और सामाजिक ढाँचे मे आमूल परिवर्तन करके उसे स्थायी रूप से शोषणहीन यानी अहिंसात्मक रूप देने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव यह आवश्यक है कि हम नयी तालीम के आर्थिक और सामाजिकक आधार पर भी ठीक से विचार कर लें।

सर्वांगीण क्रान्ति

२३०. पहले समाज की व्यवस्था वर्तमान जैसी जटिल नहीं थी।

पहले मनुष्य प्रकृति की गोद मे रमता था। प्रकृति माता के अचल मे जो कुछ आसानी के साथ मिल जाता था मनुष्य उसी मे सन्तोष कर लेता था। फिर श्रम और समय लगाकर अपनी साधारण बुद्धि के द्वारा वह कुछ पैदा करने लगा। इस प्रकार उसने कृषि, पशु-पालन और उद्योग के द्वारा अपने उपभोग्य सामग्री के दायरे का विस्तार किया। धीरे-धीरे जब उसने देखा कि प्रकृति के अनन्त साधनो को उपयोग मे लगाने से जिन्दगी मे अधिक आराम और सुख मिल सकता है तो उसकी तृष्णा बढ़ने लगी; उसका सतोष खतम हो गया; वह अधिकाधिक पैदा करने की फिकर मे पड गया और उसने तरह-तरह के उत्पादन यन्त्रों की सृष्टि की। यन्त्रो के आविष्कार से मानव-समाज मे भिन्न भिन्न वस्तुओ को प्राप्त करने की लालसा तीव्र हो उठी। और इस लालसा को तृप्त करने के लिए लोग यन्त्रो के आकार और प्रकार को अधिकाधिक विशाल और जटिल बनाते गये। भाप, बिजली—तरह तरह की शक्तियों का इस्तेमाल करने के तरीके निकले और उत्पादन के तरीकों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। परिवर्तनो ने नये परिवर्तनो को जन्म दिया और यन्त्र दिनोदिन विशालतर होते गये।

उत्पादन यन्त्रों का विस्तार

२३१. समाज की व्यवस्था उत्पादन के तरीकों पर निर्भर करती है और उत्पादन के तरीके उसके साधनो के स्वरूप मे ही बनते हैं। अतः यन्त्रो की जटिलता और विशालता के कारण उत्पादन के तरीके जटिल और केन्द्रित हुए और फिर समाज-व्यवस्था ने जटिल केन्द्रीकरण का रूप धारण किया। केन्द्रित समाज की समस्याएँ धीरे-धीरे जटिल होती गयीं। और मनुष्य अपने उद्देश्य को प्राप्त न हो सका। समाज ने यदि अपनी उद्देश्य सिद्धि की ओर प्रगति की होती तो आज का मनुष्य अभावो का शिकार नजर न आकर भरा पूरा नजर आता। अतः वस्तुस्थिति को गभीरतापूर्वक समझने की जरूरत है।

उत्पादन के साधन और समाज व्यवस्था

(२)

२३२. मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को देखकर उनके स्व

और संपत्ति का अन्दाज लगाया जा सकता है। मोटरकार, साबुन तथा अन्य सामग्री की प्रचुरता होने पर भी अन्न, वस्त्र और आश्रय की कमी हो अथवा मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की सुविधाएँ न हो तो शेष सभी चीजो के भरे रहने पर भी लोगो को उनसे लाभ के वजाय हानि ही अधिक होगी। यह सभी जानते हैं कि हर प्रकार के वस्तु पदार्थों का मूल स्रोत पृथ्वी है। पृथ्वी से जो कच्चा माल पैदा होता है उसी से हमारी उपभोग्य सामग्रियो का उत्पादन होता है। केन्द्रीय उद्योगों की प्रगति के साथ-साथ अनेकों अनुपभोग्य वस्तुओ की आवश्यकता हुई। विस्तृत भूभाग मे पैदा किये हुए कच्चे माल को एक केन्द्र मे लाने और फिर वहाँ से पक्के माल को जनता तक पहुँचाने की जरूरत के कारण संसार मे माल बाँधने के लिए बारदाने की आवश्यकता दिन-प्रति-दिन बढती जाती है। इसके अलावा चीजो को बार-बार एक स्थान से दूसरे स्थानो पर भेजने के लिए यातायात का जो विराट् संगठन करना पड़ता है, उसके लिए भी ऐसी ही अनेक चीजो की जरूरत होती है। फिर उद्योगो को बढ़ाकर उस माल को खपाने के उद्देश्य से उद्योगवादियो द्वारा जीवन-मान ऊँचा करने का जो वहम दुनिया मे फैलाया जाता है उसके फलस्वरूप ससार मे ऐसी वस्तुओ की माँग बढ़ती जा रही है जिनसे वासनाओ की भले ही तृप्ति हो जाये लेकिन, यथार्थतः, वे जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं। केवल उद्योग-वादियो के प्रचार से ही नहीं, वल्कि औद्योगिक केन्द्रीकरण की अप्राकृतिक स्थिति के कारण भी शृंगार और मनोरजन के लिए बेकार चीजो की आवश्यकता बढ़ती जाती है। औद्योगिक केन्द्रो की घनी आबादी एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण लोगो को दैनिक श्रम के दुष्प्रभाव से बचने के लिए शुद्ध, हवादार और सुन्दर प्राकृतिक वातावरण की जरूरत होती है जिससे बड़े-बड़े नगरो की आबादी वंचित रहती है। अतः लोगो को विश्रान्ति के कृत्रिम साधनो की आवश्यकता महसूस होने लगती है जिसके लिए उन्हे नाना प्रकार की फिजूल चीजें पैदा करनी पड़ती हैं ताकि अँधेरी कोठरियो की दिन भर की थकान से मन को भुलाया जा सके।

केन्द्रीय उद्योग से अनुपभोग्य एव बेकार वस्तुओं की सृष्टि

२३२. इस सम्बन्ध में खास बात ध्यान में रखने की यह है कि आज

औद्योगीकरण के द्वारा उत्पादन की गति बढ़ सकती है, परन्तु उसके परिमाण मे कोई विशेष अन्तर नही हो सकता।

समाज का दीवालियापन

एक मन धान से जो चावल निकलेगा वह चाहे मिल से निकाला जाये या ढेकी से, वह हर हालत मे एक ही मन रहेगा। यह लोगों का वहम है कि कारखानों [से उपज] बढ़ती है। उलटे, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, औद्योगीकरण के कारण बेकार चीजो की जरूरत पैदा हो जाती है। इन सबका घूम-फिर कर धरती पर असर पडता है। इस ज्वार का सामना करने के लिए जनता की मौलिक आवश्यकताओं को छोडकर ऐसी चीजों की पैदावार शुरू होती है जो कल-कारखानो के मानदण्ड पर थोडे मे भी अधिक "रुपया" बना सके—इसे 'मनी क्राप' या पैसा देनेवाली फसल कहा जाता है। इस तरह धरती अनाज के बखारो से छूटकर गन्ने और जूट के रेशो मे फँसती जा रही है, धान को छोडकर वह नारियल की झुरमुट मे लीन हो रही है और जब बगाल का रौरव अकाल मानवता को हडप जाने के लिए दहाडता हुआ सामने आता है तो अन्न के बजाय हमारे पास जूट के खाली बोरो और हम्माम की टिकियो का ही सहारा शेष रहता है। समाज के घृणित दीवालियेपन का क्या इससे अधिक जघन्य कोई दूसरा रूप हो सकता है ?

२३४. इसी तरह बगाल मे चावल की भूमि "पाट" की खेती मे, बिहार और उत्तर प्रदेश मे गेहूँ की जमीन गन्ने की पैदावार मे, मद्रास मे धान की जमीन नारियल के पेडो मे, इसलिए लगायी जा रही है कि इससे अधिक से अधिक बारदाना, मिठाई और साबुन आदि पैदा हो सकें। फलतः यदि एक ओर देश मे ऊपरी वस्तुओ की प्रचुरता है तो दूसरी ओर लोग खाने के लिए भी तरस रहे हैं। आज दिल्ली की सडको पर टके आने मे सुन्दर कघी चाहे जितनी मिल सकती हैं लेकिन रुपये मे १२ छटाक चावल मिलना कठिन है। फिर यह कैसी प्रचुरता ? यह कैसा भयकर आर्थिक उपहास है ?

भयंकर आर्थिक उपहास

२३५. गत दो सौ वर्षों से प्रचुरता की यह मरीचिका, मनुष्य की अनवरत चेष्टा के बावजूद भी हाथ नहीं लग रही है। बल्कि उलटे समाज में अनेकों जटिल समस्याएँ पैदा होकर विश्व युद्ध के रूप मे घनीभूत होती जा रही हैं। संसार महाप्रलय के गर्त मे डूब मरने पर आ गया है। निस्सदेह, स्थिति अत्यत शोचनीय है।

अत्यत शोचनीय स्थिति

(३)

स्वावलम्बन और सहयोग

२३६. जनता जब स्वावलंबी थी तो वह शान्तिपूर्वक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेती थी। लोगो को जब अपनी जरूरत अपने श्रम से ही पूरी करनी पडती है तो यह कठिन हो जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही अपनी सारी जरूरतें अपने हाथो से पैदा कर ले। अतः स्वावलंबी समाज-व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सहयोग यानी साझेदारी के ढग से सामाजिक उत्पादन का कार्य चले। वस्तुतः उत्पादन के तरीको से ही सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा बनती है। जब हम लोग स्वावलंबी तरीको से उत्पादन करते थे तो समाज के सारे काम उसी साझेदारी के तरीके से चलते थे। साझे का मतलब है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को एक-दूसरे का भरोसा हो यानी लोग आपस मे इन्सानी नाते से बँधे रहे। सहयोगी समाज तभी चल सकता है जब मनुष्य एक-दूसरे को धोखा न दे यानी वह ईमानदार रहे क्योंकि साझे मे बेईमानी चल ही नहीं सकती और साझे के बिना जनता स्वावलंबी नहीं हो सकती। स्वावलंबी समाज मे जनता का नैतिक स्तर, स्वभावतः, ऊँचा रहता है।

केन्द्रीय समाज मे पारस्परिक सहयोग का अभाव

२३७. आर्थिक और सामाजिक केन्द्रीकरण मे समाज की वह स्थिति नहीं रह जाती; लोगो की आवश्यकताओ की सामग्री औद्योगिक केन्द्रो से और समाज की व्यवस्था राजकीय केन्द्रो से वितरित होती है। ऐसी हालत मे मनुष्य अकेला रहकर पड़ोसी की बिलकुल परवाह न करके भी, आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है। यहाँ यह आवश्यक नहीं होता कि कोई किसी के भरोसे रहे या लोग दूसरों की फिक्र करें क्योंकि सभी लोग अलग अलग केन्द्रीय यंत्र-तंत्र के भरोसे रहने लगते हैं। ऐसी दशा मे आपसी सहयोग, साझेदारी या इन्सानी नाते का टूट जाना स्वाभाविक है। अब जिन्दा रहने के लिए पारस्परिक रिश्तो की उतनी आवश्यकता नहीं रही। फिर इस केन्द्रीय व्यवस्था मे जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति भी कई एजन्सियो के पेचदार माध्यम से होने लगी। परिणामतः मूल वितरण-कर्त्ता और जनता का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं रह गया। इससे समाज मे

सभी पराये हो गये। फिर धोखा देना, लूट लेना, शोषण कर लेना आदि प्रवृत्तियो के लिए हिचक या लेहाज की गुजाइश कहाँ? आज समाज में चोर-बाजारी, धोखा, बेईमानी, रिश्वतखोरी का बाजार इस कदर गरम है कि मनुष्य-मनुष्य का इन्सानी नाता बिलकुल खतम-सा दीख रहा है, मानवता का कोई मतलब ही नहीं रह गया है।

२३८. वस्तुतः स्वतत्र रूप से सिर्फ अपने विवेक के भरोसे मानवी प्रवृत्तियों की पवित्रता की रक्षा करना सबके लिए कठिन होता है। दुनिया मे बहुत थोडे आदमी ऐसे हैं जो नैतिक आधार पर जीवन मे सत्य, अहिंसा, ईमानदारी, सहयोग आदि सद्वृत्तियो को स्थायी रूप से अपना सकते हैं। इन प्रवृत्तियो को अगर आम जनता मे कायम रखना है तो व्यक्तिगत शिक्षण के साथ तदनुकूल समाज-व्यवस्था की टेक लगाना होगा क्योकि आम जनता की मूल सद्वृत्तियो को अगर परिस्थिति के अनुसार उनकी अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति के द्वारा जागृत न रखा जाय तो दूसरी शैतानी वृत्तियाँ उन्हे दबा देती हैं। मनुष्य के अन्दर सुर और असुर का सघर्ष तो चलता ही रहता है। यही कारण है कि जब से दुनिया की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था आपसदारी का आधार छोडकर व्यक्ति-व्यक्ति के स्वतत्र आधार पर सीधे केन्द्रों मे बँधी रहने लगी तब से ससार मे असत्य, हिंसा, बेईमानी, द्वेष, घृणा आदि दुर्गुणो का विस्तार बढता गया। नतीजा यह हुआ कि पहले साधारण गृहस्थ के लिए जिन सद्गुणो की आवश्यकता थी आज वे ही महात्मा के लक्षण बताये जाने लगे। इस तरह हम देखते हैं कि उत्कर्ष के बजाय जनता का भीषण नैतिक ह्रास हो रहा है।

जनता का नैतिक ह्रास

अगर दुनिया की मौजूदा गुत्थी को सुलझाना है, अगर मानवता को असत्य, हिंसा तथा प्रलय से बचाना है तो ससार के आर्थिक और सामाजिक ढाँचे को स्वावलबी आधार पर विकेन्द्रित उत्पादन और विकेन्द्रित व्यवस्था के पैराये मे ढालना होगा ताकि मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओ के लिए आपसदारी की अटूट स्थापना हो सके परन्तु जबतक जनता में, सामान्यतः सत्यपूर्ण प्रेम और सहयोग न हो, यह आपसदारी कायम हो ही नहीं सकती।

२३९. औद्योगिक केन्द्रीकरण के कारण युद्धरूप घोर हिंसा और

वर्गसंघर्ष की विनाशक स्थिति कैसे पैदा होती है इसे हम समझ चुके हैं।

चर्खा: स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्र-बिन्दु है

हमने यह भी देखा है कि यत्र और तन्त्र के केन्द्रीकरण से मनुष्य का एक-दूसरे के साथ मानवता का सम्बन्ध टूट जाता है और लोग मशीनो के पुर्जे बन जाते हैं। सारा समाज सजीव समष्टि के बजाय एक विशाल जडतन्त्र का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य की अन्तर्हित सद्वृत्तियाँ अनुकूल परिस्थिति के अभाव मे नष्ट-भ्रष्ट होती जाती हैं। समाज मे असत्य, द्वेष तथा हिंसा का जमघट होता जा रहा है। इस घातक स्थिति का निराकरण स्वावलम्बी अर्थनीति और समाज व्यवस्था से ही हो सकता है। इसीलिए गाधी जी ने चर्खे को अहिंसा का प्रतीक माना है क्योकि वह स्वावलम्बी उत्पादन का केन्द्र-बिन्दु है।

'नयी तालीम': भावी समाज का आधार

२४०. अब प्रश्न यह है कि ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करने का तरीका क्या हो ? एक स्थायी समाज-व्यवस्था के लिए उचित वातावरण पैदा करने के उद्देश्य से, साधारणत', कुछ तात्कालिक कार्यक्रम बन सकता है और लोगो पर उसका कुछ प्रभाव भी पड़ सकता है परन्तु जिस आदर्श समाज की हम कल्पना करते हैं उसकी जरूरत के मुताबिक नागरिक तैयार करने के लिए शिक्षा-पद्धति मे ही ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की जरूरत है जिससे भविष्य के नागरिक बचपन से ही उस ढॉचे मे ढल सकें। गाधी जी 'नयी तालीम' के जरिये जनता को उसी ढॉचे मे ढालना चाहते थे। विकेन्द्रीकरण के आधार पर स्वावलम्बी समाज तभी सभव हो सकता है जब समाज के प्रत्येक व्यक्ति मे स्वतन्त्र रूप से जिन्दगी की आवश्यकताओ की पूर्ति तथा समाज-व्यवस्था चलाने की योग्यता हो। सिर्फ योग्यता से ही ऐसा समाज कायम नहीं रह सकता। उनके सस्कार और उनकी प्रवृत्ति भी स्वावलम्बी होनी चाहिये।

'नयी तालीम': स्वावलम्बन की क्रियात्मक शक्ति

२४१. इसलिए नयी शिक्षा-पद्धति मे शिक्षा का माध्यम अक्षर न रखकर सामाजिक वातावरण तथा उत्पादन की प्रक्रिया रखी गयी है। सामाजिक वातावरण के अध्ययन से उनको समस्याओं का ज्ञान होता है। समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का अभ्यास होता है। इस अभ्यास से समाज-व्यवस्था की जिम्मेदारी महसूस करना

भविष्य के इन स्वतन्त्र नागरिकों का स्वभाव बन जाता है। जब तक जनता में इस प्रकार जिम्मेदारी की स्वयं प्रेरणा नहीं होगी, लोग अपनी आन्तरिक व्यवस्था और सुरक्षा के लिए किसी बाहरी शक्ति के मुँहताज बने रहेंगे और लोकशाही वास्तविक न होकर वैधानिक पोथियों में दबी रहेगी। परन्तु बचपन से ही उत्पादन की प्रक्रियाओं का अभ्यास होने पर मनुष्य आसानी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केन्द्रीय यन्त्रों का भरोसा छोड देता है। बचपन से ही कठिन होते हुए भी इन प्रक्रियाओं के माध्यम से विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने के कारण उत्पादन क्रम की जडता नष्ट हो जाती है और लोग उनके वैज्ञानिक तत्व को भी समझते हैं और लगातार प्रगति होती रहती है। इस प्रकार नयी तालीम की पद्धति से जनता की प्रवृत्ति केन्द्रीय यन्त्र-तन्त्र का भरोसा करने के बजाय अपने पर भरोसा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नयी तालीम स्वावलम्बन की एक परम क्रियात्मक शक्ति है।

केवल भरोसे की बात नहीं। आज जनता के श्रम का जो शोषण हो रहा है वह मौलिक आवश्यकताओं की प्राप्ति की वैज्ञानिक कुंजी अपने हाथों में होने के कारण नहीं हो पायेगा और उनका अभाव-जनित उत्पीडन भी खतम हो जायेगा।

(४)

नयी तालीम के शिक्षण केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहियें

२४२. गांधी जी ने 'नयी तालीम' के लिए यह भी जरूरी कहा है कि इसके शिक्षण-केन्द्र स्वावलम्बी होने चाहियें ताकि स्वावलम्बन की धारणा बच्चों की प्रकृति में, उनके संस्कार और व्यवहार में, प्रविष्ट हो जाये। शिक्षण-केन्द्रों को स्वावलम्बी बनाने के लिए बच्चों को इस बात का विचार करना पडता है कि वे कौन उपाय करें जिनसे उनकी शाला स्वावलम्बी हो। इस सिलसिले में उनको यह भी सोचना पडता है कि वे अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए किस-किस से सहायता ले। सहायता की यह खोज ही उन्हें सामाजिक सहयोग की ओर प्रेरित करती है।

२४३. इस पद्धति के अनुसार शाला की व्यवस्था भी बच्चों को ही

करनी होती है। शिक्षक केवल मार्ग-दर्शक के रूप मे रहते हैं। इस तरह बच्चे जब अपनी शाला की सारी व्यवस्था अपने हाथ मे ले लेते हैं तो शाला उनके लिए एक समाज बन जाती है और शिक्षक वहीं के वातावरण को सामाजिक विषयो का ज्ञान कराने के लिए एक सहज माध्यम बना लेते हैं। इस प्रकार बच्चों मे आत्म-विश्वास और आपसदारी के संस्कारो का विकास होता है। वे सहयोगी और स्वावलम्बी समाज की उपयुक्त नागरिकता की ओर बढ़ते हैं।

शाला की व्यवस्था और शिक्षक

२४४. हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य को जब अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति अपने आप करनी पडती है तो उसकी सामाजिक प्रवृत्तियो का विकास सहज हो जाता है। लोग कह सकते हैं कि पुराने जमाने मे भी स्वावलम्बी उत्पादन-पद्धति थी; फिर लोग परावलम्बी क्यो हो गये? पहली बात तो यह है कि उस काल मे लोग केन्द्रीकरण की बुराइयो से परिचित न थे, इसलिए उन्होंने विकेन्द्रीकरण के वैज्ञानिक आधार पर समाज-व्यवस्था की स्वावलम्बी योजना नहीं बनायी थी। दूसरी बात यह थी कि उत्पादन की प्रक्रिया शिक्षा का माध्यम न होकर वह अलग से यन्त्रवत् चलती थी और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा लोग अलग बैठकर किया करते थे। नतीजा यह हुआ कि उत्पादन का कार्य विज्ञान से शून्य हो गया और उसमे जमाने की आवश्यकता के अनुसार प्रगति न हो सकी; दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान की चर्चा के पीछे वैज्ञानिक अनुभव का अभाव हो गया और उसका स्तर गिर गया।

प्राचीन शिक्षण-पद्धति

२४५. गाधी जी ने इस घातक स्थिति के निराकरण के लिए कहा कि यदि स्वावलम्बन तथा विकेन्द्रीकरण के आधार पर समाज की नींव अटल बनानी है तो उत्पादन की प्रक्रियाओ को सजीव, वैज्ञानिक और प्रगतिशील बनाये रखना जरूरी होगा। नयी तालीम की पद्धति इसी दिशा में एक संयोजित चेष्टा है।

नयी तालीम: वैज्ञानिक एव प्रगतिशील समाज की एक संयोजित चेष्टा है

२४६. मनुष्य के लोभ ने केन्द्रीय यंत्रवाद और उद्योगवाद का प्रसार किया। केवल उपभोग्य वस्तु की प्रचुरता की तृष्णा ही नहीं बल्कि मनुष्य की एक और प्रवृत्ति ने मशीनो के प्रभाव श्रम से बचने की प्रवृत्ति को बढ़ने मे मदद की। वह है मनुष्य की श्रम से

बचने की प्रवृत्ति। मशीनों का प्रयोग करके इसने देखा कि थोडी मेहनत से ही अधिक उत्पादन हो जाता है। इसने मनुष्य में एक ऐसी प्रबल तृष्णा उत्पन्न की कि वह अपनी सारी बुद्धि इसी दिशा में लगाने लगा।

२४७. वस्तुतः श्रम न करने की प्रवृत्ति की कहानी बहुत पुरानी है। इतिहास के प्रारम्भ काल में पारम्परिक हिंसा से त्रस्त होकर मनुष्य ने जब केन्द्रीय शासन-प्रथा की शुरुआत की थी तभी से समाज में वर्ग या श्रेणियों का बीज पड गया था। शासक, व्यवस्थापक, और व्यापारी वर्ग की जिंदगी स्वयं श्रम न करके उत्पादक-वर्ग के श्रम पर चलने लगी। इस प्रकार श्रम करनेवालो से श्रम न करनेवालों की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण श्रम से बचने में शान समझी जाने लगी और ऐसे आलसी लोगों की समाज में प्रतिष्ठा भी होने लगी। श्रम की प्रतिष्ठा खतम हो जाने से श्रम को बचाने की प्रवृत्ति का विकास होना स्वाभाविक था। इस प्रकार एक ओर तो प्रचुरता यानी भरे-पूरे रहने की लालसा और दूसरी ओर श्रम से बचने की प्रवृत्ति, इन दो विरोधी बातों के मेल से जिस उद्योगवाद की सृष्टि हुई उससे पूँजीवादी समाज का विकास हुआ और, परिणामतः, वर्ग-विषमता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

पूँजीवाद प्रचुरता की लालसा और मेहनत न करने की इच्छा—इन दो विरोधी बातों के एक साथ होने का दुष्परिणाम है

२४८. केन्द्रीय व्यवस्थापक-वर्ग तथा पूँजीपति-वर्ग के लिए क्रमशः इस बात की आवश्यकता हुई कि उन्हे एक ऐसा वर्ग मिले जो उत्पादन की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं से छुट्टी पाकर शासन तथा उद्योग-संचालन में सहायता कर सके। इस उद्देश्य से उन्होने ऐसी शिक्षा-पद्धति बनायी जिसमे शरीर-श्रम तो न करना पडे, परन्तु व्यक्ति की समाज मे प्रतिष्ठा बढ जाये (इसे काहिल और कोढियो की पूजन-विधि कह सकते हैं)। ऐसे लोग सिर्फ लिखने-पढ़ने की योग्यता रख सकते हैं और वे यांत्रिक व्यवस्था के पुर्जे बनने के सिवाय दूसरा स्वतन्त्र कर्म कर ही नही सकते। इस तरह समाज मे पढी-लिखी एक मध्यम श्रेणी यानी बाबू-वर्ग की सृष्टि हुई। ज्यों ज्यों इस किताबी शिक्षा का प्रसार हो रहा है त्यों-त्यों इस वर्ग की संख्या बढ़ती जा रही है और आज यह संख्या इतनी अधिक हो गयी है कि संसार में इस बाबू वर्ग की समस्या ने एक भीषण वर्ग-समस्या खडी कर दी है।

बाबू वर्ग

इस समस्या के हल हुए बिना संसार की समस्याएँ सुलझ ही नहीं सकतीं। गाधीजी 'नयी तालीम' के जरिये इसी दिशा में एक निश्चित और क्रान्तिकारी कदम उठाना चाहते थे।

वस्तुतः सत्य और अहिसा के आधार पर समाज तभी टिक सकता है जब दुनिया मे कोई किसी का शोषण न करे यानी मानव-समाज मे एक ही वर्ग हो क्योंकि एक वर्ग का दूसरे वग के शोपण से ही वर्ग-विपमता का अस्तित्व कायम होता है। यही कारण है कि भारत के शास्त्रकारों ने कहा है कि सतयुग मे एक ही वर्ग था और जब तक फिर से दुनिया मे एक ही वर्ग न हो जायगा तब तक सतयुग का पुनरागमन असम्भव है।

समाज ज्यो-ज्यो सत् से विरत होता गया, सामाजिक जटिलता बढ़ती गयी; दूसरी ओर समाज मे ज्यो-ज्यों विपमता बढ़ती गयी वैसे ही सत्य का भी लोप होता गया और अन्त मे आज संसार एक भयंकर स्थिति में पहुँच गया है। अतः सबसे पहले इस घातक स्थिति का ही अन्त करना है। गाधीजी 'नयी तालीम' के द्वारा यही करना चाहते थे।

श्रेणी हीन समाज

२४६. श्रेणी-हीन समाज का मतलब तो यही है कि संसार में एक ही श्रेणी का अस्तित्व रहे। फिर सवाल उठता है कि एक श्रेणी कौन सी हो? हम देखते हैं कि संसार मे, मुख्यतः, तीन ही श्रेणियाँ हैं; (१) रईस (श्रीमान्); (२) बाबू और (३) श्रमिक। अगर समाज को श्रेणी-हीन बनाना है तो यह जरूरी है कि इन तीनों में से किसी दो को खतम करके एक को रखा जाय। फिर प्रश्न यह होता है कि इनमे से किसे रखा जाय और किसे खतम किया जाये? उत्तर स्पष्ट है—यदि एक ही वर्ग को रखना है तो वह वर्ग ऐसा होना चाहिये जो अपने भरोसे टिक सके। किसी वर्ग के अपने भरोसे टिकने का मतलब यह है कि वह स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके यानी जिन्दगी की आवश्यकताओं को वह स्वयं पैदा कर सके या यों कि पैदा करने के लिए श्रम कर सके। वह एक मात्र श्रमिकों का वर्ग है। रईस और बाबूओं का अस्तित्व तो श्रमिक के शोपण पर ही खड़ा होता है। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज का मतलब ही यह है कि समाज में केवल वही रहे जो अपने श्रम से उत्पादन कर सकता हो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो लोग शोपण पर जिन्दा हैं उन्हे खतम कर दिया जाये।

पाश्चात्य देशो में भी लोगों ने इसी प्रकार श्रमिकों के श्रेणी-हीन

समाज की कल्पना की है। और इस दिशा में उन्होंने काफी चेष्टा भी की है। इस चेष्टा में रईस और बाबू-वर्ग का संघर्ष भी हुआ। यह चेष्टा श्रमिकों द्वारा, हिंसात्मक तरीके से रईस और बाबू-वर्ग का नाश करने की थी क्योंकि इन लोगों ने सोचा कि दो वर्ग का नाश कर देने से सिर्फ तीसरा वर्ग ही समाज में बच रहेगा। लेकिन इस प्रकार वर्ग-संघर्ष के हिंसात्मक तरीके का नतीजा क्या होगा? यह तो बिलकुल सर्वविदित बात है कि हिंसा से प्रतिहिंसा की सृष्टि होती है और हिंसा तथा प्रतिहिंसा के घात-प्रतिघात से मानव-समाज हमेशा छिन्न भिन्न होता रहा है और समाज अपनी अभीष्ट सुख-शान्ति की आकांक्षाओं में कभी सफल नहीं हो सकता। सुख-शान्ति को तिलाञ्जलि भी दे दी जाये, पर क्या इष्ट सिद्ध हो जायेगा? हिंसात्मक तरीकों से क्या शोषक वर्गों का नाश हो सकेगा? जो लोग हिंसात्मक तरीके से इनका नाश करने की सलाह देते हैं वे अपने को बहुत बड़ा वैज्ञानिक समझते हैं, लेकिन वे भूल जाते हैं कि विज्ञान का प्रथम नियम यह है कि "संसार में किसी चीज का लोप नहीं हो सकता।" वस्तुओं का सिर्फ रूप-परिवर्तन ही हो सकता है। वैज्ञानिक यूरोप ने ऊपर की श्रेणियों का लोप करने की चेष्टा करते समय विज्ञान के इस मौलिक नियम की उपेक्षा कर डाली और नतीजा यह हुआ कि वहाँ इन वर्गों का नाश न होकर वे परिवर्तित रूप में व्यवस्थापक वर्ग के नाम से अपने स्थान पर बने रहे और चूँकि यह परिवर्तन हिंसात्मक तरीकों से हुआ इसलिए स्वभावतः उससे प्रतिहिंसा उत्पन्न हुई।

२५०. प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्य है। इस नवजात व्यवस्थापक वर्ग ने समाज को बौद्धिक और शासकीय शिकञ्जों में इतनी कड़ाई से जकड़ रखा है जैसा कि वह अपने पहले रईस और बाबू के रूप में कभी सोच भी नहीं सकता था। अतएव समाज यदि यह चाहता है कि संसार में उत्पादकों का केवल एक ही वर्ग रह जाये तो उसकी ऐसी व्यवस्था ढूँढ निकालनी होगी जिससे शेष दो वर्गों का लोप होकर सारा समाज सीधे स्वयं उत्पादकों के रूप में परिवर्तित हो जाये। गांधीजी नयी तालीम के जरिये समाज को इसी रास्ते पर ले जाना चाहते थे। उनका तरीका उत्पादकों द्वारा रईस और बाबुओं के हिंसात्मक नाश का नहीं, बल्कि वह उनको उत्पादक-श्रेणी में मिला देने का अहिंसात्मक तरीका था। हिंसात्मक

नयी तालीम: समाज को उत्पादक वर्ग का रूप देती है

तरीको से कोई किसी को मिला नहीं सकता क्योकि सम्मेलन तो प्रेम और सहयोग से ही हो सकता है।

२५१. हिंसा से दुनिया मे क्रान्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः हिंसा और क्राति दो परस्पर विरोधी बातें है। क्रान्ति का अर्थ है समूल परिवर्तन। जो मनुष्य परिवर्तन में विश्वास रखता है वह हिंसा नहीं कर सकता क्योकि हिंसा केवल निराशा का प्रमाण है। जिसे यह विश्वास नहीं रह जाता कि लोगो मे परिवर्तन हो सकता है वही नाश की बात सोचता है। इस तरह हिंसा एक निराशावादी प्रवृत्ति है और निराशावादी प्रवृत्ति द्वारा क्रान्ति की सफलता की आशा करना स्वयं को धोखा देना है। अतः समाज मे अगर वास्तविक और समूल क्रान्ति करना है तो वर्ग-संघर्ष की हिंसात्मक और निष्फल चेष्टा न करके वर्ग-परिवर्तन के अहिंसात्मक तरीके से निश्चित क्रान्ति की ओर कदम उठाना होगा।

हिंसा : निराशा का प्रमाण

२५२. तर्क के खातिर ही सही, अगर थोडी देर के लिए हम ऊपर बताये मार्ग को छोड भी दें तो भी आज के वैज्ञानिक युग मे हिंसात्मक तरीके से किसी समस्या का व्यावहारिक समाधान नहीं हो सकता। इस युग मे तो हिंसा के द्वारा समस्याओ का हल करने की चेष्टा मे मानव-समाज का ही अन्त हो जायगा। पुराने जमाने मे जब विज्ञान का आज जैसा अत्यधिक "विकास" नहीं हुआ था उस समय हिंसात्मक तरीके से मामलो का फैसला करने पर भी समाज के लिए बचत की गुंजाइश थी। पत्थर, डंडा-धनुष-बाण, तलवार और बन्दूक से भी मनुष्य चाहे जितनी कोशिश करता था, ध्वंस का परिणाम एक हद के अन्दर ही रहता था। लेकिन आज कॉस्मिक शक्ति के जमाने मे अगर हिंसा का प्रयोग किया गया तो उसका परिणाम क्या होगा इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इस तरह आज के वैज्ञानिक युग मे हिंसा की सभी योजनाएँ नितान्त अव्यावहारिक होने के कारण उन पर विचार भी नहीं किया जा सकता। अतएव सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए गांधी जी के अहिंसात्मक मार्ग के सिवा कोई दूसरा विश्वसनीय रास्ता रह ही नहीं जाता।

अहिंसात्मक मार्ग : सच्ची और सम्पूर्ण क्रान्ति का एकमात्र रास्ता

२५३. ऊपर बताया गया है कि गांधी जी की क्रान्ति का तरीका रईस और बाबुओं को संशोधित करके उत्पादक-श्रेणी में सम्मिलित करने का है। यही कारण है कि उन्होंने अपने तमाम आन्दोलनों को आत्मशुद्धि का आन्दोलन कहा है। इनके लिए पहले तो वह नैतिक तरीके से शोषक वर्ग के विवेक को जाग्रत करते हुए कहते हैं "तुम शोषक का रूप त्याग कर स्वेच्छा से उत्पादक-श्रेणी में मिल जाओ और उनके साथ उत्पादन के काम में लग जाओ।" अपने रचनात्मक कार्यक्रम की सारी प्रवृत्तियों को गांधी जी ने इसी दिशा में लगाया। ऊँचे वर्ग के नवजवानों को ग्रामीण बनकर अपने श्रम से उपार्जन करके समग्र ग्राम-सेवा का कार्यक्रम तैयार करना, खादी पहनने के लिए अष्टमांश सूत कातने का नियम बनाना, बम्बई जैसे शहर के लोगों को भी जमीन न मिले तो गमले में ही अपने हाथ से अन्न पैदा करके अन्न ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त करने की सलाह देना, सेवक विद्यालयों में शरीर-श्रम से भी पहला स्थान उत्पादन कार्य को देना, प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी तरह उत्पादन-कार्य में प्रवृत्ति करके उसे श्रमिक-वर्ग में मिला देने की ही गांधी जी की ये सारी चेष्टाएँ थीं।

आत्मशुद्धि

यों तो गांधी जी के सभी कार्य श्रेणी-हीन समाज की पूर्व-पीठिका स्वरूप रहे हैं, लेकिन "नयी तालीम" के द्वारा दुनिया में केवल उत्पादकों का एक श्रेणी-हीन समाज रचने का जो ढंग है वह उनकी अन्तिम परन्तु अत्यन्त व्यापक और संयोजित चेष्टा थी।

२५४. इस शिक्षा पद्धति में उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक विषय की जानकारी होती है, यानी इसमें उन्होंने शिक्षा का माध्यम ही शरीर श्रम द्वारा उत्पादन कार्य्य बना दिया है। इस पद्धति में अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करते हुए मनुष्य की सारी बौद्धिक शिक्षा पूरी होती है। इसीलिए इसका नाम 'बुनियादी तालीम' रखा गया है क्योंकि इस पद्धति में जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की चेष्टा में मनुष्य को अपने स्वाभाविक कार्यों के लिए समयानुकूल शिक्षा मिलती है।

"नयी तालीम" बनाम "बुनियादी तालीम"

२५५. इसका अर्थ यह है कि समाज में वही व्यक्ति शिक्षित कहलाता

है जिसमे उत्पादन के कार्यों का अभ्यास हो यानी जो स्वयं उत्पादक हो। पुरानी तालीम कोठरियो मे बैठकर केवल पुस्तको को घोटने की पद्धति थी जिसका परिणाम यह होता था कि जो लोग अपने बच्चो को विद्यालय मे भेजते थे उन्हे बच्चों को उत्पादन कार्य से मुक्त कर देना पड़ता था यानी उत्पादक वर्ग के बच्चे अपनी श्रेणी से छूटकर बाबू-वर्ग की श्रेणी मे मिल जाते थे। इस तरह पुरानी तालीम भी श्रेणी परिवर्तन की ही पद्धति थी, लेकिन उलटी दिशा मे। फलतः पुरानी तालीम की प्रगति के साथ बाबुओ की सख्या बढ़ने लगी और उत्पादको के कन्धो पर शोषको का बोझ बढ़ता गया जिसने आज संसार मे वर्ग-विषमता को इतना जटिल बना दिया है। अगर यही रफ्तार रही तो बहुत जल्द दुनिया मे शोषकों की संख्या इतनी बढ़ जायगी कि उनके बोझ से उत्पादक दबकर मर जायेगा और उत्पादक के मरने से बाबू लोग भी सूखकर मर जायेंगे।

पुरानी तालीम—श्रेणी परिवर्तन परन्तु उलटी दिशा में

नयी तालीम से बाबुओ का ह्रास होकर उत्पादको की वृद्धि होती है क्योंकि हल, कुदाल, चर्खा तथा निहाई और हथौड़ी के साथ जुड़ी होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति सहज ही उत्पादक बन जाता है और प्रत्येक उत्पादक को अपना उत्पादन कार्य करते हुए ही शिक्षित बन जाने का मौका मिलता है। इस तरह जब बौद्धिक-वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को उत्पादक बनना पड़ता है और प्रत्येक उत्पादक को बौद्धिक विकास का संपूर्ण अवसर मिलता है तो समाज मे वर्ग-भेद स्वतः समाप्त हो जाता है। यहाँ हिंसात्मक संघर्षों के अशान्तिकर दलदलो मे फँसने की आवश्यकता ही नहीं होती।

२५६. आजकल जो लोग श्रेणी-हीन समाज की बातें करते हैं वे स्वयं शुद्ध बौद्धिक वर्ग के ही जीव हैं, लेकिन धोखा तो यह है कि वे अपने को श्रमिक-वर्ग का ही एक सदस्य मानते हैं। उनका कहना है कि आखिर सभी लोग सब काम स्वयं नहीं कर सकते और समाज मे श्रम-विभाजन की आवश्यकता तो है ही। अतएव जो लोग किताब लिखते हैं, भाषण करते हैं, या ऐसे ही दूसरे बौद्धिक श्रम करते हैं तो फिर शरीर-श्रम पर ही क्यो जोर दिया जाय! इन लोगो की दलील है कि यह भी उत्पादन ही है। इस तरह वे कहते हैं कि कोई बौद्धिक श्रम और कोई शरीर-श्रम को अपनाये। इस बात को वे श्रेणी-विभाजन न कहकर श्रम-विभाजन कहते हैं। उनका कहना है कि जो लोग बौद्धिक कार्यक्रम मे लगे हैं उन्हे शरीर-श्रम मे फँसा

कर समय और शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ। वे कहते हैं कि जो बौद्धिक कार्य के लायक हैं वे बौद्धिक श्रम करें और जो शरीर-श्रम के लायक हों वे शरीर-श्रम करें। ऐसा करने से ही, उनकी राय में, समाज श्रेणी-हीन हो जायगा। आश्चर्य की बात यह है कि ये ही लोग भारत के प्राचीन वर्ण भेद की प्रथा के सबसे अधिक खिलाफ हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था एक प्रतिगामी व्यवस्था है। इससे समाज की प्रगति रुक जाती है। वे समाज को ब्राह्मण या शूद्र की श्रेणियों में बाँटने के घोर विरोधी हैं। आर्थिक कार्यक्रम करनेवालों को शरीर-श्रम की आवश्यकता नहीं और उनके व्यक्तिगत आराम और दूसर कार्यों के लिए दूसरे लोगों को मुकर्रर किया जाय जो इसके लायक हों। यह ब्राह्मण और शूद्र का दूसरा रूप नहीं तो क्या है? फर्क सिर्फ इतना है कि आज कल लोग वर्ण भेद को जन्मना न मानकर कर्मणा मानते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अगर श्रमिक को बौद्धिक और शारीरिक दो श्रेणी में बाँटना ही है तो समाज की प्रगति के लिए जन्मना श्रेणी ही अधिक वैज्ञानिक होगी क्योंकि उससे समाज को पूर्णरूपेण पैतृक संस्कार का लाभ मिल सकेगा। हो सकता है कि कोई एकाध व्यक्ति अपवाद रूप में ऐसा निकले जिसके लिए यह पद्धति अन्याय का रूप हो लेकिन समाज की वैज्ञानिक व्यवस्था एकाध अपवाद की ओर न देखकर सारे समाज के हित को ही देखेगी।

श्रम बनाम श्रेणी विभाजन—जन्मना या कर्मणा?

वस्तुतः यह धारणा गलत है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम करनेवाले एक ही श्रेणी में रखे जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक मनुष्य यह जानता है कि इन दो प्रकार के श्रमों में एक रुचिकर और दूसरा अरुचिकर है और रुचिकर श्रम ही श्रेष्ठ है। अतः प्रत्येक मनुष्य चाहेगा कि उसे रुचिकर श्रम का ही मौका मिले। इसलिए अगर समाज को अरुचिकर श्रम की आवश्यकता है उसे यह काम व्यवस्था या परिस्थिति के दबाव से ही लेना होगा क्योंकि स्वेच्छा से कोई भी उस काम को पसन्द नहीं करेगा। आज के पैसे के लोभ या परिस्थिति की मजबूरी से भी भंगी का काम करने के लिए उच्च वर्ण के लोग तैयार नहीं होते। अतः अगर समाज में न्याय और स्वतन्त्रता के आधार पर श्रमिक का एक ही वर्ग कायम रखना है तो प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक दोनों काम करना होगा।

अगर मजबूरन ही ब्राह्मण और शूद्र की दो श्रेणी कायम रखना है तो

मानव विकास के एक मूल सिद्धान्त का फायदा समाज की प्रगति के लिये क्यो न प्राप्त हो ? यह "सन्तान को पैतृक स्वभाव की प्राप्ति" या संस्कारो का सिद्धान्त है। किसी शिक्षित परिवार का पाँच साल का लड़का स्कूल जाकर किसान और मजदूर के उसी उम्र के लड़के से पढ़ने मे हमेशा आगे ही रहता है और किसी किसान और मजदूर का लडका उसी उम्र के शिक्षित श्रेणी के लड़के से खेत खोदने मे या बोझा उठाने मे आगे रहता है क्योकि दोनो मे पैतृक सस्कार की भिन्नता है। अतः बौद्धिक और शारीरिक श्रमिकों के रूप मे समाज के लोगो को बाँटना है तो हित उसी मे है कि वह जन्मगत हो; "जन्मना" ही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। अतः जो लोग जाति-भेद के खिलाफ हैं उन्हे श्रम के श्रेणी-विभाग के भी खिलाफ होना पड़ेगा क्योकि यदि श्रम का श्रेणी-भेद रखना है तो "जन्मना" का सिद्धान्त हटा कर "कर्मणा" के सिद्धान्त की बात करना समाज को योग्यता और कुशलता से वचित कर देना होगा।

श्रेणीहीन समाज का श्रम विभाग

२५७. लोग प्रश्न कर सकते हैं कि बिना श्रम विभाजन के फिर समाज का उत्पादन कार्य कैसे चलेगा ? यह सही है कि प्रत्येक व्यक्ति अकेला प्रत्येक काम नहीं कर सकता। अतः श्रम विभाजन का कुछ आधार होना ही चाहिये। वास्तविक श्रेणीहीन समाज मे वह आधार गुण सम्बन्धी न होकर वस्तु सम्बन्धी होगा यानी कोई किसी वस्तु को पैदा करेगा तो कोई दूसरी वस्तु को। लेकिन उत्पादन कार्य मे तो प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक और बौद्धिक, दोनो श्रम करना होगा। श्रम विभाजन के नाम पर किसी को टट्टी फिरने का श्रम और किसी को उसे साफ करने के श्रम की जो प्रथा चल गयी है, गाधी जी की कल्पना के श्रेणी-हीन समाज मे इसकी गुंजाइश नहीं है। उनकी कल्पना के अनुसार श्रेणी-हीन समाज मे प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और शारीरिक श्रम, दोनो ही करना पड़ेगा, वरना यह सिद्धान्त नहीं, कोरी बात ही रह जायगी। इस प्रकार श्रेणी-हीन समाज रचना की दिशा मे भी गाधी जी की 'नयी तालीम' का तरीका दूसरे सभी तरीको से अधिक व्यवहारिक, वैज्ञानिक और वास्तविक है।

(५)

२५८. शिक्षित समाज मे इधर 'समान अवसर का नारा' चल पड़ा

है। कहते हैं कि शिक्षा के लिए प्रत्येक मनुष्य को बराबर मौका मिले। अगर शिक्षा की पद्धति ऐसी हुई कि मनुष्य को

समान अवसर का सच्चा मतलब

उत्पादन का कार्य छोड़ देना पड़े तो प्रत्येक को शिक्षा का मौका देने का मतलब यह होगा कि हर व्यक्ति को उत्पादन कार्य छोड़ देने का मौका दिया जाय। इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति शिक्षाकाल की समाप्ति के बाद ही उत्पादन कार्य में लगे। फिर शिक्षा-समाप्ति के बाद लोगों को इस बात का भी समान अवसर देना होगा कि वे अपने लिए स्वेच्छा से रुचि-कर या अरुचिकर श्रम को पसन्द करें। इससे लोग किस ओर झुकेंगे यह प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है। यदि सभी लोग अपनी शिक्षा के अनुसार रुचिकर श्रम की ओर झुकेंगे तो क्या समाज उसके लिए समु-चित व्यवस्था कर सकेगा। इस प्रकार उत्पादन कार्य समाप्त हो जाने से समाज का काम कैसे चलेगा? लोग कहते हैं कि हम इस बात को बहुत दूर तक खींच ले गये। समान अधिकार का मतलब यह नहीं है कि ख्वाहमख्वाह सब लोग अधिकार का इस्तेमाल करके शिक्षा के क्रम को पूरा ही कर दें। बहुत से ऐसे लोग होंगे जो शिक्षा की ओर जायेंगे ही नहीं, या कुछ दिन बाद पढाई छोड़कर हल चलाने लगेंगे। स्वभावतः शायद ऐसा ही होगा। लेकिन इसका कारण यह नहीं होगा कि अधिकांश लोगो की रुचि ही पढाई की ओर नहीं, बल्कि अगर वे पढ़ने नहीं जाते तो इसका कारण परिस्थिति की मजबूरी ही है और अगर परिस्थिति की मजबूरी के कारण कोई पढने नहीं जाता तो समान अवसर की बात कहाँ रही? अतः अगर समान अवसर देना है तो पद्धति ऐसी बनानी होगी जिससे प्रत्येक मनुष्य अपनी मौजूदा परिस्थिति में रह कर भी शिक्षा का अवसर पा सके।

आज प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति की जबान से एक दूसरी बात भी सुनायी पड रही है। वह यह कि शिक्षा अनिवार्य की जाय। अगर शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय तो उसका मान इतना होना चाहिये जिससे बाद को उसकी शिक्षित स्थिति कायम रह सके, यानी उसे १५ साल की उम्र तक तो शिक्षा देनी ही चाहिये। १५ साल की उम्र तक पाठशाला की कोठरी मे बैठकर किताब पढने के बाद जब वह अपने खेत का हल पकड़ेगा तो उसकी क्या दशा होगी इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मौलिक उत्पादन की प्रक्रिया का अभ्यास बचपन से हुए बिना उस स्थान

मे कुशलता तथा गति नहीं आ सकती। अतः यह साफ है कि पुरानी पद्धति से १५ साल की उम्र तक स्कूलो मे पढ़ने के वाद प्रत्येक आदमी को उत्पादन कार्य मे लगने से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति सभव नहीं है।

विकेन्द्रित समाज में उत्पादन कार्य के अभ्यास की वचपन से ही आवश्यकता

२५६. दूसरे औद्योगिक मुल्को मे जहाँ यन्त्रो से ही उत्पादन होता है वहाँ यन्त्र चालक को हाथ, आँख और दिमाग चलाकर उत्पादन नहीं करना पडता। वहाँ चालक भी यन्त्र का पुर्जा वनकर चलता रहता है। वहाँ वचपन से अभ्यास का कोई सवाल ही नहीं उठता। अतः वहाँ इस प्रकार पढ़ाई के वाद भी यन्त्र चलाना सभव हो जाता है। लेकिन गाधी जी के विकेन्द्रित और स्वावलम्वी समाज मे उत्पादन कार्य के लिए वचपन से उत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रियाओ का अभ्यास अनिवार्य है। वह तभी संभव होगा जव इन प्रक्रियाओ को शिक्षा का माध्यम वना दिया जाये।

वापू की 'नयी तालीम' विश्वकी श्रेष्ठतम पद्धति

२६०. अगर दुनिया के सारे उत्पादन कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करते हुए श्रेणी-हीन समाज वनाना है तो यह जरूरी है कि प्रत्येक मनुष्य उत्पादन कार्य करते हुए वौद्धिक विकास कर सके वरना जन-हित के सारे सिद्धान्त जनता का वोट पकड़ने के लिए कोरे राजनीतिक नारे रह जायेंगे। उन्हे व्यवहार मे लाना या वास्तविक रूप देना संभव नहीं होगा। अतएव अगर हमारा ध्येय संसार मे शासन-हीन और श्रेणी-हीन समाज की रचना करना है, अगर मानवता को हिंसा और शोपण से मुक्त करके पूर्णतः स्वतन्त्र वनाना है तो उसके लिए वापू की वतायी हुई 'नयी तालीम' के सिवा शिक्षा का दूसरा व्यावहारिक और वैज्ञानिक तरीका अव तक किसी ने वताया ही नहीं।

(ह) विनिमय और माध्यम

[हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इस सारी रचना में हमने केवल उन्हीं विषयों को लिया है जो 'नवभारत' के निर्माण में अपना सैद्धातिक महत्त्व रखते

है और समाज के अन्तर्गत हमने उन्हीं स्थलों पर विचार किया है जो हमारी समाज रचना के तात्विक आधार माने जा सकते हैं। विनिमय सामाजिक जीवन का वह अङ्ग है जिसे लेकर ही विश्व ने वर्तमान रूप धारण किया है। इस अन्तिम समस्या को समझ लेने के पश्चात् हम नवभारत की "पौराणिक प्रस्तावना" की अन्तिम कड़ी को पूरा कर चुके होंगे। यह प्रकरण [illegible] में जटिल होने के साथ ही अत्यन्त लाक्षणिक (Technical) भी है परन्तु सर्वसामान्य के लिए इसे शत-प्रति-शत अलाक्षणिक बनाने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि 'नवभारत' अर्थ-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तक की अपेक्षा भारत के नव निर्माण की वैचारिक प्रेरणा के रूप में ही विशेष महत्त्व रखता है।]

सरकारी नोटों की असलियत

२६१. आज हमारा सारा जीवन व्यापार रुपयों के सहारे चलता है। पैदाइश, मौत, विवाह, उत्सव, व्रत, पूजा, व्यापार, उद्योग—रुपयों के बिना सब जगह व्यवधान उपस्थित होता है; जीने के लिए रुपया चाहिये, मरने के लिए रुपया चाहिये, रुपया ही हमारा साधन और शक्ति बना हुआ है, रुपये से ही धन दौलत का अन्दाज और सांसारिक जीवन की सफलता सिद्ध होती है।

इतनी बड़ी चीज रुपया और वह है क्या चीज? आप नहीं जानते? धातु या कागज के टुकड़ों पर सरकारी छाप के साथ कुछ संख्याएँ लिखी होती हैं—ये संख्याएँ ही भिन्न-भिन्न कीमतों की सूचना देती हैं। उन टुकड़ों का मालिक उतनी कीमतों का मालिक कहलाता है। आपके पास कागज का एक छोटा सा टुकड़ा है, उस पर सरकारी मुहर के साथ १००) छपा है। इसका मतलब आप १००) के मालिक हैं। १००) का मालिक होने का मतलब है १००) में जो कुछ मिल सके आप उतने सब के मालिक हैं। अगर उस टुकड़े पर सरकारी मुहर न हो तो वह टुकड़ा १००) नहीं बन सकता और आप १००) के मालिक भी नहीं बन सकते। इसका मतलब यह कि सरकार की मुहर से ही कागज और धातु के टुकड़ों में कीमत पैदा हो जाती है। जब जो सरकार होती है तब उसी की मुहर चलती है। मुगलों के वक्त में मुगलों के सिक्के चले, अंग्रेजों के वक्त में अंग्रेजों के और अब प्रजातन्त्र के सिक्के चलते हैं। सरकारें बदलती हैं तो मुहरें बदल जाती हैं। इसका मतलब यह है कि वर्तमान मुहरोंवाली सरकार ही इन रुपयों की जामिन बनती है। कल अंग्रेजों की हुकूमत थी। आज कांग्रेस की हुकूमत है। जो सिक्के कल अंग्रेजों की मुहर से चलते थे

आज अगर हमारी सरकार उस जमानत की जिम्मेदारी लेने से इनकार कर दे तो क्या होगा ? जो उन सिक्कों को लेकर दौलतमंद बने फिरते हैं, नंगे, भूखे और भिखारी वन जायें। कांग्रेस ने ऐसा नहीं किया क्योकि उसने अंग्रेजो से सुलह और समझौते के साथ हुकूमत को अपने हाथ मे लिया था, इसलिए उसने अंग्रेजो के बुरे और भले, झूठ और सच—सबकी जिम्मेदारियाँ भी अपने ऊपर ले लीं। परन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ इस प्रकार जिम्मेदारी ली भी नहीं जाती। अक्सर ऐसा होता रहता है और जनता की दौलत हवा हो जाया करती है। हममे से बहुतो को अनुभव होगा कि वर्मा मे जापानी नोटो की कैसी छीछा-लेदर हुई ?

इसलिए सिक्को की कीमत को केवल सरकारी मुहरो की हवाई जमानत से ऊपर उठाकर उनमे सच्ची कीमत पैदा करने के लिए जरूरी यह होता है कि जितने रुपये के नोट चलें उतना ही सोना या चाँदी देश के अन्दर सरकारी खजाने मे जमानत के तौर पर जमा रहे और कोई चाहे तो उन नोटो को खजाने मे जमा करके उतना सोना चाँदी ले ले। अगर ऐसा नहीं होता तो हमारी सारी दौलत झूठी होगी। जिसे हम रुपया समझते हैं, वह कोरी कल्पना रहेगी।

सदा, सर्वदा, प्रत्येक देश, मे ऐसे ही सोने और चाँदी के सुरक्षित कोष के आधार पर सरकारो को सिक्के और नोट चलाने का हक हासिल होता है। स्पष्ट है कि जितने के नोट और सिक्के देश मे चलते हैं सरकार के ऊपर जनता का उतना ही कर्ज होता है। पिछले युद्ध का हम सभी को पता है; देश की अनंत धनराशि विदेशो को भेज दी गयी। बङ्गाल और दक्षिण भारत मे जिस समय लोग भूख और रोग की पीड़ा से कीड़े-मकोड़ो की तरह मर रहे थे सरकार भारत के गल्ले को विदेशो मे पहुँचाने मे व्यस्त थी। उसी प्रकार जीवनोपयोगी वस्तुओ की अनंत राशि भारत से बाहर भेज दी गयी और इसके बदले मे हमे सरकारी नोट पकड़ा दिये गये, यहाँ तक कि धातु के रुपयो के बजाय भी कागज के एक-एक रुपये के टुकड़े थमा दिये गये। इन नोटो को हम खायें, पीयें, ओढ़ें या बिछायें—क्या करें ? इन नोटो को बदल कर यदि सोना या चाँदी भी मिल जाती तो हम परेशान न होते। बदले मे सोना और चाँदी मिलना तो दूर रहा, स्वयं सरकार के पास भी इन नोटो के बदले की द्रव्य नहीं मौजूद है। नीचे के आँकड़ो से बात साफ हो जायेगी :—

सन् १९२० ई० में सरकारी नोटों के पीछे ८०.६% धातु (सोना-चाँदी)
,, १९३५ ,, ,, ,, ७०.६% सुरक्षित थी
,, १९३९ ,, ,, ,, २०% ,, ,,
,, १९४१ ,, ,, ,, १५% ,, ,,
,, १९४३ ,, ,, ,, ६% ,, ,,

यानी '४३ में जितने के नोट चल रहे थे उनकी असली कीमत रुपये में एक आने से भी कम थी। परन्तु अफसोस है कि गाड़ी यहीं आकर नहीं रुकी है।

भारत के अर्थ मंत्री ने हमें बताया है कि २५-११-४६ को देश में ११०६४३०००००) के सरकारी नोट प्रचलित थे और उनकी जमानत में कुल ४००२०००००) का सोना रिजर्व बैंक में रखा हुआ था, यानी हमारे नोटों की असली कीमत -) प्रति रुपये से भी नीचे,)॥ प्रति रुपये पर पहुँच गयी है। यदि इसी में लाखों के उन जाली नोटों को मिला लिया जाय जो जाली तौर से बाजारों में फैले हुए हैं तो दशा और भी शोचनीय हो जाती है।

इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जायेगा कि सरकारी नोटों के रूप में देश की दौलत क्या है ! अब इस समस्या के दूसरे पहलू पर विचार कीजिये।

एक किसान के पास गेहूँ है और दूसरे तेली के पास तेल है। इन दोनों के बीच सरकारी सिक्का है। इन तीनों की पारस्परिक स्थिति को निम्नलिखित रूप से व्यक्त करना होगा—

गेहूँ	रुपया	तेल
५ सेर	२)	१ सेर
क	ख	ग

=५ क : २ ख : १ ग

उपर्युक्त अनुपात यदि कायम रह सके तो पण्यों के मूल्य में कोई हेर-फेर न होगा और समान स्थिति बनी रहेगी, परन्तु यदि उतने ही तेल और गेहूँ के लिए रुपयों की संख्या घट या बढ़ जाय तो यथानुसार सस्ती या महँगी का प्रभाव उत्पन्न हो जायेगा।

२६२. आज ठीक इसी दुर्दशा में हम फँसा दिये गये हैं। सरकार

की अटूट मुद्रण नीति ने प्राणघातक महँगी उत्पन्न कर दी है। चीजों के दाम कई गुना बढ़ गये हैं और साधारण कमाई-वाले को उन पर काबू पाना असम्भव हो रहा है। अरबों के नोट देश भर में बिखरे हुए हैं फिर भी दुर्भिक्ष का-सा वातावरण व्याप्त है। यह सब केवल सरकारी नोटों का परिणाम है। इस दयनीय दशा को लाक्षणिक भाषा में "मुद्रास्फीति" कहा जाता है।

मुद्रास्फीति

भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, आचार्य सी० एन० वकील इस मुद्रास्फीति को "डकैती" कहते हैं, क्योकि डकैती और मुद्रास्फीति—'दोनों अपने शिकार को उसकी सम्पत्ति से वञ्चित कर देते हैं—डकैती तो प्रत्यक्ष रूप से, और मुद्रास्फीति अप्रत्यक्ष रूप से।" आचार्य वकील ने मुद्रास्फीति को साधारण से बहुत भीषण डाका बताया है क्योकि डाके में तो कभी, और कुछ लोग ही शिकार होते हैं। परन्तु मुद्रास्फीति में सारा राष्ट्र शिकार हो जाता है।

एक रुपये का २॥ सेर गेहूँ मिलता है। यदि एक रुपये का ५ सेर गेहूँ मिलने लगे तो कहेंगे कि गेहूँ सस्ता हो गया। गेहूँ और रुपये के पारस्परिक सम्बन्ध के नक्शे पर ध्यान दीजिये। एक ओर गेहूँ और दूसरी ओर रुपये को देखिए—

	रुपया	गेहूँ
[अ]	१)	ऽ२॥
[ब]	१)	ऽ५
[स]	५)	ऽ५

[अ] में रुपये की जो संख्या थी [ब] में भी वही है, परन्तु गेहूँ अधिक आ गया है इसलिए उतने ही रुपयो में अधिक गेहूँ मिलने लगा है, यानी गेहूँ सस्ता हो गया है। [ब] में जितना गेहूँ था [स] मे भी उसकी उतनी ही मात्रा है परन्तु [स] मे रुपयो की संख्या बढ़ गयी है। इस प्रकार उतने ही गेहूँ के लिए अधिक रुपये मिलने लगे हैं यानी रुपया सस्ता हो गया है।

अब बात आपकी समझ मे साफ तौर से बैठ रही होगी। सरकार के युद्धकालीन अनुत्पादक और अन्धाधुन्ध खर्चों से हो, रोग, महामारी, अकाल या देशव्यापी दंगों के कारण से प्रजा की बरगलाई हुई विध्वंसक नीति और अनुत्पादक हड़तालो के कारण हो, अथवा अन्य किसी भी

कारण से हो, जब देश मे धन-धान्य की कमी हो जाती है और दूसरी ओर सरकार को अपने बे-लगाम खर्चों तथा वैदेशिक व्यापार के दबाव आदि के कारण जब अन्धाधुन्ध नोटो के छापने पर बाध्य होना पडता है तो रुपये की वही दुर्दशा होती है जो आज हमारे सामने मौजूद हे। भारत पर यह कोई नयी मुसीबत आई है, सो बात नहीं। चारों ओर ऐसी परिस्थितियो मे ऐसा ही होता रहा है। इसलिए सभी सरकारो को और हमारी अपनी प्रजातंत्र सरकार को तो विशेष रूप से, बे-लगाम नोटो के छापने से बचना चाहिये वरना जनता का विश्वास रुपयों से उठ जाता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी आँखो के सामने है। आज अरबो के नोट देश मे चला दिये गये हैं, यानी सरकार ने अरबो रुपया देश मे बिखेर दिया है परन्तु चारो ओर से शोर यही उठ रहा है कि देश का सारा व्यापार ठप होता जा रहा है। कई शहरो मे भिन्न-भिन्न वर्ग के भिन्न-भिन्न लोगों को मैने कहते हुए सुना है कि व्यापार रुपये मे ।) रह गया है। महँगे से महँगे दाम पर भी किसान खुशी से गल्ला देने को राजी नहीं है। क्यो ? क्योकि रुपयो मे उसका विश्वास हिल-सा गया है। रुपयो के अवमूल्यन ने उसे और भी गहरा धक्का दिया है। यह अविश्वास कैसे उत्पन्न होता है, और कैसे काम करता है, इसका नकशा नीचे के आङ्कडो मे नजर आयेगा—

जुलाई १९१४ ई० मे रूस मे नोटो के पीछे ९२% स्वर्ण कोष सुरक्षित था और सितम्बर मे एक पौण्ड के बदले १२२५ रूबल [रूसी सिक्का] मिलता था। परन्तु जब १९२३ ई० मे "स्वर्णविहीन अरक्षित" [इनकॉन्वर्टिबिल] नोटो का मुद्रण शुरू हुआ तो एक पौण्ड के बदले ५०४०००००० रूबल भी महँगे दिख रहे थे। उसी प्रकार १९१४ ई० मे आस्ट्रिया मे एक डालर के बदले ४९ क्रोनेन मिल रहे थे, परन्तु १९२३ ई० मे "अरक्षित स्वर्ण-विहीन" मुद्रण के फलस्वरूप १४ डालर के बदले १०००००००० क्रोनेन भी भारी हो गये। जर्मनी मे १९१४ ई० मे १ पौण्ड के बदले २० मार्क मिलते थे परन्तु १९२३ ई० मे १०००००००००००० मार्क भी एक पौण्ड के बदले महँगे हो रहे थे। अन्त मे तो यहाँ तक हुआ कि जर्मनी मे जर्मनी के नोटो को जर्मन जनता ने लेना इनकार कर दिया और उसके बदले विदेशी बैंको के नोट अधिक विश्वसनीय माने जाने लगे। इस प्रकार जब स्वर्णहीन-मुद्रण-नीति के कारण सरकार मुद्रास्फीति का घातक चक्र चला देती है तो स्वभावतः

धीरे-धीरे जनता का विश्वास सरकारी सिक्कों से उठ जाता है। इस अविश्वास का परिणाम यह होता है कि सरकार की सत्ता क्षीण-सी हो जाती है और राष्ट्र के जीवन तथा कारोबार में घोर अराजकता उत्पन्न हो जाती है। भारत के सामने नेताओं की लाख ईमानदारी और सतत चेष्टाओं के बावजूद भी जो घोर अर्थ संकट और पेचीदगियाँ उत्पन्न हो गयी हैं उसमें सरकार की मुद्रास्फीति का बहुत बड़ा भाग है। आज स्वतन्त्र होकर भी भारत का करोड़ों रुपया जो 'पौण्ड पावने' के रूप में अंग्रेजों के गोरखधन्धे में बेकार हो रहा है, स्वातन्त्र्य और सामर्थ्य की हुँकारें लेते हुए भी अंग्रेजों के पुछल्ले के समान आज जो भारतीय रुपये का "अवमूल्यन" [डिवेल्युएशन] करना पड़ता है, वह ऐसी ही मुद्रा-स्फीति का दुष्परिणाम है।

अतः आवश्यक है कि सबसे पहले भारत की एक मौलिक, स्वतन्त्र और सुदृढ़ मुद्रा-नीति हो जिस पर संसार के आर्थिक उतार-भाटों का असर न हो, भव्य अट्टालिकाओं के सुविरचित अन्तस्थलों में जनसमुदाय से अलग और दूरी पर बन्द रहनेवाले अर्थशास्त्रियों की दिमागी उलट-फेर का प्रभाव न पड़ने पाये।

भारतीय मुद्रा की इसी अविश्वसनीय चञ्चलता को लक्ष्य करके हिलटन यंग कमीशन ने सिफारिश की थी कि "भारतीय मुद्रा की सुदृढ़ता को सोने की शकल में सुरक्षित रखने के लिए मुद्रा को सोने के आधार पर ही इस प्रकार चलाना चाहिये कि आवश्यकतानुसार उसे सीधे और निर्विरोध रूप से सोने में बदला जा सके, परन्तु स्वयं सोने का मुद्रा [रुपये] के रूप में व्यवहार न होना चाहिये।" परन्तु अफसोस है कि आज भी हमारी मुद्रा का आधार सोना नहीं, इङ्गलैण्ड का सदिग्ध पौण्ड पावना ही बना हुआ है और नतीजा यह है कि इङ्गलैण्ड की चाल पर हमें भी नीचे-ऊपर होना पड़ रहा है। इङ्गलैण्ड के "अवमूल्यन" के साथ ही भारत को भी विवश होकर "अवमूल्यन" की खंदक में उतरना पड़ता है।

मुद्रा विस्फीति

२६२. कांग्रेस सरकार की नजर में देश की यह दुर्गति नहीं है, ऐसी बात नहीं। परन्तु इस दुर्गति से छूटने के रास्ते पर चलने की उसके पास हिम्मत का अभाव ही दीख रहा है। हम देखते हैं कि मुद्रास्फीति की यातना से छूटने के लिए "मुद्रा विस्फीति" (डिफ्लेशन) की बातें होने लगी हैं क्योंकि इन लोगों ने अंग्रेजी में छपी हुई अर्थशास्त्र की मोटी-मोटी

पाठ्य पुस्तको में दिये हुए सिद्धांतो को अच्छी तरह जहननशीन किया है। उसके वाहर इन वातो के रचनात्मक पहलू पर गौर करने का इन्हें न तो मौका मिला और न हिम्मत हुई।

'डिफ्लेशन' यानी मुद्रा विस्फीति का अर्थ मुद्रास्फीति का ठीक उलटा होता है यानी नोटो का प्रचलन वस्तु पदार्थ की तुलना मे कम कर दिया जाये। मुद्रास्फीति का उल्लेख करते हुए ऊपर जो कुछ दिखाया गया है उसकी ठीक विपरीत दिशा मे सोचिये तो 'विस्फीति' का चित्र साफ नजर आने लगेगा। यहीं यह भी नजर आयेगा कि रुपयों की अधिकता से जिस प्रकार चीजें काबू के वाहर महँगी हो जाती हैं, उसी प्रकार रुपयों की कमी से इतनी सस्ती भी हो सकती हैं कि उत्पादक वर्ग को उत्पादन मे रस ही न रह जाये और सारा उत्पादन कार्य ही ठप पड जाये। ये दशाएँ भी हमारे अनुभव मे आ चुकी हैं। इसलिए हमे तो 'स्फीति' और 'विस्फीति' के घातक चक्रो से विलकुल स्वतन्त्र, किसी स्थायी मुद्रा-नीति का सहारा लेने मे ही उद्वार नजर आता है।

आज नोटो के आधिक्य से जो मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गयी है, उसके निराकरण के लिए सरकारी टैक्स मे वृद्धि करके, सरकारी खर्चो मे कमी करके, वेतन मे कटौती करके, सरकारी ऋणों मे जनता का रुपया फँसा कर या अन्य ऐसे ही तरीको से नोटो को वापस ले लेने से ही वात नहीं बन जायेगी।

सही रास्ता

२६४. वस्तुतः, हमे अधिक श्रम और अधिक उत्पत्ति करके नोटो की सतह में ऊपर उठना होगा। भारत जैसे नंगे, भूखे, रोगी और दरिद्र देश के लिए तो यही एकमात्र सच्चा रास्ता है। मुद्रा-विस्फीति का अमेरिका जैसे देशो मे कोई मतलव निकल भी सकता है जहाँ वस्तु पदार्थ के रूप मे धन-धान्य की प्रचुर मात्रा भरी हुई है, जहाँ दिन-रात में अनेको वार भोजन की व्यवस्था है, जहाँ मेज-कुर्सियो पर भी रेशम और ऊन के गद्दे पड़े रहते हैं, जहाँ स्कूल, अस्पताल, और अन्य सभी सुविधाओ की भर-मार है। वहाँ नोटो की मात्रा घटा देने से शायद काम चल भी जाये, परन्तु केवल नोटो की मात्रा घटा देने से वेचारे भूखे और नगे भारत के पेट मे दाने और तन पर कपड़े नहीं हो जायेंगे, यह काम तो काफी भोजन, वस्त्र, और काफी औषधि आदि की सुगमता से ही वनेगा। यानी हमें हर हालत में श्रम और उत्पत्ति को वढ़ाना होगा। परन्तु वह सव स्फीति और

विस्फीति के गोरखधन्धे मे पडकर हवा न हो जायें, इसलिए हमे अपनी मुद्रा नीति को वस्तु विनिमय ('वार्टर') और सहकारिता (को-आपरेटिव्स) के आधार पर ही खड़ा करना होगा।

विनिमय पर विचार करते हुए हम अर्थ-शास्त्र की टेढ़ी-मेढ़ी परिभापाओ मे आपको उलझा रखना उचित नहीं समझते; यों तो देखने में यह प्रश्न जितना सरल मालूम होता है, वास्तविक व्यवहार मे उतना ही जटिल है, परन्तु यहाँ हम केवल 'वस्तु-स्थिति' (Facts) के तुलनात्मक निरीक्षण से यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि हमारे वर्तमान विनिमय की व्यावहारिक भित्ति क्या है, उसके माध्यम और मानव जीवन की आवश्यकताओ का नाता कैसा है और यदि उनमे परिवर्तन की गुंजाइश है तो क्योकर। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह हमारा अन्तिम परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है और इस पर विचार किये विना हम 'नव-भारत' की कल्पना भी नहीं कर सकते।

विनिमय, एक अनिवार्य आवश्यकता

२६५. आखिर विनिमय की आवश्यकता ही क्यो होती है ? सरल-सा उत्तर है कि किसान जुलाहे को अन्न देकर वस्त्र ले लेता है और इस प्रकार किसान तथा जुलाहा—दोनों के अन्न-वस्त्र, दोनो वस्तु की सहज ही पूर्ति हो जाती है परन्तु इस वैयक्तिक लेन-देन के साथ सामाजिक सम्पन्नता का प्रश्न लगा हुआ है क्योंकि व्यक्ति के संघटित समूह को ही समाज कहते हैं। सम्पन्नता का प्रश्न उठते ही 'आधिक्य' (Surplus) की आवश्यकता विद्यमान होती है। एक किसान को अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोपण के लिए जितने अन्न की आवश्यकता है यदि वह उतने से अधिक पैदा नहीं करता तो वस्त्र के वदले जुलाहे को देने के लिए उसके पास अन्न का अभाव ही रहेगा। एक ही मनुष्य अन्न, वस्त्र तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओ का अकेले उत्पादन करने में सफल नहीं हो सकता, अनुपाततः उसे जरूरत से ज्यादा प्रवन्ध और परिश्रम करना पड़ेगा, फिर भी अनेको कार्य्य और वस्तु उसके किये के वाहर हो जायेंगी। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना उत्पादन क्षेत्र परिमित करके उस पर सगठित 'जोर' देता है और परिणामतः 'आधिक्य' स्थापित करना उसके लिए सहज हो जाता है। जीवनावश्यकताओ के निमित्त 'आधिक्य' और फिर उस 'आधिक्य' द्वारा अन्यान्य वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए 'विनिमय' का विधान करके मनुष्य जीविका और जीवन-

संघर्ष को सुगम तो बनाता ही है, अपनी कार्य-व्यस्तता को कम करके (क्योंकि अब उसे अकेले ही एक के बजाय अनेकों कार्य में उलझा नहीं रहना है) मनोरञ्जन तथा ज्ञानोपार्जन के लिए भी यथेष्ट अवकाश प्राप्त करता है। उसे अब अपने पुरुषार्थ में आत्मविश्वास का अनुभव होता है। इस प्रकार एक अविच्छिन्न जीवन प्रवाह के लिए विनिमय धीरे-धीरे अनिवार्य आवश्यकता का रूप धारण कर लेता है।

विनिमय माध्यम की सृष्टि

२६६. अब एक कदम और आगे बढ़िये। यहाँ पहुँच कर स्वाभाविक प्रश्न होता है कि कितने अन्न के लिए कितना वस्त्र या कितने वस्त्र के लिए कितना अन्न देना होगा? इस कितने-कितने का प्रश्न उठना ही सिद्ध करता है कि दोनों के बदलौन का एक निश्चित आधार, एक व्यवस्थित पैमाना होना चाहिये—बदलौन का पैमाना अर्थात् विनिमय-माध्यम। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है जब हम देखते हैं कि किसान को अब अपने गाँव के जुलाहे से अन्न बदल कर कपड़ा नहीं लेना है बल्कि उसके बदले जापानी मिलों से तन ढकने के लिए नकली रेशम मँगाना है या जर्मनी के कारखानों से हजामत के लिए उस्तरे और 'ब्लेड' लेने हैं। तो क्या वह अपनी गेहूँ की बोरियाँ जापान और जर्मनी भेज कर रेशम और उस्तरे मँगाये? सम्भव भी हो तो खेद यह है कि जापान को गेहूँ या चना नहीं, लोहे की और जर्मनी को पेट्रोल की दरकार है। फिर भी जर्मन या जापानी को भारतीय किसान से विनिमय करना ही पड़ता है क्योंकि गेहूँ या चना वह किसी रूसी या अमेरिकन को देकर अपनी आवश्यकता को पूरी करता है। इस प्रकार पारस्परिक विनिमय ने एक अन्तर्राष्ट्रीय 'परावलम्बन' के रूप में हमारी ग्राम्य-सम्पन्नता[1] का

---

१ ग्राम्य-सम्पन्नता शब्द का प्रयोग केवल विश्लेषणात्मक ही नहीं, अर्थ तथा उत्तरदायित्व पूर्वक किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय परावलम्बन के पुजारियों का कहना है कि भारत को जर्मनी के कोयले, रूस के तेल तथा नार्वे के कागजों पर निर्भर करना ही पड़ेगा अन्यथा मनुष्य के लिए सङ्गठन और सहयोग पूर्वक कार्य करना असम्भव और मानव विज्ञान की गति भङ्ग हो जायगी। परन्तु हमारे कृपालु आलोचकों को स्मरण रखना होगा कि बाकू और मक्सिको के तेल की खानों तथा टाटा और क्रुप्स के स्टील कारखानों तथा अहमदाबाद, मैनचेस्टर या कोब के मिलों की सामूहिक उपज के पहिले भी ढाका के मलमल देश-विदेश में प्रचलित थे, भारतीय और चीनी कारीगरी संसार भर में प्रतिष्ठित थी, मुगल कला और मीनाकारी विश्व विस्मय का कारण मानी जाती थी, लोग कलमयी खानों की सामूहिक उपज के अभाव में धातुओं से वञ्चित थे (पृष्ठ ३३२ पर)

स्थान लेकर विनिमय के लिए विनिमय-माध्यम की सृष्टि को अनिवार्य बना दिया है।

२६७. इस विनिमय माध्यम के प्रश्न पर तनिक ध्यान से विचार कीजिये। जर्मन अपने उस्तरे भारतीय को देकर जापानी से नकली रेशम की गाँठें मँगाता है और वह जापानी अपने रेशम जर्मन को देने के पश्चात् कुछ को मेक्सिकन से तेल के पीपे और शेप का मिस्री और अमेरिकन से रूई मँगाता है। स्वभावतः विनिमय क्रम की यह अनन्त और गतिमान शृङ्खला विनिमय-माध्यम को एक "स्वतन्त्र" और "स्वगामी" सृष्टि मे परिणत होने पर वाध्य कर देती है। स्वतन्त्र इस

सो वात भी नहीं, वडी से वडी तोपें, भारी से भारी घण्टे और कलश, तलवार, वन्दूक, वर्तन तथा सर्वत्र नाना रूप से धातु का उपयोग होता था, सोने-चाँदी की पालकियाँ, मूर्त्तियाँ, हाथियो के हौदे तथा जवाहरात की भरमार सिद्ध करते हैं कि हम आज की कलमयी, केन्द्रित और सामूहिक उपज के विना भी धातु और धन-धान्य से परिपूर्ण थे। भारतीय इतिहास और साहित्य के साथ ही हमारे निकट-पूर्वजो के अनुभव हमें साक्षात् कराते हैं कि हम खनिज पदार्थों का तब भी प्रत्येक आवश्यक उपयोग करते थे। मिट्टी के तेल विना हम अँधेरे में रहते थे, सो वात नहीं। तव के झाड और फानूसो का वहुरङ्गी तथा चित्ताकर्षक 'प्रकाश अव के विजली-पसन्दो की 'नयन जोत' को हर कर हसरत का कारण वन गया है। हम तव जाडे में कपडे विना ठिठुर कर या गर्मी की लू से झुलस कर चूहो की मौत मर जाते थे, सो वात भी नहीं। फिर वात है क्या? वात यह है कि तव वही और उतनी ही उपज की जाती थी जिसकी और जितने की आवश्यकता और खपत या निश्चित वैदेशिक माँग होती थी। तव हमारी उपज को हमारी आवश्यकताओ पर निर्भर रहना पड़ता था और उत्पादक तथा खरीदार का पारस्परिक साक्षात् उनकी आवश्यकताओ के अनुपात को नियन्त्रित और प्राकृतिक धरातल पर स्थिर रखने में क्रियात्मक शक्ति वना रहता था। परन्तु अव उपज करके कहीं न कहीं, भारत या कान्गो में, किसी न किसी के द्वारा, आवश्यकता या अनावश्यकता का विचार किये विना ही, माल उनके सिर ठोक देना है, यह है सामूहिक उपज और उसकी "प्रचारित" तथा 'जवरदस्ती" की खपत, यही कारण है कि हम देश, काल, ऋतु, आचार, विचार तथा व्यवहार के प्रतिकूल भी हजारो कार्य और वस्तु के आदी होते जा रहे हैं, यह आदत हमारी आवश्यकताओ की सूचक नहीं और इसी अनावश्यक खपत को सफल विस्तार देने के लिए "पूँजी-प्रेरित" "विद्वान् लोग" "ग्राम्य-सम्पन्नता" के विरोध में "अन्तर्राष्ट्रीय-परावलम्वन" के नारे लगा रहे हैं और परिणाम यह है कि अति-उपज (Over Production) और भोजनागार में भूख की उत्पीडक यातनाओ से लोगो की व्याकुलता वढती ही जा रही है। जरा सोचिये कि हम वसे तो हैं वनारस के गाँव में और हमारे वच्चे विलायत की विस्कुट और हार्लिक्स की वोतलो पर पल रहे हैं। कहलाने को हम हिन्दुस्तानी हैं और लदे हैं जापान या अमेरिका के नकली रेशम से। परिणामत हम सीधे-से (Direct) "विनिमय" के स्थान में एक दुरूह और पेचदार (Complicated) माध्यम का सूत्र प्राप्त करने के लिए वाध्य हो जाते हैं।

प्रकार कि आप गेहूँ पैदा करें या खरगोश के बच्चे, आपको कपड़ो की आवश्यकता हो या मूँछ काली करने के लिए खिज़ाब की, आपको अब एक माध्यम प्राप्त है जिसके द्वारा संकटकालीन अथवा अन्य असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर आप अपनी वाञ्छित वस्तु को सहज ही प्राप्त कर सकते हैं, अपने वाञ्छित कार्य को सुलभ बना सकते हैं। स्वगामी इस प्रकार कि वह आपके बिना भी एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास, एक स्थान से दूसरे स्थान पर, सदा, निरन्तर गति से, पहुँच कर कार्य करता रहता है। अर्थात् अब जीवन की आवश्यकता और विनिमय प्रेरणा मे कोई साक्षात् और तात्कालिक सम्बन्ध नहीं रहा। अब लोग अपने माल अथवा परिश्रम के बदले मुद्रा प्राप्त करते हैं जो विनिमय-माध्यम के रूप मे प्रचलित होता है। वर्तमान मुद्रा-विधान के पूर्व भी विनिमय-माध्यम की चलन रही है (कौड़ी अथवा बेल इत्यादि) परन्तु आज की मुद्रा पद्धति ने विनिमय माध्यम को एक अत्यन्त विकृत और जटिल रूप दे दिया है। खैर, इस प्रश्न के विचार पर हम फिर आयेंगे, यहाँ हमे केवल यही समझना है कि अब लोग जीवनावश्यकता की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि सिक्कों के लिए उत्पत्ति और कार्य करते हैं, या यों कि अब हमारे श्रम और उत्पादन का लक्ष्य जीवनावश्यकता की पूर्ति नहीं, पैसों की प्राप्ति पर अवलम्बित हो गया है।

'स्वतन्त्र' और 'स्वगामी' विनिमय-माध्यम के दो आवश्यक विशेषण

२६८. इस अस्वाभाविकता के साथ एक तीसरी पेचीदगी पैदा होती है, उत्पत्ति और जीवनावश्यकता की पूर्ति के मध्य एक नवीन प्राणी की सृष्टि अनिवार्य हो गयी है जिसे 'मिडिलमन' या दलाल कहना चाहिये। 'दूकानदार' या आढ़त-वाले भी इसी वर्ग मे आते हैं। आपका गुड़, उसका कपास, तीसरे का गेहूँ, चौथे का लोहा या ज़ेवर—सब लेते जाते हैं और सबको बदले मे सिक्के अर्थात् प्रचलित "विनिमय-माध्यम" देते जाते हैं। हम इन सिक्कों को देकर समय तथा आवश्यकतानुसार किसी अन्य व्यक्ति या स्थान से अपनी मनोवाञ्छित वस्तु को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार अब जुलाहे को किसान की या किसान को जुलाहे की न तो आवश्यकता ही रह जाती है, न उनका पारस्परिक साक्षात् या सम्पर्क हो पाता है। दलालों की चख-चख और बाजारू चहल-पहल मे वह पैसा

पैसे की माया

लेता है और उन्हीं पैसो के हेर-फेर से अपनी आवश्यकता पूरी करता है और, परिणामतः, लोगो का सामाजिक परस्पर भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार हमारे विनिमय-माध्यम के "स्वतन्त्र" और "स्वगामी" होने के कारण दूकानदार और महाजनो को उत्पादक और खरीदार—दोनो पर अपना घना साया फैलाने का सुअवसर प्राप्त हो गया है। एक ओर तो लोगो को ऐसा माध्यम मिल जाता है जिसके द्वारा अत्यन्त सरलता पूर्वक अदल-बदल की झक-झक या परेशानी उठाये विना ही निष्कण्टक रूप से वह अपनी आवश्यकता पूरी कर लेते हैं, दूसरी ओर उत्पादक वर्ग को स्वतन्त्र होकर अपने कार्य विस्तार मे सहायता मिलती है। परन्तु अभी यहाँ बात ध्यान मे रखने की तो केवल यह है कि इस माध्यम की उपरोक्त विशेपता के कारण चारो ओर लेन-देन का सौदा सहज ही गर्म हो उठता है; कुछ भी दो, माल या मेहनत, कहीं भी, कैसे भी दो, कुछ कागज या धातु के टुकडो के हेर-फेर से काम बन जाता है। इस मुद्रा-विधान से श्रम और पूँजी, दोनो सन्तुष्ट हैं; एक की परेशानी दूर होती है, दूसरे को शक्ति और सम्पन्नता का साधन प्राप्त होता है क्योकि जितनी ही अधिक मुद्रा का वह मालिक होगा उतना ही उसका कार्य-क्षेत्र व्यापक होगा और इसी शक्तिशाली और सम्पन्न व्यापकता को अकाट्य और स्थायी बनाये रखने के लिए पूँजीपति श्रेणी-बद्ध होकर आयोजना और प्रचार करता है और श्रमिक वर्ग भी स्वार्थ-वश उसीका समर्थन करता है। परिणामतः हमारा "साधन" (माध्यम) "साध्य" (आवश्यकता) बन कर सबको आच्छादित कर लेता है; अमीर, गरीब, सेठ, साहूकार, मजदूर, किसान, राजा, रङ्क—सब पैसे की माया मे फँस जाते हैं।

२६६. अब यहाँ आकर इस माध्यम का चतुर्थ खण्ड प्रारम्भ होता है—सरकारी नियमन। विना सरकारी नियमन के मुद्राविधान के दूषित या भङ्ग होने का भय है, अतएव सभी लोग सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं। अब सिक्को पर सरकारी आधिपत्य स्थापित हो जाता है अर्थात् उत्पादन और जीवन की आवश्यकता तथा श्रम और पूँजी के बीच विनिमय माध्यम रूपी डोर को पकड़े हुए सरकार हमारे जीवन-यापन पर भी कानून का अप्रत्यक्ष परन्तु प्रत्यक्ष से भी प्रबल पञ्जा रख देती है। इसका एक प्रबल प्रमाण आपको अभी ३९-४५ ई० युद्ध के परिणाम स्वरूप रुपयों की कमी और हमारी आर्थिक

सिक्को पर सरकारी आधिपत्य

बेचैनी से मिला होगा। हजारों काम रुकने लगे, बाजार में सौदा मिलना भी कठिन हो गया, चारो ओर अजीब कोलाहल और हाहाकार का साम्राज्य था। सरकार को विवश हो कर एक रुपये का कागज़ी नोट चलाना पड़ा। चाँदी के रुपये की मिलावट में भी हेर-फेर करना पड़ा।[1] सरकार ने बे-लगाम होकर नोट छापे।

विनिमय माध्यम—वर्तमान स्वरूप और सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषमता

२७०. माध्यम द्वारा समस्त विनिमय व्यवहार पर सरकारी आधिपत्य होने का एक दुःखद प्रमाण भारतीय विनिमय अनुपात (१ शि० ६ पें०) से मिलेगा। माध्यम पर सरकारी आधिपत्य होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विषमता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि बहुधा राजनीतिक कारणों वश ही एक देश को दूसरे का मुँहताज होना पड़ता है। एक राष्ट्र स्वेच्छा-पूर्वक दूसरे का आर्थिक जीवन दूभर कर देता है। १९४५ ई० युद्ध के पहले भी कई देशों के सम्मुख (जब कि उनका अन्य देशों से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था और उन देशों में यथेष्ट उपज भी थी) विनिमय-माध्यम के अभाव के कारण जीवन-मरण की समस्या खड़ी थी। विनिमय-माध्यम की इसी पेचीदगी के कारण भयङ्कर सामाजिक विषमता और अंतर्राष्ट्रीय वैमनस्य उत्पन्न हो जाता है।

२७१. डा० ग्रेगरी इस कटु सत्य का जिक्र करते हुए हमारे नेत्रों के सम्मुख एक शोचनीय चित्र प्रस्तुत करते हैं—

"चाय और रबर वाले अपनी उपज को घटाते जा रहे हैं क्योंकि मध्य युरोपीय देशों के पास पैसा (सिक्के) ही नहीं जिसे देकर वह उनकी उपज को खरीद सकें।"[2]

---

१ एक रुपये के नोट की चलन में रिजर्व बेंक कानून का, युद्ध से स्वतन्त्र और पूर्व निश्चित आयोजन था, फिर भी उस स्थगित 'निश्चय को कार्य रूप देना ही उसका युद्ध से सम्बन्ध जोड़ देता है, कुछ भी हो, युद्ध की पेचीदगी या रिजर्व-बेंक कानून का पूर्व निश्चित उद्देश्य, दोनो ही आर्थिक सङ्कट और "माध्यम" की पेचीदगी का प्रकाश करते हैं। खैर, इस प्रश्न तथा सिक्कों के "रूपक" (Token) इन पर आगे चल कर विचार होगा।

२ रुपये की परिभाषा करते समय हम उसके लाक्षणिक तथा अन्य अनेक पहलू पर फिर विचार करेंगे परन्तु एक बात यहाँ समझ लेना आवश्यक है कि रुपये से अर्थ ताँबे के सिक्के, कागज के नोट, हुण्डी और चेक इत्यादि, सोने चाँदी तथा अन्य धातुओं के सिक्के होते हैं। क्या इङ्गलैण्ड और अमेरिका जो माल दूसरे देशों से खरीदते हैं उसका दाम सोने की सिल्लियों (पृष्ठ ३३६ पर)

२७२. इस प्रकार विनिमय विधान और उसके माध्यम की दूषित पेचीदगियाँ इन अर्थ शास्त्रियो के ही दिये हुए हमारे प्रचलित सिद्धांतों पर भी आघात करना चाहती हैं ; "माँग और पूर्ति की व्याख्या" (Law of Demand and Supply) झूठी दीख रही है। माँग भी है, माल भी है, पर लेने और देनेवाले, दोनो, अपने-अपने स्थान पर निरीह और निष्क्रिय-से खड़े हैं। अफगानिस्तान को भारतीय कपड़ो की जरूरत है परन्तु वह भारतीय कपड़ो का दाम भारतीय सिक्को से नहीं, काबुल के मेवों से चुकाना चाहता है। परन्तु भारत तो भारतीय सिक्के या सोना चाहता है। परिणामतः न तो भारत को मेवे प्राप्त होगे न अफगानिस्तान को कपड़े। भारत मे लाखो चीजो की कमी है। सारे देश मे हाहाकार है। परन्तु भारत को विदेशो से माल नहीं मिल पा रहा है क्योंकि "स्टर्लिंग" (पौण्ड पावने) ने भारत की सोने या सिक्के की निधि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसी प्रकार सिक्को का पारस्परिक आधार नष्ट हो जाने के कारण हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को एक-दूसरे का माल सुगमतापूर्वक नहीं मिल रहा है।

माँग और पूर्ति

साधन (माध्यम) ने साध्य (वस्तु) का स्थान लेकर एक अजीब उलझन पैदा कर दी है। अब कपड़े और मेवो की माँग के लिए सिक्कों की माँग पैदा होती है। सिक्कों के अभाव मे जीवनावश्यकता का अभाव और अन्त मे लोगो का जीवन कृत्रिम पैराये मे ढलने लगता है। इस माध्यम का एक और परिहास जनक उदाहरण लीजिये—

"पत्रकारो ने कुस्तुन्तुनिया के सर्वश्रेष्ठ होटलो में पौण्ड के भाव से (नाम पर) इतने सस्ते मे बसर किया जो इस प्रकार सस्ते होने के लिए हास्य-जनक था।"

से ही चुकाते है ? नही , आखिर हुण्डी और नोटो का ही प्रयोग तो होता है। फिर भला कुछ देशो के लिए उमी सुविधा का अभाव क्यों हो जाय ? स्पष्ट उत्तर है कि हमारे विनिमय विधान और उसके माध्यम का वर्तमान रूप। इसी उलझन से बचने के लिए भारत सरकार के भू० पू० व्यवसाय मन्त्री सर जफरउल्ला खाँ ने "बार्टर" (वस्तु से वस्तु विनिमय) का प्रस्ताव किया था। जर्मनी के अर्थ मन्त्री डा० शॉट ने इसी नीति का प्रयोग करके जर्मनी को आर्थिक विनाश से बचाने का जबरदस्त आयोजन किया था। भिन्न-भिन्न देशो में पण्यो के बदले पण्यो का सफलता पूर्वक आदान-प्रदान किया गया है। इससे मुद्रा या मुद्रा-धातु पर वस्तु विनिमय की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

२७३. अभिप्राय यह कि विनिमय-माध्यम के सरकारी रूप ने वस्तु पदार्थ के मूल्य को बिल्कुल कृत्रिम और निराधार-सा बना दिया है। और यदि परिणाम स्वरूप मनुष्य-मनुष्य, समाज और राष्ट्र में अनुचित विषमता उत्पन्न हो गयी है तो आश्चर्य नहीं बल्कि इसे सरकारी देन और प्रचलित माध्यम सिद्धातो का ही फल समझना चाहिये।

२७४. इसी विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए यह दुहराना पड़ता है कि अब लोगो के सम्मुख यह प्रश्न नहीं कि कितने गज कपड़े के लिए कितने सेर गेहूँ या जौ अथवा कितने अन्न के लिए कितना परिश्रम करना होगा, बल्कि प्रश्न यह है कि सिक्को की अमुक सख्या के लिए कितना परिश्रम या कितनी वस्तु देनी होगी।

सिक्के और जीवनावश्यकता

पारस्परिक व्यवहार मे भी अब एक किसान दूसरे से यह कहता हुआ बहुत कम देखा जाता है कि—भाई मेरे खेत मे चार दिन सिंचाई करा दो मैं तुम्हारे खेत मे चार दिन गुड़ाई करा दूँगा। वह अब कहता है कि—"चलो हमारे खेत मे पानी चला दो, दो आने पैसे दे दूँगा।" श्रम ही नहीं, उत्पादन भी "पैसो के लिए" हो रहा है। कल वाला किसान जो गेहूँ, जौ, या तूर की पैदावार करके अपनी तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति का उत्तरदायित्व सँभाले हुए था आज वही जौ, गेहूँ या तूर की अपेक्षा गन्ने की फसल पर उतर आया है और चीनी की मिलें उसकी खड़ी फसल को लेकर तत्काल पैसे दे देती हैं; इस प्रकार वह अनेक झझटो से बचने की तो सोचता ही है, पैसे भी उसे अधिक मिलते हैं; अब उसका लक्ष्य पैसों पर है न कि जीवनावश्यकताओ पर। इस बात पर ध्यान से विचार कीजिये। गेहूँ का गुण यह है कि उससे पेट भर कर सुखी और स्वस्थ रहा जाये। गेहूँ का यही असली मूल्य है। यह अमीर-गरीब, सबके लिए एक समान है। परन्तु अब गेहूँ वाले को सीधे गेहूँ देकर कपड़ा नहीं मिलता। अब गेहूँ के लेनेवाले और देनेवाले, दोनो की नजर गेहूँ के क्षुधा निवारक या आवश्यकता निवारक तत्वो पर नहीं, उसके बदले कितने सिक्के मिल सकते हैं, इस बात पर है। इसका अर्थ यह कि गेहूँ का प्राकृतिक मूल्य नष्ट करके उसमें एक बिल्कुल ही कृत्रिम मूल्य की सृष्टि की गयी है। विशेष बात यह स्मरण रखने की है कि अब गेहूँ वाले ने पैसो के लोभ मे मिल वालो की इच्छा और आवश्य-

कृत्रिम मूल्य

कतानुसार गन्ने बोया है इसलिए अब मिल वालों की न्यूनाधिक खपत और विक्री पर उसकी उपज, उसके कार्य-क्रम निर्भर हैं, उन्हीं की मर्जी और व्यवस्था पर उसे जीना-मरना पड़ता है।[1] यही नहीं, बल्कि यह भी समझने की बात है कि अब वह गुड़ या गेहूँ देकर जुलाहे से कपड़े नहीं प्राप्त कर रहा है बल्कि मिल से पैसे लेकर कस्बे वाले दूकानदार से अपने लिए चीजें मोल ले रहा है। उसी एक गाँव के जुलाहे और किसान, मोची और ठाकुर की पारस्परिकता नष्ट हो गयी है। सारा सामाजिक सूत्र ही छिन्न-भिन्न हो चला है। इसमे वह रेल, पुलिस, जहाज, चुङ्गी या इनकम टैक्स के साथ ही दूकानदारो का मुनाफा भी चुका रहा है। इन्हीं बातों से भूख और लाचारी का विस्तार हो रहा है। इस प्रकार साधन को साध्य और माध्यम को मूल समझ लेने का फल यह होता है कि हमारा सामूहिक जीवन, हमारा सामाजिक संघटन अब पारस्परिक श्रम और सहयोग पर अवलम्बित नहीं रहा, पैसों के नाम पर दुःख और अभाव के एक विचित्र गोरख-धन्धे मे उलझा हुआ लड़खड़ा रहा है। पारस्परिक श्रम और सहयोग के ढीले पड जाने से मनुष्य के सारे बन्धन ढीले पड़ गये हैं, स्वार्थ, अनाचार और साम्प्रदायिकता ने समाज मे घर कर लिया है। सारांश यह कि वर्तमान मुद्रा-विधान और विनिमय-माध्यम का आधार अप्राकृतिक हो जाने के कारण समस्त संसार का जीवन संकटमय हो उठा है। कहलाने के लिए अर्थशास्त्र के अनेको महा विद्वान् और धुरन्धर पण्डित समस्या का हल करने में सिर-पच्ची कर रहे हैं परन्तु उनके द्वारा हमे कुछ बड़े-बड़े लाक्षणिक और अज्ञेय शब्दों के सिवा अधिक प्राप्त होता नहीं दीखता।

वर्तमान मुद्रा-विधान और विनिमय-माध्यम का अप्राकृतिक आधार

---

1 "A farmer, who cultivates Money Crops for factories, is no better than factory labourer. In fact the lands, which are given up to these crops, are functionally part of the factory, which means the farmers working on these farms are themselves factory labours. They lose their independence, they have no bargaining power, and they get the lowest of returns'— J. C. Kumarappa, Industrial Survey Committee Report, Part I, vol 1, P 5

(२)

२७५. प्रत्येक ग्राम मे विभिन्न पेशे के लोग रहते हैं आज ही नहीं, पहले भी लोग इसी प्रकार वसे हुए थे। अन्न, वस्त्र, जेवर, जवाहरात, शिक्षा, कला और कारीगरी, औषधियाँ तथा अस्त्र-शस्त्र की पूर्ति प्रत्येक गाँव, प्रत्येक नगर, न्यूनाधिक रूप मे स्वय करता था। एक को दूसरे का बहुत ही कम मुँहताज होना पडता था, कम से कम प्रत्येक क्षेत्र सन्तुष्ट और स्व-सम्पन्न था। पारस्परिक अदल-बदल द्वारा अनेक आवश्यकताओ को पूर्ण कर लेना उसके लिए सरल-सी बात थी। यह नहीं कि हम वसे है काशी मे और हमारे बच्चे अँग्रेजी बिस्कुट या हॉलैण्ड की बोतलो पर पल रहे हैं। कहलाने को हम हिन्दुस्तानी हैं पर हमारा तन जापान के नकली रेशम से लदा पडा है, हमारी चाय जावा की चीनी बिना मीठी ही नहीं होती। परिणामतः, "वस्तु विनिमय" के स्थान मे हम "विनिमय-माध्यम" का एक अस्वाभाविक सूत्र प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

पारस्परिक अदल-बदल द्वारा जीवनावश्यकताओं की पूर्ति

२७६. यह कहा जा चुका है कि विनिमय द्वारा मनुष्य अवकाश, अधिक सुविधा और सम्पन्नता ही नहीं, सामूहिक सहयोग और सामाजिक जीवन को भी सुलभ बनाता है। यह भी दर्शाया गया है कि अब वह विनिमय से "विनिमय-माध्यम" पर उतर आया है। "विनिमय-माध्यम" यानी वर्तमान मुद्रा-विधान मे सिक्के, करेन्सी नोट, बैंक-चेक, हुण्डियाँ तथा ट्रेज़री-बिल इत्यादि सभी सम्मिलित हैं।

'विनिमय-माध्यम' शब्द का स्पष्टीकरण

२७७. ससार का सम्पर्क घनिष्ट हो जाने के कारण लोगों की पारस्परिक लेन-देन भी बढ़ गयी है और इसे निरन्तर गति से बढ़ती रहने के लिए "विनिमय-माध्यम" को विस्तार देते जाना ही (भले ही इस स्वच्छद विस्तार मे अनाचार और उलझनें पैदा हो गयी हैं) सरकारो का लक्ष्य बन गया है। मशीनाश्रित व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजी मे केन्द्रीयता का समावेश हो गया है और पूँजी का अर्थ है मुद्रा (विनिमय-माध्यम)। मुद्रा के लिए सभी लालायित हैं और वह पूँजीपतियो (साम्राज्यवादियों का परिवर्तित रूप) के हाथ या

मुद्रा (विनिमय-माध्यम) की व्यापक माँग

सरकारी सूत्रो मे केन्द्रित है, अर्थात् असख्य लोगो पर थोड़ों का सहज ही प्रभाव स्थापित हो जाता है।

२७८. विनिमय के साथ ही ज्यो-ज्यो वस्तु-पदार्थ का साम्पत्तिक रूप जटिल होने लगता है विनिमय-माध्यम की जटिलता भी गूढ होती जाती है। करोड़ो मन गंगा जल हिमालय से निकल कर हिन्द-सागर मे वह जाता है; जिसकी जितनी इच्छा हो घर ले जाये, नहाये, धोये, भोजन बनाये; कोई पूछ-ताछ नहीं, कोई रोक-टोक नहीं; इसलिए उसका कोई मूल्य भी नहीं। परन्तु जब दक्षिण भारत मे उसकी शीशी और बोतलें परिश्रम और पुरुपार्थ के साथ पहुँचानी पड़ती हैं तो निस्सन्देह गगा जल का मूल्य लगने लगता है और वही स्वतन्त्र मूल्यहीन वस्तु अब सम्पत्ति के रूप मे प्रकट होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे वन्द घर मे हवा का सुखोपभोग करने के लिए विजली के पखे द्वारा प्राप्त हवा का मूल्य स्थिर हो जाता है। अब वही हवा और वही पानी साम्पत्तिक रूप मे हमारे सम्मुख आ रहे हैं। नहरो मे सिचाई करनेवाले, पर्वतागारो मे वटुरकर विजली पैदा करनेवाले या बोतलो मे वन्द होकर दक्षिण भारत पहुँचनेवाले गगा के सञ्चित जल के समान यदि हवा का भी आयात-निर्यात प्रारम्भ हो जाय तो वह भी निश्चित रूप से सम्पत्ति की गणना मे आ सकती है। सम्पत्ति की इस वढ़ती हुई पेचीदगी के साथ स्वभावतः माध्यम की जटिलता वढ़ती जाती है, विशेषतः वर्तमान युग मे जब कल-कारखानों के द्वारा सम्पत्ति के केन्द्रित उत्पत्ति पर कुछ थोड़ो का ही आधिपत्य हो जाता है और वे लोग उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का स्वेच्छानुसार सञ्चालन करते हैं। इसलिए एक ऐसे माध्यम की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है जो लेन-देन के लिए सदा सुविधानुसार तैयार रक्खा जा सके। सिक्के पहले भी थे परन्तु अब उनको सदा सुरक्षित रखने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है क्योकि वेंचनेवाले केन्द्राधिपति बन जाने के कारण "मॉग और खपत" के अन्तर्गत नहीं रहे, मॉग और खपत को ही अपने मनोवाञ्छित इशारो पर पैदा कर रहे हैं। माल रहते हुए भी नहीं वेंचते, वेंचकर उसके मूल्य को किसी सुअवसर के लिए रख छोड़ते है; अपने धन और सम्पत्ति को वह स्वेच्छानुसार जहॉ उन्हे अधिक गुञ्जाइश, अधिक मुनाफा दीखता है, लगाते हैं; भारत का धन जापानी मिलों मे, जापान का धन अफ्रीका

सम्पत्ति के उत्तरोत्तर पेचीदगी के साथ विनिमय माध्यम की जटिलता

के जगलो मे, अफ्रीका का सोना अमेरिका के बैंको मे, अमेरिका की रूई चीन की बाजारो मे खप रही है और वह भी विचित्र रोक-थाम और व्यावसायिक चालो के साथ। कहने का अभिप्राय, मुद्रा अर्थात् विनिमय-माध्यम मे स्थायित्व का गुण होना परमावश्यक हो गया है ताकि वह वर्षों तहखानो मे दबे रहने पर भी खराब न हो सके। फलवाला शाम तक अगर की टोकरी खाली न कर ले तो उसका माल खराब हो जायगा और बात उसकी जीविका पर भी आ सकती है। उसी प्रकार किसान और जुलाहे को भी शीघ्रातिशीघ्र अपना माल खपाना चाहिये वरना उसकी सुरक्षा कठिन हो जायगी और यदि लम्बी रक्षा करनी पडी तो वह बे-मौत मरा। परन्तु सिक्को को जब तक मन चाहे दबाये रखिये और फिर भी वह आपकी योजनानुसार कार्य करेंगे। विरोधाभास तो यह है कि सिक्को के इस स्थायित्व ने ही ससार की व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है। लोगो को मनमाना खर्च करने का अवसर मिलता है और वह अपने खर्च मे समाज तथा राष्ट्र को आवश्यकताओ को सुगमतापूर्वक नजर अन्दाज कर जाते हैं।

विनिमय-माध्यम में स्थायित्व का गुण परमावश्यक है

२७९. सिक्को का यह दोष विशेष दुःखदायी तब बन जाता है, जब वह छोटे से बडा और बडे से भी बडा करेन्सी और बैंक नोट, चेक, ट्रेजरी बिल, ड्राफ्ट और हुण्डी बन जाता है।

विनिमय के लिए एक सरल से माध्यम का होना दोष-युक्त नहीं होता बशर्ते कि उनका अङ्कित मूल्य (Denominations) अधिक न हो। छोटे मोटे सिक्के (पैसे, एकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी तथा अठन्नी, पेनी या सेन्ट आदि) अधिकतर जीवन के दैनिक व्यवहार मे ही काम आते हैं, इन्हे बटोर कर जमा रखने या व्यावसायिक उलट-फेर मे बहुत कम काम लिया जाता है। परन्तु रुपये शिलिङ्ग, करेन्सी या बैंक नोटो द्वारा बडे-बडे सौदे होते हैं, एकत्रित करके वैयक्तिक कोष तैय्यार होता है, चोर बाजार का संचालन किया जाता है जिनका हमारे आर्थिक अस्तित्व पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है, समाज मे आर्थिक विषमता उत्पन्न हो जाती है, कहीं धनाधिक्य, कहीं धनाभाव खड़ा हो जाता है और परिणामतः नाना प्रकार के रोग और व्याधियाँ उत्पन्न

आर्थिक रोग मूलतः माध्यम-विधान से ही उत्पन्न होते है

होकर हमे त्रस्त करने लगती हैं। संसार का प्रत्येक आर्थिक रोग मूलतः इस प्रकार के माध्यम-विधान से ही उत्पन्न होता है। केवल दो-चार उदाहरणो से ही बात स्पष्ट हो जायगी।

(अ) आप किसी देहाती को एक रुपया देकर दस सेर गेहूँ खरीदते हैं। वह चुपके से आपको गेहूँ देकर आपका रुपया लेता है क्योकि वह जानता है कि उसी रुपये को लौटाकर वह अपना तन ढकने के लिए जुलाहे से कपड़ा ले सकता है, सुनार को देकर अपनी स्त्री के लिए नाक की लौंग खरीद सकता है। आप किसी से काम कराकर उसे १) दे देते हैं और वह अपने परिश्रम के बदले आप से प्राप्त रुपये के द्वारा अपने अन्न और वस्त्र की व्यवस्था करता है। किसान, जुलाहा या मजदूर, आपके रुपये को देकर अपने बीमार बच्चे के लिए दवा खरीदते हैं और वह दवा कैंनाडा या इङ्गलैण्ड से आयी है। दवा वाला डाक्टर कैनाडा से माल मँगाने मे आपका ही रुपया इस्तेमाल करता है। परन्तु कैनाडा वाले आपका रुपया वैसे ही नहीं स्वीकार कर लेते जैसे हम और आप। कैनाडा वालो का दाम तो कैनाडा के ही सिक्को मे चुकाना पडेगा और आपके सिक्को का मूल्य उनके लिए उतना ही है जितना उसमे वास्तविक द्रव्य है। आपके रुपये या नोट मे कितनी चाँदी या कागज है? बेशक आपकी सरकार (जिसके नाम से आपके सिक्के चल रहे हैं) अपने 'मेटैलिक रिजर्व' या "करेन्सी बैकिङ्ग" द्वारा आपके सिक्को की जमानत करती है और आपके यह सिक्के (Token Money) सरकारी निश्चित दर पर ही स्वीकार कर लिये जाते हैं और यदि आपकी सरकार सुदृढ़ और विश्वसनीय हुई तो आपके सिक्के निर्विरोध स्वीकार भी होते रहते हैं।[1]

सरकारी सुदृढता और सिक्के

---

१ सरकार की दुर्बलता अर्थात् उसके "रिजर्व" और 'करेन्सी बैकिंग" की कमजोरी से दशा कैसी शोचनीय हो सकती है—आपने डा० ग्रेगरी के तुर्की सम्बन्धी उपरोक्त उदाहरण तथा भारत सरकार की बडे नोटो की "रद्दी करण" आज्ञा की पारिणामिक पेचीदगियो से देखा होगा। विनिमय में ही नही, यो भी जितना माल या परिश्रम आपने दिया, उसके बदले में आपको प्राप्त सिक्के में उतना ही द्रव्य नही रहता। समय पडने पर आप कह सकते है कि आप ठगे गये, आपको धोखा दिया गया, कसदन नही, गलत तरीको के कारण।

परन्तु इसमे वास्तविक पेचीदगी क्या होती है?[1] एक ओर जैसा अभी कहा गया है, धनाधिक्य और धनाभाव की दीवार खडी होती है और उसी विषमता के आधार पर प्रलयकारी व्यावसायिक चालें, आर्थिक उलट-फेर और सामाजिक ववण्डर पैदा किया जाता है, दूसरी ओर कैनाडा की माँग है कि उसके माल के बदले उसे उतनी ही चाँदी या सोना मिलना चाहिये। कैनाडा मे एकत्रित आपके सिक्के भारत लौटाये जायँ और फिर यहाँ से उतनी ही चाँदी या सोना भेजा जाय, इसमे कुछ खतरा है, कुछ खर्च होगा अर्थात् आपके सिक्को का कैनाडा को चुकता पाने के लिए कुछ बट्टा देना पड़ा। बस इसी सिद्धान्त पर एक देश का दूसरे देश के सिक्के से विनिमय-दर स्थिर होता है जो परिवर्तनीय परिस्थितियो का अपेक्षित होने के कारण नित्य नयी परेशानियाँ उत्पन्न करता रहता है। यह दूसरी बात है कि अधिकाशतः सोना या चाँदी नहीं लौटाना पड़ता परन्तु वह व्यावसायिक विधान और पारस्परिक समझौता हमारे प्रस्तुत माध्यम प्रश्न से पृथक् की बात है।

मुद्रा विधान की परिवर्तनीय परिस्थितियों की नई परेशानियाँ

(ब) यहाँ से हम तनिक और आगे बढते हैं। हमने अभी-अभी यह समझने की कोशिश की है कि "वैदेशिक व्यापार की आर्थिक पूर्ति" के लिए ही हमे "देश-देश की मुद्रा का विनिमय-दर" स्थापित करना पडता है परन्तु वैदेशिक व्यापार छोटे-छोटे सिक्को द्वारा नहीं बड़े-बड़े कागजी नोट और अन्य महाजनी युक्तियो से ही चलता है।

मुद्रा ही सर्वव्यापी क्रयशक्ति है

---

१ सिक्को में यदि उतनी ही धातु हो जितना मूल्य उन पर अङ्कित होता है तो सिक्को के बनाने और चलाने का खर्च सरकार पर जबर्दस्त घाटे के रूप में पडेगा। अतएव इसे पूरा करने के लिए सरकार सिक्को के धातु में अनुपातत कमी करके काम चला लेती है। होना तो चाहिये कि सरकार इस खर्च की सार्वजनिक कोष से पूर्ति करे जैसे सडक और सराय बनाना सरकारी धर्म है। मेरे इस विचार का समर्थन कई अन्य विद्वानो के द्वारा भी होता है। इतना ही नहीं, अभी कुछ दिन पहले अमेरिका में 'स्वर्ण-सनद" (Gold Certificate) की चलन भी थी। यह सनद होते तो बतौर नोट के ही थे पर इच्छा होने पर आप सरकारी खजानो से उतना ही सोना ले सकते थे। परन्तु ससार की व्यावसायिक पेचीदगियो में पडकर उस प्रथा को रद करना पडा और हमें संसार के समस्त मुद्रा-विधान को सोच समझ कर उसी बात पर सप्रमाण जोर देने का साहस होता है जिसकी ओर मे आपको ले चल रहा हू।

मुद्रा के इस पहलू को समझने के लिए यह स्मरण रखना परम आवश्यक है कि आजकल "रुपया"—जिसे अगरेजी मे 'मनी' (Money) कहते हैं केवल चाँदी के सिक्को, सोने की मुहरों या कागजी नोटो को ही नहीं, बल्कि उन तमाम शक्तियो को कहते हैं जिनके द्वारा हम कुछ वस्तु-पदार्थ या शक्ति की लेन-देन कर सकते हैं—संक्षेप मे, रुपये को "क्रय-शक्ति" (Purchasing Power) कहना चाहिये।

रुपया : क्रय शक्ति

यहाँ इस बात मे उलझने की न तो आवश्यकता है, न ही वह हमारे प्रस्तुत विषय का कोई अनिवार्य अङ्ग है कि कुछ पूँजीपतियो का गुट और सत्ताधारियो का समूह मात्र ही इस "क्रय-शक्ति" का विधायक वर्ग है और सर्वसामान्य को उसी के जाल मे फँसे हुए जीना-मरना पड़ता है। पौण्डपावने के सूत्र से हमारे समस्त मुद्रा विधान पर इंगलैण्ड और अमेरिका का सिक्का बैठा हुआ है। इस प्रकार भारतीय मुद्रा विधान पर विदेशियो का प्रभुत्व होने से सारे देश का जीवन दुखी हो गया है। हमारी सुदृढ़ सरकार भी इस गोरखधन्धे मे फँसकर लाचार-सी दीख रही है। अनिच्छा होते हुए भी इङ्गलैण्ड और अमेरिका की सुविधा के लिए रुपये का मूल्य घटा देना पड़ता है (अवमूल्यन, '४९ ई०) और सारे राष्ट्र के आर्थिक जीवन मे भयंकर उथल-पुथल पैदा हो जाती है।

क्रय-शक्ति का विधायक वर्ग

२८०. हमारे इस मुद्रा (Coins) का, चाँदी की छोटी चवन्नी या कागज का हजारा नोट—जिनमे उतना ही द्रव्य नहीं होता जितने के लिए वे प्रचलित होते हैं—अस्तित्व प्रमुखतः "रूपक" (Token) होने के कारण ही इस प्रकार की लाचारी उत्पन्न होती है क्योकि हमारी मुद्रा प्रचलित सरकार या व्यवस्था की परमुखापेक्षी है और उसी के साथ या उसी की इच्छा पर उसका मूल्य राई से पर्वत और पर्वत से राई हो सकता है अर्थात् हमारी मुद्रा कोई वास्तविक वस्तु नहीं, केवल एक सरकारी आज्ञा है जो सहज ही बन-बिगड सकती है[1]।

रूपक मुद्रा और सरकार

१ भारत सरकार का नोटो के सम्बन्ध में '४६ का 'काला-कानून' इसी बात का एक सचित्र प्रमाण है। वास्तव में देखा जाय तो बड़े-बड़े नोटो की चलन में सरकारी स्वार्थ और सुविधा ही प्रधान है क्योकि सरकार को बिना किसी विशेष खर्च के बहुत ही बडी "क्रय-शक्ति" प्राप्त हो जाती है जिसके लिए उसे कर्ज या टैक्स का सहारा नहीं लेना पडता। अतएव (पृष्ठ ३४५ पर)

२८१. अस्तु हम मुख्य वात यह समझने की चेष्टा कर रहे हैं कि वैदेशिक व्यापार, जिसके परिणाम मे हमारा दैनिक जीवन उलटता-पलटता रहता है और जो "स्वदेशी" आदर्श के

हुण्डियाँ और मान्य हो जाने पर भी वर्तुलाकार विस्तार-क्रम मे

आर्थिक उलट-फेर अनिवार्य हो जायेगा, वडे वड़े कागजी नोट, चेक और हुण्डियो से ही चलता है। इनमें भी हुण्डियाँ, सरकारी हो या महाजनी, विशेष महत्त्व रखती हैं क्योंकि अधिक सरल और स्वच्छन्द होने के कारण वह अधिक प्रचलित हैं। मूलतः हुण्डियो को दो अजनवी व्यापारियो के लेन-देन की एक व्यावसायिक उक्ति कहना चाहिये। सम्प्रति, हम हुण्डियो का महाजनी वर्णन न करके इतना ही कहना यथेष्ट समझते हैं कि इनके चतुर हेर-फेर तथा व्यावसायिक सचालन के द्वारा हमे नित्य प्रति वहुत सी मुद्रा या द्रव्यादि (सोना, चाँदी आदि) यहाँ से वहाँ नहीं करना पडता परन्तु इसका अर्थ यह होता है कि जिसको तुरन्त पैसा मिलना चाहिये उन्हे अपनी भरपाई के लिए महीनों भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है। जो पैसा आज मिलना चाहिए वह यदि छः मास के पश्चात् मिले तो प्रचलित महाजनी के अनुसार ६ महीने का सूद भी उसूल होना चाहिए। या यो कि जव भारत की हुण्डी अमेरिका वाला लेता है तो वह यह भी सोचता है कि हुण्डी का अङ्कित मूल्य भारत से भरपाने के लिए खर्च और समय लगेगा ; उतना मूल्य हुण्डी की रकम से कम हो जाना चाहिये। वस, इसी सिद्धान्त पर व्यावसायिक समझौतो का जाल, विनिमय दरो की विषमता, तथा अनेक आर्थिक उलट-फेर होते रहते हैं और हम नित्य वाजारू उतार-चढ़ाव के शिकार होते रहते हैं।

सूक्ष्म दृष्टि से कागजी नोट तथा वैंक के चेक और हुण्डियाँ—इसी श्रेणी मे आ जाते हैं और इन सवने मिलकर घातक उलझनें पैदा कर दी हैं। विनाशक सट्टेवाजी (Speculation) को जन्म लेने का यहीं कुअवसर प्राप्त होता है। यह सामूहिक सट्टेवाजी संयुक्त-राष्ट्र जैसे देश की साम्पत्तिक धुरी को तोड़ सकती है।[1]

हम कह सकते है कि इनके अस्तित्व में कोई लोक हित नही, विशेषत , जव कि हम देखेंगे कि इनके विना हमारा जीवन-व्यापार अधिक सुगम और सुदृढ हो सकता है।

१. संयुक्त राष्ट्र के सन् ३२ के महाजनी सकट का इतिहास देखिये।

(३)

२८२. हमने यह भली-भाँति समझ लिया है कि समस्त संसार के प्रचलित विनिमय-माध्यम शत-प्रति-शत दूषित हो गये हैं और परिणामतः उसका मुद्रा-विधान गलत रास्ते पर पहुँच गया है। यही नहीं कि उसमे सुधार की आवश्यकता है, बल्कि "वस्तु-विनिमय" (Barter) के आधार पर एक सामञ्जस्यात्मक मार्ग निकालना ही श्रेयस्कर दीख रहा है, अतएव हम चाहते हैं कि—

'मुद्रा विधान' मे 'वस्तु विनिमय' के आधार पर एक सामञ्जस्यात्मक मार्ग की आवश्यकता

(अ) प्रत्येक गाँव या शहर में एक सुदृढ़ और सुसंगठित पंचायत हो जो "प्रजातंत्रात्मक" आधार पर उस गाँव के ही समस्त व्यक्तियो द्वारा निर्वाचित तथा गाँव के सुशिक्षित और अनुभवी लोगो द्वारा सञ्चालित हो और उसके हाथ मे स्थानीय शासन के निमित्त आवश्यक शक्ति भी हो ताकि वह अपने निर्णयो को लोगो पर लागू करने मे समर्थ हो सके। ऐसी शक्तिशाली और सुव्यवस्थित पंचायत के अन्तर्गत प्रत्येक स्थान मे एक "सहयोगी बैंक" होना चाहिये। पंचायत का कर्तव्य होगा कि वह अपने क्षेत्र के प्रत्येक व्यक्ति को परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार श्रम और उपार्जन पर बाध्य करे और साथ ही साथ असमर्थ लोगो को उपार्जन का साधन देकर उनसे आवश्यक उपार्जन कराये। बैंक का कार्य होगा कि ऐसे श्रमिक समुदाय का महाजन बन कर उनके जीवन संघर्ष को सुगम बनाये। बैंक की लेन-देन द्रव्य और मुद्रा से नहीं, जीवनावश्यकता से चलेगी। यह बैंक जुलाहे का कपड़ा, किसान का अन्न,[१] सुनार के जेवरात, लुहार का सामान, चित्रकार की कला कृतियाँ उसी प्रकार लेकर जमा करेगा जैसे रुपये या करेन्सी नोट और यह उसी प्रकार लोगो को आवश्यक वस्तु भी देगा। इन बैंको का आवश्यक सूद या मुनाफा मुद्रा के रूप मे नहीं, वस्तु-पदार्थ के रूप मे ही होगा। हमे इन प्रस्तुत बैंको को सहयोगी-संस्था (Co-Operative Societies) और सहयोगी बैंको का सम्मिश्रण रूप स्थापित करना होगा। किसको, कैसे, कितना, कितने समय के लिए, कितने सूद पर,

प्रजात्मक सहयोगी बैंक

---

१ बैंक द्वारा एकत्रित अन्नादि का किसानो का कर और कर्मचारियो का वेतन चुकाने में भी उपयोगी होगा। इसी प्रसंग में भारत सरकार को सिक्के के स्थान में वस्तु पदार्थ के व्यवहार की बात भी सोचनी चाहिये।

किन प्रमाणो पर, कर्ज देना चाहिये—यह सब आवश्यक हेर-फेर के साथ महाजनी कानून और प्रथा के अनुसार तय कर लेना होगा।

(ब) उपर्युक्त (पंचायत और बैंक) विधान के पश्चात् बहुत कम लोगो को, बहुत कम पैसो की आवश्यकता पडेगी। वहाँ केवल यही नहीं कि एक वस्तु लेकर दूसरी वस्तु दी जायेगी बल्कि श्रम और मजदूरी के बदले मे भी जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान की जायेंगी।

पचायत और सहयोगी बैंक

शिक्षक, रेलवे, पुलिस और चुंगी के कर्मचारी तथा नौकरी पेशावालों को भी इसी प्रकार सन्तुष्ट करना होगा।[1] मनुष्य-मनुष्य की आर्थिक विषमता दूर होने के साथ ही मालिक और सरकार, सब के खर्च मे आश्चर्यजनक कमी भी हो जायेगी। आखिर सेनाओ मे कपडा और खूराक मिलती ही है, वही प्रथा अन्यत्र लागू करने मे क्या हर्ज है? यदि कोई अडचन है तो उसे हम प्रारम्भिक कहेगे और उसका दूर होना कठिन नहीं। परन्तु प्रश्न यह होता है कि हम रेल पर सवार हुए या हमने डाकखाने से एक चिट्ठी भेजी तो उसके बदले मे हम क्या देंगे? ऐसी ही और इसी सिद्धान्त पर अन्य अनेको बातें उत्पन्न हो सकती हैं जहाँ एक सुगम माध्यम की आवश्यकता अनिवार्य दीखने लगती है। अतएव

घटोत्तर नोट

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेसेल (Gessel) के मतानुसार जिसका आस्ट्रिया मे सफल प्रयोग भी हो चुका है[2] हम "घटोत्तर" (Diminishing Value) नोटो का प्रस्ताव करेंगे। इसका यह अर्थ है कि आज आपको एक रुपये का नोट मिला, एक महीने के पश्चात् उसे चलानेवाले को -) का टिकट लगाकर चलाना पडेगा। दूसरे मास फिर -) का दूसरा टिकट लगाना पडेगा क्योकि प्रति मास उनकी कीमत मे -) की दर से कमी होती जायेगी। इस प्रकार कोई भी मनुष्य नोटो को जमा करके धनी बनने की कोशिश न करेगा बल्कि उसे शीघ्र-अति-शीघ्र खर्च करना ही हितकर समझेगा। परिणामतः मुद्रा का चक्र (Circulation of Currency) निरतर गति से चलेगा और सामूहिक व्यवसाय मे वृद्धि होगी; साथ ही टिकटो की बिक्री का धन सार्वजनिक हित मे लगाया जायेगा

---

१ उत्तरी पश्चिमीय सीमा प्रात के पठानो में अब भी यह प्रथा कार्य कर रही है।

2 What every body wants to know about money—G C. H. Cole

अथवा सिक्कों के सञ्चालन विभाग का खर्च पूरा होगा। इस सम्बन्ध में दो-चार अन्य बातें ध्यान में रखना आवश्यक है। पुलिस, सेना, सरकार, रेल तथा अन्य बड़ी-बड़ी कम्पनियों के लिए तो यह सरल हो सकता है कि पैसों के बजाय लोगों को जीवन की आवश्यकता दें परन्तु सभी के लिए यह सम्भव होगा, सो बात नहीं। हम बाजार में गये, वहाँ से कुछ चीज ली जो हमारे चाहने पर भी हम से अकेले ढोकर घर नहीं लायी जाती। एक कुली की हमने सहायता ली। उसको मजदूरी कौन देगा? हमारी सरकार? हमारी पंचायत? हमारी कम्पनी? इस प्रकार खासा झमेला खड़ा हो जायगा। उस कुली को हम चावल, दाल, कुर्ता या धोती देते रहे तो हमें ऐसे ही सैकड़ों कामों के लिए एक अलग से जेनरल स्टोर और श्रमिकों को "सेल डिपो" रखना पड़ेगा। फिर समस्या हल कैसे हो?

मैं बहुत पहले ही कह चुका हूँ कि ऐसे दैनिक व्यवहार के लिए छोटे-छोटे सिक्के काम में आते हैं; उनका बस यही उपयोग है; उन्हें जमा करके व्यावसायिक उलट-फेर नहीं की जाती। इसलिए उनकी चलन को स्वीकार कर लेना न तो हानिकर है, और न हमारे वस्तु-विनिमय (Barter) के मार्ग में बाधक ही। उत्पादक वर्ग तो, चाहे छोटा किसान हो या बड़ा कारीगर, पञ्चायत की देख-रेख में अपनी उत्पत्ति का सहयोगी बैंक, सहयोगी संस्था, या साप्ताहिक हाट के द्वारा अदल-बदल करके अपनी आवश्यकता को पूरी करेगा परन्तु नौकरी पेशावाले सरकारी 'राशन' के अतिरिक्त अन्य चीजों की पूर्ति छोटे सिक्कों अथवा घटोत्तर नोटों द्वारा करेंगे। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि उत्पादक वर्ग इन सिक्के या नोटों के सदुपयोग से वंचित कर दिया जायेगा, सो बात नहीं। रेल, सवारी, या घर की गाड़ी, डाकखाने का महसूल, छोटी-मोटी मजदूरी, इत्यादि अनेकों बातें हैं जिनकी पूर्ति इन सिक्के या नोटों से की जायेगी।

हमें यह जानना चाहिये कि अमेरिका में मजदूरी भी चेकों द्वारा चुकाई जाती है। यह ठीक है कि अमेरिकन और भारतीय मजदूरी में बड़ा अन्तर है और भारतीय मजदूरी का नगण्य रूप चेकों द्वारा नहीं चुकाया जा सकता परन्तु हमें तो केवल यह देखना है कि मजदूरी चुकाने के लिए मुद्रा अनिवार्य वस्तु नहीं; हम तो वास्तव में वर्तमान बैंक चेक, हुण्डी इत्यादि सभी को समूल उड़ा देने की सलाह दे रहे हैं। हमारा लक्ष्य वस्तु-विनिमय पर है जो पंचायतस्थ, सहयोगी संस्था और बैंक

(जैसा कि बताया जा चुका है), सरकारी राशन, साप्ताहिक हाट छोटे सिक्के और "घटोत्तर नोटो" के साथ व्यवस्थित होगा।

छोटे सिक्के और "घटोत्तर नोट" दैनिक व्यवहार मे लाये जायेंगे, "घटोत्तर" नोटो के "बड़े-रूप" (Bigger Denominations) का वडी-वडी लेन-देन मे सदुपयोग होगा। प्रस्तुत विधान मे ताँवे का पैसा, एकन्नी, चवन्नी, और अठन्नी—केवल यही चार धातु-मुद्रा होगी। रुपया केवल "घटोत्तर नोट" के रूप मे होगा। उनमे १), १०), १००) के—केवल ३ नोट होगे। १००) के नोट न हो तो ठीक ही है; यदि उनका रखना अनिवार्य हो ही जाय तो उनकी "घटत" अवधि मे कमी या उनके "घटत" मूल्य मे वृद्धि करनी होगी। इस प्रकार हम दैनिक व्यवहार और देशस्थ व्यापार इत्यादि मे निर्बन्ध और निर्भय रूप से कार्य कर सकेंगे।

सिक्के और नोट

(स) अब रही वैदेशिक व्यापार की वात, उसमे हमारे घटोत्तर नोटों का प्रयोग सफल न हो सकेगा। इसके लिए हम अमेरिका के समान "स्वर्ण सनद" का प्रस्ताव करेंगे[1]। हमारा वैदेशिक व्यापार राष्ट्र-सभा के "अनुमति-पत्र" (License) पर निर्भर होगा। राष्ट्र सभा आवश्यक जाँच-पडताल, और देशीय आवश्यकताओं तथा अपने स्वर्ण कोप को ध्यान मे रखकर ही किसी व्यक्ति को वैदेशिक व्यापार की आज्ञा देगी; इस प्रकार सर्वप्रथम हम मुद्रा के विनिमय दर की उलझनो से बच जायेंगे क्योकि यह सनदें "रूपक" नहीं, वास्तविक होगी, हुण्डियो की परेशानी भी न रहेगी और इन सब की रही-सही कमी को हम आवश्यकतानुसार "वैदेशिक व्यापार डिपो" (Foreign Trade Depots) द्वारा पूरी करेंगे जहाँ प्रमाणानुसार हमारा स्वर्ण कोप[2] रहेगा और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग हो सकेगा। हमारे इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं कि सोना या चाँदी देकर ही हम बाहर से व्यापार करेंगे। जहाँ तक सम्भव होगा हमारा

हमारा वैदेशिक व्यापार

---

१ हिलटन यग कमीशन ने भी अपनी [Gold Bullion Standard] रिपोर्ट में ऐसी ही सिफारिश की है।

२ सोने के स्थान में यह चाँदी भी रख सकते हैं। यह ठीक है कि सोना या चाँदी का भी भाव चढता-उतरता है परन्तु कम से कम हमारा विधान एक निश्चित धातु से बँधा तो रहेगा।

वैदेशिक व्यापार भी केवल वस्तु-विनिमय के आधार पर चलेगा[1] परन्तु आवश्यकता पड़ने पर हम एक धातु का सहारा लेने के लिए तत्पर तो रहेंगे। हमें यह न भूलना चाहिये कि हम या तो वस्तु-विनिमय या अपनी निश्चित धातु के आधार पर ही व्यापार करेंगे, वाह्य मुद्रा को न हम स्वीकार करेंगे, न उनसे या उनकी उलट-फेर से हमें कोई वास्ता होगा। साथ ही साथ हमारी इन सनदों का स्वयं हमारे अपने देश के आन्तरिक व्यवहार में कोई उपयोग न हो सकेगा। वह कागज से भी रद्दी समझे जायेंगे। विदेशों में भी इनका केवल व्यावसायिक लेन-देन में ही उपयोग होगा। यदि कोई चाहे कि विदेशों में उन्हें जुटा कर सोना-चाँदी ले ले और फिर उसे देश में लाकर गाड़ रक्खे, इस बला से बचने के लिए उस निश्चित धातु का गैर-सरकारी आयात-निर्यात वर्जित कर देना होगा।

"नैशनल कूपन" और 'रेल वारण्ट'

(द) अब एक बात और रह जाती है। यदि हम विदेश में सैर-तफरीह के लिए जायें या विदेशी लोग हमारे देश में आये तो किस मुद्रा का सहारा लेंगे ? इसके लिए हमें "नेशनल कूपन" (राष्ट्रीय चिट्ठी) का विधान करना पड़ेगा; उसी प्रकार जैसे रेलों में टिकट लेने के लिए माईलेज-कूपन या पुलिस और सेना के वारण्ट चलते हैं अथवा कुक कम्पनी का अन्तर्राष्ट्रीय चेक चलता है। बाहर से आनेवालों को उनके ही देशीय दूतावासों से हमारी राष्ट्र सभा का कूपन प्राप्त हो जायगा। उनके बदले हमारा देश सम्बद्ध देश से उक्त मूल्य की वस्तु पदार्थ, सोना, चाँदी या अपने देशवालों के लिए उनके देश में उतनी ही सुविधा का हकदार होगा।

(य) "वस्तु-विनिमय-बैंक"

विदेशों में बड़े-बड़े दूकानदार अपने ग्राहकों को 'कूपन-बुक' दे रखते हैं। लोगों को जब कोई चीज लेनी होती है तो वे तत्काल पैसा न देकर

---

१ यह कोई अव्यावहारिक या नयी बात नहीं है। विश्व का इतना बड़ा युद्ध अमेरिका के "लेन्ड और लीज" के बल पर ही चला जिसे शुद्ध रूप में हम वस्तु विनिमय ही कहेंगे। भिन्न-भिन्न देशों के बीच बहुत सी लेन-देन इसी प्रकार हो रही है। जवाहर लाल ने अमेरिका से इसी आधार पर १०००००० टन गेहूँ माँगा था।

उन दूकानो से वही कूपन देकर माल ले लेते हैं। महीने के अन्त मे अथवा दूसरी कूपन-बुक माँगते समय दूकानदार ग्राहको से प्राप्त हुए कूपनो को लौटाकर उतना ही धन प्राप्त कर लेता है। इसे एक प्रकार से दूकानदारो की 'उपभोक्ता-चेक-बुक' (Consumers Cheque Book) कहना चाहिये। ३६-४५ ई० युद्ध के परिणामस्वरूप भारत मे रेजकारियो के अभाव मे भारतीय होटल और दूकानवाले रेजकारी न लौटाकर लोगो को कूपन दे दिया करते थे और लोग पुनः पैसा न देकर उन्ही कूपनो द्वारा उक्त स्थानो से माल प्राप्त कर लेते थे। बम्बई मे दूध के व्यापारी ग्राहको को कूपन-बुक दे दिया करते हैं। ग्राहक रोज दूध का नकद चुकता न करके उन्हीं कूपनो को देकर दूध ले लेता है। अन्त मे दूधवाला कूपन ग्राहक को वापस करके उतने ही पैसे पा लेता है। इन कार्यकारी और प्रचलित उदाहरणो को देखते हुए हम सहज ही प्रस्ताव कर सकते हैं कि प्रत्येक गाँव या नगर की स्थानीय पञ्चायत अपने सदस्य नागरिक को "कूपन-बुक" दे दिया करेगी। लोग इन कूपनो का किसी से भी, कोई चीज (अन्न, वस्त्र, दूध, दही, लोहा, सोना, ईंट, पत्थर), मजदूरी अथवा टिकट घर से टिकट लेने या सरकारी कर या फीस आदि मे व्यवहार कर सकेंगे। इन कूपनो को "वस्तु-विनिमय-वैंक" मे लौटाकर लोग आवश्यक वस्तु प्राप्त कर लेंगे। रेल या डाक विभाग इन कूपनो का सम्बद्ध पञ्चायत के सरकारी खाते से लेखा-जोखा कर सकेंगे ठीक उसी प्रकार जैसे "रेल वारेन्ट" या "माइलेज कूपन" का व्यवहार होता है।

इस सम्बन्ध मे दो-चार बातो पर ध्यान देना आवश्यक होगा—पहले तो यह कि 'कूपन-बुक' को सर्वमान्य बनाने के लिए उन्हे देनेवाली पञ्चायतो के अस्तित्व को राष्ट्र-सभा के अन्तर्गत कानूनी स्वीकार करना होगा। दूसरे यह कि ये कूपन केवल कूपन से करेन्सी नोट या दर्शनीय हुण्डी न बन जायें इसलिए "कूपन बुक" से एक बार फट जाने पर उन्हे 'वस्तु-विनिमय-वैंक" मे लौटा ही देना पड़ेगा। यदि कोई चाहे कि एक से प्राप्त कूपन दूसरे को देकर कुछ ले, सो असंभव होगा। इस दुर्व्यवहार को रोकने के लिए कूपन पर उसे कूपन-बुक से फाड़ते समय, पानेवाले का नाम, देनेवाले का हस्ताक्षर तथा तिथि डाल देना होगा। व्यापारी वर्ग ऐसे कूपनो को धन राशि स्वरूप एकत्र करके साम्पत्तिक विषमता या अनुचित व्यवहार न प्रारम्भ कर दे इसलिए उन्हे पाने की तिथि से एक मास के अन्दर ही, जब तक कि इसमे कोई प्रामाणिक बाधा न उपस्थित हो

जाय, "वस्तु-विनिमय-बैंक" के पास लौटा ही देना होगा। यथार्थतः ये कूपन एक प्रकार से बैंको के "नान नेगोशियेबिल" चेकों के रूप मे ही व्यवहृत होगे। यहीं लोगो की अतिरिक्त और आवश्यक आय की भी जॉच करने मे सहायता मिलेगी।

संक्षेप मे हम देखते हैं कि 'वस्तु-विनिमय बैंक' के द्वारा हम मुद्रा के स्थान मे सहज ही वस्तु-विनिमय का प्रादुर्भाव कर सकते हैं।

यहाँ "विनिमय माध्यम" के एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग पर विचार कर लेना परम आवश्यक प्रतीत हो रहा है। समाज की सीमित और प्रारम्भिक स्थिति मे वस्तु का वस्तु से बडी सुगमतापूर्वक विनिमय होता है। किसान जुलाहे को अन्न देकर कपड़ा ले लेता है। परन्तु यह बात बहुत क नहीं चल पाती। किसान के पास अन्न है परन्तु आवश्यकता उसे सालम मिश्री या केशर की आ पड़ी है। ये दोनो चीजें उसके गाँव में किसी के पास नहीं है। ऐसी दशा मे वह किसान क्या करेगा ? क्या वह सिर पर गेहूँ लादकर केशर वाले को ढूँढता फिरेगा ? ऐसी ही परिस्थितियो के लिए 'विनिमय-माध्यम' का आविष्कार हुआ था। किसान अपना गेहूँ देकर एक ऐसी चीज प्राप्त कर लेता था जिसे जरूरत पड़ने पर केशर वाले को देकर वह केशर प्राप्त कर लेता था। प्रारम्भिक दशा मे यह माध्यम भी उसी प्रकार सीमित रूप का हुआ करता था जैसे कौडी आदि। परन्तु जब समाज मे ऐसी चीजो का व्यवहार होने लगा जो बहुत दूर से चलकर आती थी (जैसे काश्मीर के केशर का बगाल के गॉव मे व्यवहृत होना) तो स्वभावतः ऐसे माध्यम की मॉग हुई जिसकी सर्वत्र समान रूप से मॉग हो और समान आदर हो। इसीलिए धीरे-धीरे सोने का महत्त्व स्थापित हुआ। परन्तु सोना कहीं खोटा न हो इसलिए वह ऐसे आदमी के नाम से चलने लगा जो सोने की असलियत का प्रमाण बन सके। यह आदमी था राजा; राजा ने सरकार का रूप धारण किया। सोना भी धीरे-धीरे सिक्का बन गया। सिक्का बनकर वह सोना भी नहीं रहा, ताँबा, निकिल और कागज बन गया। इन सारी बातो को हम ऊपर अच्छी तरह समझ चुके हैं। इन सारी बातो पर अच्छी तरह विचार करके हम यह भी समझ चुके हैं कि सिक्के का वर्तमान रूप क्या होना चाहिये।

उपर्युक्त सारे प्रस्तावो का सारांश निम्न रूप से हुआ—

(१) नाना प्रकार की नित्य-नैमित्तिक आवश्यकताओ के लिए धातु-मुद्रा (छोटे-छोटे सिक्के यानी पैसा, एकन्नी, चवन्नी, और अठन्नी) होगी।

(२) रुपया, केवल पटोत्तर नोटो के रूप मे—१), १०), १००)—रहेगा।

(३) वैदेशिक व्यापार के लिए स्वर्ण-सनद चलेगी।

(४) 'वस्तु विनिमय' को सफल और सार्थक बनाने के लिए पचायतस्थ गाँव-बैंक या सहयोगी सस्थाओ के द्वारा ही कार्य तथा लेन-देन होगी। इस बात को स्पष्ट रूप से ध्यान मे रखना होगा कि सम्बद्ध क्षेत्र से छोटा या बड़ा, जो भी व्यापार होगा वह केवल ग्राम पंचायतो के अन्तर्गत वस्तु-विनिमय-बैंक या सहयोगी सभाओ के द्वारा ही होगा। बाहरी व्यापार किसी भी दशा मे व्यक्ति के हाथ मे न रह सकेगा क्योकि इससे गॉव की सामूहिक सुव्यवस्था सुनिश्चित नहीं रह सकती। बाह्य व्यापार व्यक्ति के हाथ मे रहने से मुनाफाखोरी का घातक रोग उत्पन्न हो सकता है, सामाजिक विषमता को गति मिल सकती है और गॉव का सारा आर्थिक संतुलन नष्ट हो सकता है। इन सारी बातो को ध्यान मे रखते हुए, एक मात्र रास्ता यही रह जाता है कि—

(अ) स्थानीय तौर पर व्यक्तिगत आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तो व्यक्ति वस्तु-विनिमय को वैयक्तिक रूप से हाथ मे ले सकता है—

(ब) प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ के ऊपर की सारी उत्पत्ति अर्थात् सम्पूर्ण आधिक्य वस्तु विनिमय-बैङ्क मे जमा कर दे जो आवश्यकता पड़ने पर उसकी जमा पूँजी के रूप मे काम देगा।

(स) समाज की सामूहिक सुख-समृद्धि के लिए प्रत्येक बाहरी व्यापार व्यक्ति के हाथ मे नहीं, ग्राम पचायतो के हाथ मे रहेगा।

(५) 'रेल वारण्ट' या 'माइलेज कूपनो' के समान ग्राम्य पंचायतो के 'कूपनो' का उपयोग।

अब सिक्के, नोट और कूपनो के व्यवहार क्षेत्र को भी समझ लेना चाहिये। सिक्के या नोट तो स्वभावतः सार्वदेशिक और "अवैयक्तिक" Impersonal) होगे, जैसा कि मैने "स्वतंत्र" और "स्वगामी"

शब्दो से परिचय कराया है। परन्तु 'कूपन' बिल्कुल वैयक्तिक चीज होगे और इनका व्यवहार क्षेत्र एक प्रकार से निश्चित और सीमित होगा। साधारणतः ये गॉव या जिले से आगे न बढ़ सकेंगे यानी कूपन "स्थानीय" महत्त्व रखेंगे।

परिशिष्ट

(१)

खाद

खाद का सवाल एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस पर थोडा स्वतन्त्र रूप से विचार करने की जरूरत है। रासायनिक खाद पर मूल पुस्तक मे विचार किया गया है। रासायनिक खाद हर तरह से शुद्ध और स्वस्थ खेती के लिए हानिकर सिद्ध हुई है। विश्व के अनेक अधिकारी और अनुभवी वैज्ञानिको ने इसका प्रमाण पूर्वक विरोध किया है। इसलिए गोवर, मल मूत्र तथा अन्य 'कम्पोस्ट' खादो का उपयोग ही श्रेष्ठ दीखता है। परन्तु गोवर और 'कम्पोस्ट' खादो के उपयोग का अर्थ है—

(१) गोवर का उपयोग ईंधन के रूप मे निषिद्ध कर दिया जाये। गोवर के निषेध का अर्थ है ईंधन की समस्या। आज यह देश की वहुत बड़ी समस्या है और इस समस्या के हल पर वहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद ग्रामोद्योग सघ ने मगन चूल्हे का आविष्कार किया है। मगन चूल्हा सर्वत्र आसानी के साथ जलाया जा सकता है। इसके इस्तेमाल से समय और शक्ति की वचत होती है। स्वास्थ्य की रक्षा होती है। जो ईंधन की जरूरत रह जाती है उसके लिए लकडी आदि का उपयोग होने से गोवर को खाद के लिए वचाया जा सकेगा। लकडी आदि भी गाँवो मे दुर्लभ हो रही है। परन्तु इसका उपाय गाँव के सामूहिक चरागाह के समान गाँवो के किनारो पर सामूहिक वन्य-शृङ्खला खडी करनी होगी। भारत सरकार के वन महोत्सव का यही महत्त्व है। गाँवो के किनारो पर ऐसे वृक्ष लगाये जा सकते हैं जो गाँवो को लकडी देने के साथ ही दूसरे उद्योग-धन्धो मे भी काम आ सकें जैसे ववूल चमड़ा उद्योग का प्रमुख साधन है। ग्रामीण औषधियो मे भी इसकी जरूरत होती है। वड़े-वड़े वृक्ष ही नहीं, झाडियो को भी खड़ा किया जा सकता है। इन सवसे गाँव की ईंधन समस्या तो हल होगी ही, वर्षा का जल वेकार वह कर चले जाने के वजाय ये उसे रोक कर धरती के लिए संचित रखेंगी। आज पृथ्वी ऊसर और वंजर होती जा रही है, इसे रोकने के लिए जगल और झाड़ी की सख्त जरूरत है। जंगल और झाडियाँ पानी को पृथ्वी मे रोकती ही नहीं, आकाश से वादल को खींच कर वर्षा का

भी कारण वनती हैं। इन जंगल और झाड़ियो के बढ़ते हुए अभाव से ही वर्षा का अभाव बढ़ता जा रहा है। इसे तत्काल रोकने की जरूरत है। थार की मरुस्थली तेजी के साथ गगा की उपजाऊ तलहटी को हड़पने के लिए बढ़ती आ रही है। इसे रोकने के लिए सरकार ने जंगलों की योजना बनाई है। गाँव उजड़े जा रहे हैं। इस दुर्दशा को तत्काल रोकने की जरूरत है। कौन पेड़ काटे और कौन बेचे जा सकते हैं, कौन नहीं—इन सब का स्पष्ट विधान करना होगा।

दूसरा प्रश्न है कम्पोस्ट का। इस श्रेणी में मनुष्य का मल-मूत्र सबसे कीमती खाद है। परन्तु आज यह अपार सम्पत्ति यो ही विनष्ट हो रही है। इसके लिए गाँवो मे व्यक्तिगत और सामूहिक टट्टी और पेशाव-घरो की व्यवस्था करनी होगी।

इस प्रकार खाद की समस्या तो हल होगी ही, गाँवो के जीवन मे क्रान्ति उत्पन्न होगी। हम देखते हैं टट्टियो की व्यवस्था न होने से गाँव वालो को महान कष्ट है। वर्षा और धूप मे, जाड़े और अँधेरी रात मे भी बाहर जाना पड़ता है। कष्टकर और अस्वास्थ्यकर होने के साथ ही स्त्री तथा रोगियो के लिए तो यह व्यवस्था अभिशाप बनी हुई है। इस अभिशाप से मुक्ति प्राप्त करना है। इस सम्बन्ध मे किसी भी रचनात्मक आश्रम से सलाह और सहायता प्राप्त की जा सकती है।

इस सम्बन्ध मे भी श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन का सुझाव है कि गाँव का प्रत्येक घर १ या ½ एकड़ मे बने जिसके साथ ही साग सब्जी के बाग हो; वहीं-टट्टी घर भी हो ताकि मल-मूत्र का भी खाद बनाने और बरतने का साधन सबको सुलभ हो सके।

इस तरह हम देखते हैं कि खाद्य से खाद और खाद से सम्पूर्ण गाँव की पुनर्रचना का सवाल जुड़ा हुआ है। रचनात्मक दृष्टि से प्रश्न को हाथ मे लेते ही सारा चक्र अपने आप गतिमान हो उठता है।

(२)

हजारा नोट

सन् ४६ के शुरू होते न होते भारत सरकार ने काले कानूनो द्वारा ५००), १०००) तथा १००००) के नोटो को रद्द कर दिया और उन्हे एक निर्दिष्ट अल्पावधि के अन्दर ही सरकारी खजानो मे वापस कर देने

का आदेश दिया गया। इन नोटो के लौटानेवालो से अनेको असगत खाना-पूरी की भी मॉग की गयी, और सरकारी दृष्टि से इन उत्तरो के संतोषप्रद होने से इन नोटो के भुगतान का विशेष सम्बन्ध था। सरकार के प्रकाशित उद्देश्यो का सक्षिप्त तात्पर्य्य यही प्रतीत हुआ कि इन वडे नोटो का चोर-बाजार, घूस-खोरी तथा आय-कर के हडपने मे प्रयोग होने के कारण उन्हे रद्द कर दिया गया था। दुखद विरोधाभास तो यह है कि सरकार ने अपनी आज्ञा को प्रजा रक्षार्थ घोषित किया और प्रजा ने इसे एक स्वर से सरकारी विश्वासघात पुकारा। नेता, वकील, पत्रकार और अर्थशास्त्री—सबने इसे अनुचित बतला कर भय और शका की दृष्टि से देखा। इन नोटो तथा अन्य सभी रूपक मुद्रा के सम्बन्ध मे 'नवभारत' का अपना स्पष्ट एवं अपरिवर्तनीय मत है कि इनकी यथार्थता और प्रचलन केवल एक राजाज्ञा मात्र है जो सहज ही बन-बिगड सकती है। प्रचलित मुद्रा-विधान, विशेषतः इन वडे नोटो का अस्तित्व तो नव-भारत को सिद्धाततः अमान्य है। रूपक मुद्रा का अस्तित्व तो और भी उपहासप्रद एव शंकाजनक होता है, जहाँ सरकार के "मेटैलिक रिजर्व" और "करेन्सी बैकिंग" द्वारा उनकी शत-प्रति-शत जमानत नहीं की गयी है। नोटो का रूप जितना ही वडा होता जायगा उतनी ही अधिक व्यावसायिक उलट-फेर, चोर-बाजारी, घूसखोरी, सामाजिक दुराचार एव साम्पत्तिक विषमता उत्पन्न होगी। इसीलिए नवभारत ने १००) से वड़े नोटो का प्रस्ताव ही नहीं किया है और इन नोटो को भी केवल प्रस्तावित घटोत्तर रूप मे ही मान्य किया है।

(३)

आध्यात्मिक श्रम

श्रम सिद्धान्तो पर यथेष्ट रूप से विचार किया जा चुका है। पुस्तक के बिल्कुल प्रारम्भ मे ही हमने जेवान की अर्घ व्याख्या का उल्लेख किया है। उसी आधार पर हमे श्रम के सम्बन्ध मे भी यही कहना पडता है कि यदि हमारे श्रम और कार्य से केवल भौतिक प्राचुर्य्य का विधान हो रहा है तो निश्चय ही उससे मानव समाज का कोई तात्विक कल्याण नहीं हो सकता—न हुआ है, न हो रहा है, न होगा। वैज्ञानिको की समस्त कृतियाँ सुख-

शान्ति के स्थान मे दुख-दारिद्रय, संहार और अशान्ति को जन्म दे रही है। क्यो ? क्योकि हमारे कार्यो का लक्ष्य केवल भौतिक सिद्धि मात्र रह गया है। तनिक ध्यान से विचारिये—एक मजदूर दिन भर के कठिन परिश्रम से १) कमाकर घर लाता है। संध्या समय वह निश्चिंत होकर भोजन करता है। उसे आत्म तृप्ति प्राप्त है। दूसरा व्यक्ति हिन्दुस्तानी पुलिस का दारोगा है। वह दिन भर के अपने जालिमाना ढंग से १००) ऐंठ लेता है। परन्तु हम देखते हैं कि दारोगा की आत्मा आँख की भारी किरकिरी के समान उसके शरीर मे चुभती रहती है। इस प्रकार मजदूर और दारोगा की कमाई की तुलना करने से परिणाम यही निकलता है कि जब तक हमे अपने श्रम और कार्यो मे आत्म संतोष न प्राप्त हो, मानव समाज के वास्तविक सुख का निर्माण हो ही नहीं सकता।

सारांश यह कि हमारे श्रम का लक्ष्य भौतिक ही नहीं, आध्यात्मिक तुष्टि भी होनी चाहिये। परिणामतः हमारा समस्त श्रम विधान ही अहिंसात्मक रूप धारण कर लेता है जो नवभारत के रचनात्मक निर्माण का तात्विक रहस्य है।

(४)

'रुपये का चक्र' बनाम 'पण्यों का चक्र'

मुद्रा-स्फीति और विस्फीति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि इस समय भारत को आर्थिक सकट से मुक्ति प्राप्त करने का एक मात्र रास्ता यह है कि उत्पादक श्रम की एक सुनिश्चित योजना द्वारा भारत की साम्पत्तिक निधि मे स्थायी रूप से संवृद्धि की जाये। वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुद्रा-स्फीति के निराकरण के लिए पश्चिमी अर्थशास्त्रियो की मुद्रा-विस्फीति वाली नीति से काम नहीं चलेगा।

प्रचलित अर्थशास्त्र की एक प्रमुख उक्ति है 'सर्क्युलेशन आव् मनी।' इसका अर्थ यह होता है कि 'रुपये का चक्र' चलता रहना चाहिये। रुपये को गाड़ रखने से उसकी उपयोगिता घट जाती है। जितना ही अधिक उसका उलट-फेर होगा, उतना ही अधिक वह काम मे आयेगा यानी उतनी ही अधिक उत्पत्ति और व्यापार मे वृद्धि होगी।

परन्तु मै कहता हूँ कि इस समय भारत को 'रुपये के चक्र' से बड़ी आवश्यकता 'पण्यो के चक्र' यानी 'सर्क्युलेशन आव् कमोडिटीज़' की

है। भारत की वर्तमान अभावपूर्ण दुर्दशा का अत केवल इसी एक उक्ति से हो सकता है।

यह कार्य केन्द्रीय सरकार के फर्मानो से नहीं सम्पन्न होगा। इसके लिए दृढ सकल्प होकर व्यवस्था पूर्वक कार्य करने की आवश्यकता है। इस कार्य मे गो-पालन, कृषि, खादी और ग्रामोद्योगो को आधार बनाना होगा। इसमे देश की विभिन्न रचनात्मक सस्थाओ का सक्रिय सचालन और पथप्रदर्शन प्राप्त करना चाहिये। गॉव पंचायतें तथा सहयोगी सस्थाओ को माध्यम बनाना होगा।

आज देश भर मे किसी न किसी रूप मे गॉव पञ्चायतें काम कर रही हैं। परन्तु खेद है कि हमारी सारी पञ्चायती और सहयोगी व्यवस्था केन्द्रित उद्योगो के सहारे ही खडी हुई है। विकेन्द्रित के विरुद्ध केन्द्रित व्यवस्था 'मुद्रा नीति' (मनी एकॉनॉमी) के सहारे से ही चलती है और स्वभावतः यहाँ, उसी 'सक्युलेशन आव् मनी' यानी 'रुपये के चक्र' मे फँसना पड़ता है, 'मुद्रा-स्फीति' और 'मुद्रा-विस्फीति' जिसके प्रचण्ड लक्षण हैं। इसका साक्षात् रूप यह है कि हमारी गॉव पचायतें केन्द्रो की दी हुई वस्तुओ की वितरण एजेन्सियाँ मात्र रह जाती हैं जहाँ परमिट और राशन कार्डो पर आये दिन मार हुआ करती है। परन्तु यदि हमे सचमुच इस आर्थिक सकट से बाहर निकलना है तो 'रुपये के चक्र' से निकल कर 'पण्यो के चक्र' को अपनाना होगा और इसके लिए गॉव पचायतो को दिल्ली कॉटन मिल या टाटा कम्पनी के कोटे पर नहीं, स्वयं अपने ही गाँवो की उत्पत्ति को स्वामित्व पूर्वक हाथ मे लेकर स्थितिभूत होना पड़ेगा।

'पण्यो का चक्र' सफल गति को प्राप्त हो ही नहीं सकता यदि हमारी गाँव पंचायतो मे स्वावलम्बन की सञ्जीवनी न हो, यदि उनका अस्तित्व उत्पत्ति और वितरण पर आधारित न हो। ऊपर के उल्लेख से साफ हो गया होगा कि उपर्युक्त रीति से 'पण्यों का चक्र' चल जाने पर मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-विस्फीति के प्रश्न स्वतः निर्मूल हो जाते हैं। ग्रामोद्योगो के आधार पर उत्पादन और उत्पत्ति हो और उसी प्रकार उनका सुवितरण हो तो यह प्रश्न अपने आप महत्त्वहीन हो जाता है कि रुपये का मूल्य क्या है, पौण्ड और डालर से उसका रिश्ता क्या है। यहाँ डालर की कमी के कारण धन-धान्य की कमी नहीं पैदा होती। इसीलिए यह भी तै हो जाता है कि अधिक आय और अधिक उत्पत्ति की दृष्टि से 'पण्यो के चक्र'

के लिए विकेन्द्रित व्यवस्था की शरण लेना होगा। देश के अपार धन-बल और जन-बल को गतिमान करने के लिए कलमय उद्योगवाद से काम न चलेगा। हो सकता है कि उस प्रकार विदेशो से लम्बी रकम और लम्बे अरसे के बाद बडी-बडी महँगी मशीनें मँगा कर बडे केन्द्रो मे पैदावार की जा सके, फिर भी देश का अधिकाश भाग केन्द्रो की ओर मुँह उठाये निरीह और निराश्रितो के समान बेकार पडा रहेगा। जनता के सच्चे पौरुष और पुरुषार्थ का पूर्ण रूपेण लाभ मिलना तो असभव सा ही है। केन्द्रीय उद्योगवाद मे जो उत्पत्ति होती है वह यातायात और वितरण के घातक गोरखधंधे मे पड़कर निर्मूल हो जाती है। कारखानो मे, केन्द्रो मे, रेलवे की गोदामो और बन्दरगाहो मे, चुंगी और सप्लाई दफ्तरों मे, माल सड़ा करते हैं, दूसरी ओर जनता उन्ही चीजो के अभाव मे त्रस्त होती रहती है। चीजें जब अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचती हैं तो उनका वास्तविक मूल्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका रहता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि देश को प्राणघातक सकट से बाहर ले आना है तो 'रुपये के चक्र' को छोड़कर 'पण्यो के चक्र' पर आना होगा और यह काम विकेन्द्रित विधान से ही सभव होगा जहाँ गाँव पचायतें स्वावलम्बन पूर्वक उत्पादन और वितरण की सुनिश्चित योजना द्वारा राष्ट्रीय सुख-समृद्धि की स्वसम्पन्न इकाइयाँ बनी हो, एक गाँव से दूसरे गाँव, गाँव से नगर, और फिर सारे देश मे चक्र चलता जायेगा। यहाँ बच्चा बच्चा काम मे लगा होगा। हमे नीचे से ऊपर चलना है, ऊपर से नीचे नही आना है, हम कुछ केन्द्रों मे कुछ लोगों के द्वारा उत्पत्ति करके उसे प्राण-शोषक व्यवस्था, यातायात के दुरूह झुरमुट, और सप्लाई विभाग की अभेद्य शृंखला मे फँसा नहीं रखना चाहते। हम चाहते हैं कि सब लोग तेजी से काम मे लगे हो, बच्चा-बच्चा उत्पादन कर रहा हो और जीवनावश्यकताएँ सरल और सीधी वितरण व्यवस्था द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान मे तेजी के साथ पहुँचती जायें।

इस पक्ष पर वर्तमान परिस्थितियो के प्रसंग मे जरा और साफ होकर विचार कर लेने की जरूरत है। आज हमारी सरकार देश की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए परेशान है परन्तु इसके लिए वह बड़े-बड़े कारखानो की स्थापना को ही अलम बना रही है। आचार्य कृपालानी ने अपनी पुस्तक 'पॉलटिक्स आव् चर्खा' (पृष्ठ १६) मे १६३८ ई० की परिस्थितियो मे एक मामूली कारखाने के लिए ४० लाख रुपये की लागत का अनुमान

किया है। वहीं उन्होंने चर्खा संघ के इसी वर्ष के आँकड़ो का निम्नलिखित रूप से विवेचन किया है :—

चर्खा संघ की पूजी लगभग ४० लाख थी। इसके द्वारा २ लाख ५० हजार व्यक्तियों को कताई, बुनाई, बढई, रंगरेज, छिप्पी और धोबी आदि के काम मे व्यस्त रखा गया। लगभग १००० उत्पत्ति और विक्रय-केन्द्र काम कर रहे थे जिसके सगठन मे लगभग ३००० सगठन कर्ता लगे हुए थे। यह सारा काम लगभग ५० हजार गाँवो मे फैला हुआ था। यह सारी पूँजी देश मे ही लगी हुई थी। इसलिए इसके अधिकाश भाग को मजदूरो की ही कमाई मानना पड़ेगा। उस समय के सगठन-कर्ताओ की मासिक आय २५-३०) थी जो उच्चकोटि के कुशल कारीगरो के बराबर थी।

परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है इतने से शायद एक मामूली सा ही कारखाना खुल पाता जिसका अधिक भाग विदेशो मे मशीनें खरीदने के लिए भेज दिया जाता। इस कारखाने के एक एक कल-पुर्जे बाहर से ही मँगाने पडते हैं। इस कारखाने मे एक दर्जन से अधिक सगठन-कर्ता नहीं लग सकने और यदि यह पूरी शक्ति से काम करे तो इसमे १५०० से अधिक व्यक्तियो की गुजाइश नहीं हो सकती।

इस तरह यदि हम इन कारखानो मे लगे हुए लोगो की आर्थिक विषमता को नजर अदाज भी कर दें तो भी बात यही रह जाती है कि आज, अधिक न सही, अस्तित्व रक्षा के लिए भी देश को कारखानो की नहीं, विकेन्द्रित उद्योग की आवश्यकता है ताकि 'पण्यो का चक्र' गतिमान हो सके।

(५)

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

(यह गाधी विचार धारा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। भाई किशोरलाल जी मश्रूवाला ने इसका महत्त्वपूर्ण विवेचन अपनी पुस्तक "गाधी और साम्यवाद" के पृष्ठ ७८-८६ पर किया है। यह पूरा अध्याय वहीं से उद्धृत किया जा रहा है।)

ट्रस्टीशिप क्या है, इसे जानने के पहले हम यह जान लें कि वह क्या नहीं है क्योंकि इस विषय मे कुछ गलत मान्यताएँ लोगो ने बना ली हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि आज जिन आदमियों के हाथ में जायदाद, सत्ता के स्थान, अधिकार वगैरह का कब्जा आ गया है—परन्तु जिन्हे सच्चे या झूठे सबब देकर दूसरे लोग हथियाने की कोशिश करते हैं—उनके द्वारा उन्हे दूसरे के हाथ मे न जाने देने के लिए यह एक आकर्षक नाम की आड़ मे खडी की हुई ढोंगी रुकावट है। 'जो लोग ये माँगें पेश करते हैं, उनकी अपेक्षा हम ही उनका ज्यादा अच्छा प्रबन्ध कर सकते हैं और हम ही जनता को ज्यादा से ज्यादा लाभ दे सकते हैं। हमारे विरोधियो मे से किसी मे या जनता मे से किसी मे ऐसा कार-भार चलाने की ऐसी योग्यता और कुशलता नहीं है। इसलिए प्रजा के ट्रस्टी (हितचिन्तक) के नाते हमे ही इन स्थानों पर रहना चाहिए। नालायक लोगो के हाथ मे उन्हे सौंप दें तो वह हमारी कर्तव्य-भ्रष्टता होगी।' ऐसी-ऐसी दलीलें करके सच्चे दावेदारो को अपने हको से वंचित रखने के लिए यह ट्रस्टीशिप का ढोगी सिद्धान्त खडा किया गया है। अंग्रेजी राज्य-कर्ता भारत पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कितने ही वर्षों तक ऐसी ही दलीलें दिया करते थे। वे कहते थे कि 'हम किसके हाथ से सत्ता सौपें ? प्रजा तो बिलकुल निरक्षर, पिछड़ी हुई और बेसमझ है। उसमे मेल नहीं है, तरह-तरह जाति-पाँत, धर्म वगैरह के झगड़े हैं। उसके नाम से आन्दोलन करनेवाले नेता धूर्त हैं। सत्ता के लिए भीतर ही भीतर झगड़नेवाले हैं। वे अपना ही स्वार्थ खोजनेवाले हैं। वे भारत मे शान्ति कायम नहीं रख सकेंगे। इस कारण से बालक जैसी निरक्षर और अज्ञान प्रजा के संरक्षक के नाते भारत का कब्जा नहीं छोड़ा जा सकता है।'

लेकिन अंग्रेज भारत का शासन मुफ्त मे या बिलकुल उचित माना जा सके उतना ही मेहनताना लेकर नही करते थे; इस कारण लोगो की दृष्टि मे अंग्रेजों की यह ट्रस्टीशिप की दलील देश को अपने अधीन बनाये रखने का एक बहाना ही थी।

फिर कानून के मुताबिक नियुक्त किये हुए ट्रस्टियों के बारे मे भी ऐसे अनुभव कई बार होते हैं। किसी नाबालिग की जायदाद के ट्रस्टीशिप की दलील देश को अपने अधीन बनाये रखने का एक बहाना ही था। ट्रस्टी या संरक्षक उसके बालिग हो जाने के बाद भी जायदाद का कब्जा और हिसाब उसे सौप देने के बजाय विलम्ब और टालमटोल करते हैं तथा उसका कारण यह बताते हैं कि उसमे अभी जायदाद का इन्तजाम करने की

योग्यता नहीं है। ऐसे ट्रस्टियो को जायदाद का सच्चा मालिक धूर्त समझता है और उन पर विश्वास नहीं करता।

ऐसे अनुभवो के कारण खुद 'ट्रस्टी' शब्द और 'ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त', दोनो की साख घट गई है और यह कल्पना ही कई लोगो को नापसन्द हो गई है। आज के प्रगतिवादी माने जानेवाले राजनीतिज्ञो को यह शक हो गया है कि चूँकि गान्धी जी राजाओं, जमींदारों, पूँजी-पतियो और दूसरे सत्ताधारी लोगो के प्रति मित्रता का भाव रखते थ, इसलिए उनके हित साधन के लिए गान्धी जी ने यह शब्द-जाल होशि-यारी से खड़ा कर दिया है, और उनके हाथ मे अपनी जायदाद और सत्ता से चिपटे रहने का एक हथियार दे दिया है।

फिर यह भी मान लिया जाता है कि बहुत उदार और दान वृत्ति का आदमी गांधी जी की दृष्टि से आदर्श ट्रस्टी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई राजा या लखपती ऐसा हो, जो व्यक्तिगत रूप में बहुत सादा जीवन बिताता हो, कभी-कभी बडे दान देता हो, जिसने कुछ अच्छी सस्थाएँ कायम की हो या अपनी जायदाद के एक अच्छे भाग का धर्मादा ट्रस्ट बनाया हो, इसके साथ ही जो नौकर-चाकरो पर बडी ममता रखता हो, गरीबो के प्रति रहम दिल हो, अतिथियो का अच्छा सत्कार करता हो, मित्रो को मुसीबत मे मदद देनेवाला हो, अनैतिकता के बड़े-बड़े दोषो से मुक्त हो और धर्म-कर्म मे श्रद्धा रखता हो, तो गाधी जी कह देंगे कि उसने ट्रस्टी के सारे फर्ज अदा कर दिये। यह देखने की जरूरत नहीं कि वह अपने कुटुंबी जनो को कैसे आराम से रखता है, कमाई और जायदाद का कितना भाग अपने लिए खर्च करता है और किस तरह से कमाई करता है।

पर ये मान्यताएँ निराधार हैं। 'ट्रस्टी' शब्द कानूनी परिभाषा का है, और कानून समय-समय पर इसमे जो अर्थ भर दे तथा ट्रस्टी के कर्तव्यो और हको की जो सीमा बाँध दे, वह गान्धी जी के सिद्धान्त के दायरे मे आनेवाले ट्रस्टियो को भी लागू होगी। इसके साथ-साथ कानून के दायरे मे न आनेवाली, किन्तु नैतिक दृष्टि से अनिवार्य मानी जानेवाली मर्या-दाएँ भी उन्हे लागू होती हैं। सन् १९३६ मे "गान्धीवाद समाजवाद" नाम से एक लेखमाला मैने 'हरिजन बन्धु' मे दी थी। खुद गान्धी जी ने

उसका सम्पादन किया और उसे सुधारा था। उसमे मैने ट्रस्टीशिप के द्धन्त को इ तरह समझाया था—

"शोषण और प्रवचन को रोकने का प्रश्न निजी सम्पत्ति के प्रश्न से जुड़ा हुआ है और प्रायः यह माना जाता है कि ये दोनो एक ही हैं। 'गान्धीवाद समाजवाद' की चर्चाओ मे अधिकतर इसी पर गरमागरम वाद-विवाद होता है। सच पूछा जाय तो इस विषय मे गान्धी जी के विचार उग्र से॰ उग्र साम्यवादी की अपेक्षा भी आगे बढ़े हुए हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार तो किसी भी मनुष्य के पास किसी भी प्रकार का परिग्रह न होना चाहिए। जायदाद के व्यक्तिगत परिग्रह को (निजी सम्पत्ति की प्रथा को) वे सह लेते हैं; इसका कारण यह नहीं है कि (निजी) सम्पत्ति या परिग्रह का उन्हे मोह है, या वे मनुष्य जाति की उन्नति के लिए (निजी) सम्पत्ति का संग्रह जरूरी मानते हैं; बल्कि उसका कारण यह है कि व्यक्तिगत परिग्रह को बढाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्याग्रही मार्ग उन्हे अभी तक नहीं मिला है। मेरा ख्याल है कि सभी पथो के समाजवादी मानव जाति के सुख के लिए धन दौलत और जायदाद के संग्रह को जरूरी मानते हैं। गान्धी जी इसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार नहीं करते। व्यावहारिक दृष्टि से इसका विचार करते हुए गान्धी जी इस बात को समझते हैं कि आज ही उस वक्त की कल्पना नहीं की जा सकती जब कि मनुष्य-जाति परिग्रह छोड़ने को तैयार हो जायगी। अतः विचार के लिए सिर्फ इतनी ही बात रह जाती है कि जिन लोगो के कब्जे मे धन दौलत और जायदाद हो, वे उसे किस दृष्टि से अपने पास रक्खे या किन शर्तों पर उसे उनके पास रहने दिया जाय? गान्धी जी कहते हैं कि कोई भी जायदाद किसी एक व्यक्ति के अधिकार मे हो या कई व्यक्तियो के बने किसी मडल के हाथ मे हो, और वह अधिकार उन्होने उस वक्त के कायदे के मुताबिक पाया हो या गैर कानूनी तौर पर पाया हो, तो वे उसे अपने पास निजी उपयोग के लिए नहीं, बल्कि समाज की ओर से समाज के भले के लिए ही रख सकते हैं। यानी उन्हे समझाना चाहिए कि वे उस जायदाद के 'ट्रस्टी' या सरक्षक हैं। इस 'ट्रस्टी' शब्द के कारण बहुत कुछ गलतफहमी पैदा हो गई हे। इसकी वजह तो यह है कि अभी लोग इस बात के समझने के आदी नहीं हुए हैं कि गान्धी जी कहते हैं और............अंग्रेज राजनीतिज्ञो ने भी कई बार कहा है कि भारत मे ब्रिटिश सरकार का अस्तित्व भारतीय जनता के कल्याण लिए के और

उसके ट्रस्टी के रूप में है। लेकिन हमे अनुभव तो यह हुआ है कि इस भाषा के अनुसार आचरण करने की उनकी नीयत रत्ती भर भी नहीं है। अब हम समझ चुके हैं कि इस तरह की भाषा का प्रयोग करके निरे दम्भ और अतिशयोक्ति भरे शब्दो द्वारा हमे भुलावे मे डालने की उनकी नीयत है। . . . इसी प्रकार जब गान्धी जी कहते हैं कि जिनके पास धन दौलत और जायदाद है वे उसके मालिक नहीं बल्कि ट्रस्टी हैं, तब उनके इन शब्दों को वाणी का अलकार मात्र मान लिया जाता है। उनके टीकाकारो के मन मे इस प्रकार का भी शायद अस्पष्ट-सा ख्याल रहता है कि कानून के रूप से बने हुए और धर्म के रूप से बने हुए ट्रस्टियो के फर्ज मे कुछ भेद होता है। परन्तु गाधी जी ऐसा कोई भेद नहीं मानते। गाधी जी की यह आदत ही नहीं कि किसी सिद्धान्त को आचरण का रूप देने के साधन न होते हुए भी उसका प्रतिपादन करने बैठ जायँ। वे यह मानते हैं कि मनुष्य के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उसे छोड़ कर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरो की इजाजत से ही किया जा सकता है, फिर भले वह इजाजत लाचारी से दी गई हो या अज्ञान के कारण। लेकिन लाचारी के मिटने और उसकी जगह शक्ति का उदय होने और अज्ञान का स्थान ज्ञान को प्राप्त हो जाने पर उस अतिरिक्त जायदाद पर सिर्फ ट्रस्टी के नाते ही अधिकार रह सकता है। अगर जरूरत है तो जनता को बलवान और ज्ञानवान बनाने की। और जब हम सोचते हैं कि इसके लिए किस प्रकार का बल पैदा करना चाहिये, तो हमे पता चलता है कि जनता मे उत्पन्न किया जानेवाला यह बल अहिंसक ही होना चाहिये, बशर्ते कि हम यह चाहते हो कि आज जिनके पास जायदाद नहीं है उनके अधिकार मे जायदाद और सम्पत्ति के आते ही वे भी आज के सम्पत्तिवालो की तरह जालिम और अत्याचारी न बनें।

उस समय मैंने एक बात स्पष्ट नहीं की थी क्योंकि वह खुद मुझे ही स्पष्ट नहीं थी। वह यह थ। :—

ट्रस्ट मानी जानेवाली जायदाद का हकदार मालिक कौन और उसके उपभोग मे हिताधिकारी कौन ? ऐसे ट्रस्ट में किस प्रकार की जायदाद का समावेश होता है ? तथा गाधी जी की दृष्टि से खानगी जायदाद का प्रकार और प्रमाण कैसा हो ?

यहाँ मैं यह समझाने का प्रयत्न करता हूँ कि ट्रस्टीपन का सिद्धान्त खानगी और गैर खानगी जायदाद का भेद नहीं करता। चाहे जिसके

कब्ज में हो, चाहे जिस प्रकार की हो और चाहे जितने प्रमाण मे हो; पदार्थमात्र ट्रस्ट-जायदाद है। इतना ही नहीं बल्कि इसमे स्थूल जायदाद और सूक्ष्म (आँखो से स्थूल रूप मे न दिखनेवाली) जायदाद का भी भेद नहीं किया जाना चाहिये। उसी तरह सिर्फ जायदाद नहीं, बल्कि अधिकार के स्थानो, नेग दस्तूरी, मजदूरी की शारीरिक शक्ति व हेलन केलर जैसी अंधी और गूँगी-बहरी स्त्री के बुद्धि-चातुर्य्य पर भी ट्रस्टीपन का सिद्धान्त ला होता है। किसी अपंग आश्रम मे कोई बिना हाथ-पैर का आदमी हो, पर उसमे भी यदि कोई नियन्त्रण शक्ति हो, तो वह भी उसका ट्रस्टी माना जायेगा। सक्षेप मे, पागल न बन चुके आदमी मे जो कुछ अपने अधीन रहनेवाली शक्ति हो, उस सबका वह एक ट्रस्टी के नाते अधिकारी और प्रबन्ध करनेवाला है।

तब इन सबका मालिक कौन? गाधी जी कहते हैं—ईश्वर। यह सारा जगत ईश्वर का ही है। और उसमे जो कुछ भी स्थूल और सूक्ष्म या सजीव या निर्जीव तत्व हैं, वे सब ईश्वर के ही हैं। उदाहरण के लिए किसी कारखाने के शेयर होल्डर, डाइरेक्टर, मैनेजिग एजेण्ट, वैज्ञानिक या मजदूरो मे से कोई एक वर्ग या सब मिल कर भी उसके मालिक नहीं कहे जा सकते। और खुद सरकार भी उसकी मालिक नहीं कही जा सकती। उस कारखाने को चलाने के लिए ही वे सब तरह-तरह के मदद-गार हैं। और कारखाने को अच्छी तरह चलाने के लिए ही वे अलग अलग तरह का हिस्सा लेनेवाले और अलग-अलग कर्तव्य और अधि-कार रखनेवाले माने जायँगे। हर एक को ईमानदारी से अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिये और वैसे काम करते हुए अपने उपभोग के लिए वे उचित मेहनताना ले सकते हैं परन्तु अधिक बच जाय तो वे उसके मालिक नहीं हैं।

जगत के सब कुछ पर ईश्वर का ही स्वामित्व है। कोई मनुष्य या सारी मनुष्य-जाति भी किसी चीज या अधिकार की मालिक नहीं है। यह सिद्धान्त शेयर होल्डरो, मैनेजरो, निष्णातो या मजदूरो के नफे के प्रमाण मे डिविडेण्ड, कमीशन, बोनस वगैरह पाने के दावो को खतम कर देता है। भगवान ने मनुष्य के लिए दुनिया पैदा की है और उसे सब चराचर पर अधिकार दिया है, यह सिद्धान्त मानने लायक नहीं है। जो कुछ उसे मिला है, उसका किफायतशारी से उपयोग करने और अपने हर काम का हिसाब देने के लिए वह बँधा हुआ है। अपनी सारी कुश-

लता, योग्यता, शक्ति वगैरह का कारखाने को लाभ देनेवाला आदमी (जरूरत हो तो) उसमे से अपना मेहनताना ले। लेकिन वह उसकी जरूरत पुरता ही हो सकता है, उसके काम या बुद्धि की कीमत के प्रमाण मे नहीं। उदाहरण के लिए यदि एक लंगडा चौकीदार सिर्फ एक स्टूल पर बैठ कर कारखाने म जाने-आनेवाले माल की जॉच करने जितना ही काम कर सकता हो, और उसे पूरी लगन से करता हो, तो वह पूरा सामान्य मेहनताना लेने का और लगेड़पन के कारण उसे थोडे ज्यादा की जरूरत हो, तो वह भी पाने का पात्र माना जायेगा जब कि कारखाने का इंजीनियर या सशक्त मजदूर केवल सामान्य मेहनताना ही ले सकता है। फिर मैनेजिग एजेण्ट को किसी दूसरी तरह के काम से या दूसरी जगह से मेहनताना मिलता हो, तो यह हो सकता है कि वह इस काम के लिए कुछ भी न ले। पैसे के रूप मे मिलनेवाले लाभ या मेहनताना पर से किसी भी आदमी की कीमत या कुशलता का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

फिर ईश्वर ही सब का मालिक है, इस सिद्धान्त से यह ठहरता है कि सरकार, डाइरेक्टर, या मजदूर, किसी को भी मनमाने ढग से उस जायदाद का नाश करने का अधिकार नहीं है। हमारी जायदाद का हम जो चाहे करेंगे, इस दावे के लिए यहाँ कोई गुंजाइश ही नहीं है।

(विपयान्तर होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि आज नैतिक क्षेत्र मे यह जो कहा जाता है कि विपय-तृप्ति स्त्री-पुरुप के शरीर के उपयोग का व्यक्तिगत सवाल है, उसका यह सिद्धान्त निपेध करता है। मनुष्य को मिली हुई कोई भी शक्ति उसकी अपनी चीज नहीं है। जिस तरह कोई सशक्त आदमी मेहनत करने से इनकार नहीं कर सकता उसी तरह वह अपने शरीर, बुद्धि या इन्द्रियो की शक्ति को बरबाद करने का अधिकार भी नहीं जता सकता।)

मालिकी—हक के इस खुलासे के बाद तीसरा सवाल यह उठता है कि तब इस सारी जायदाद का हिताधिकारी कौन है। उसका जवाब यह है कि सारी सृष्टि। उदाहरण के लिए एक कारखाने के नफे के हकदार उसे चलाने मे हाथ बँटानेवाले ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु हर एक चीज का सबके साथ मिलकर ही उपयोग किया जा सकता है और उसमे मनुष्यतर प्राणियो को भी नहीं भुलाया जा सकता।

बेशक मनुष्य की दृष्टि के अनुसार ही इस सिद्धान्त पर अमल होगा। पहले तो वह स्थानीय क्षेत्र मे लागू किया जायेगा। वहाँ भी मनुष्य

दूसरे प्राणियों के बजाय मनुष्य जाति को ही पहले पसन्द करेगा। परन्तु जैसे-जैसे इसकी दृष्टि, साधन और सम्पत्ति विशाल होते जायँगे, वैसे-वैसे उसके अमल का क्षेत्र बढ़ाना उसका फर्ज होगा। और वे जितनी हद तक बढ़ाये जा सकें उतनी हद तक बढ़ाये जाने चाहियें। अगर दुनिया के किसी दूसरे हिस्से में मनुष्य को कष्ट हो, तो एक स्वावलम्बी और स्वयंपूर्ण गाँव को भी अपनी सारी पैदावार का खुद ही उपयोग करने का हक है। और यदि उन पीड़ित लोगों के पास उस गाँव के लिए कोई उपयोगी चीज न हो, या कोई चीज देने की उनमें शक्ति ही न हो, तो उससे अपनी चीजों के लिए कोई कीमत भी उस गाँव वाले नहीं माँग सकते।

मनुष्य की खानगी जायदाद किस प्रकार की और कितनी हो सकती है इसका जवाब देना अब सरल है। काम करनेवाले के नाते एक आदमी के लिए सामान्य नियम से जो मेहनताना ठहराया गया हो और उसकी यदि उसे जरूरत भी हो तो उसका वह विवेक के साथ उपभोग कर सकता है। यदि ऐसा न हो और निकट भविष्य में भी उसकी जरूरत न पड़े तो जिसे उसकी जरूरत हो, उसे दे देना चाहिये या अपने क्षेत्र के सामान्य कोष में उसे जमा करा देना चाहिये।

इस सिद्धान्त को समझ लेने के बाद यह समझना कठिन नहीं कि गांधी जी एक तरफ से जमीन, कारखाना वगैरह छीन लेने की नीति का और दूसरी तरफ से उसका मुआवजा देने की नीति का भी क्यों विरोध करते थे। यदि आज के जमींदार उद्योगपति वगैरह ट्रस्टीपन का सिद्धान्त स्वीकार करते हो तो उनसे जमीन, कारखाने वगैरह का कब्जा छीन लेने की जरूरत ही नहीं रह जाती और यह ठीक भी नहीं है। पहला प्रयत्न उनसे यह सिद्धान्त स्वीकार कराने का होना चाहिये। मुआवजा देने का सुझाव इसलिए ठीक नहीं है कि कभी किसी ट्रस्टी को हटाया जाय तो उसे मुआवजा देने का कायदा नहीं है। अगर वे ट्रस्टी के फर्ज अदा न करना चाहे और मालकी का दावा करते हों, तो उनका वह दावा माना नहीं जा सकता। ऐसी हालत में उन्हें हटाकर नई व्यवस्था करने की आवश्यकता अपने आप पैदा होती है। इसलिए मुआवजे का प्रश्न ही नहीं उठता।

(६)

ग्राम लक्ष्य

इधर कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र और गांधी निधि के तत्वाधान में गोबर से गैस बनानेवाले एक यंत्र का प्रयोग चल रहा है। गोबर और मल-मूत्र

से इस यंत्र द्वारा सरलतापूर्वक गैस बना लिया जाता है; गैस ईंधन और प्रकाश की समस्या हल कर देती है और गोबर तथा मल-मूत्र फिर भी उत्तम और उपयोगी खाद बना रहता है। इसीलिए इस यंत्र को 'ग्राम-लक्ष्मी' का नाम दिया गया है। इस यंत्र से ग्राम स्वालम्बन गाँवो के आधार पर सधेगा और इंधन की समस्या भी हल होगी।

(७)
जापानी धान खेती

कोरा ग्रामोद्योग केन्द्र तथा गाधी निधि के तत्त्वावधान मे धान की उत्कृष्टतम रीति से खेती करने के सफल उदाहरण हमारे सामने आये हैं। भारतीय कृषि मे नयी जान पैदा करने के लिए इस पद्धति पर विचार करना अत्यावश्यक है। धान ही नहीं, अन्य चीजों मे भी इस प्रयोग से स्वावलम्बी और संतुलित कृषि को सार्थक बनाने की सम्भावनाएँ हैं।

(८)
स्वालम्बी गाँव

हमने मूल पुस्तक मे कृषि और तत्सम्बन्धित समस्याओ पर विचार करते हुए संतुलित कृषि और स्वावलम्बी गाँवो की आवश्यकताओ पर जोर दिया है। यहाँ उसी सम्बन्ध मे हम एक लाख व्यक्तियो के लिए संतुलित कृषि के आधार पर कुल जमीन की आवश्यकता का एक नकशा दे रहे हैं। इसे देखकर एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझ मे आयेगी कि सतुलित कृषि करने से यही नहीं कि समाज सबल और स्वावलम्बी बनेगा, खाद्य समस्याएँ हल होगी, बल्कि बात यह भी होगी कि प्रति व्यक्ति जमीन की आवश्यकता कम हो जायगी। नकशे को देखने से पता चलेगा कि एक लाख व्यक्तियो के लिए लगभग ७७००० एकड़ जमीन की जरुरत होगी। प्रति व्यक्ति औसत ७५ एकड़ होगी यानी ५ सदस्यो के परिवार के लिए ३.७५ एकड़ जमीन चाहिये।

भू-दान-यज्ञ पर विचार करते हुए हमने देखा है कि विनोबा जी ने प्रति परिवार ५ एकड़ की मात्रा निर्धारित की है। इसे विरोधियो ने "अपर्याप्त" (Non-Economic Holding) बताने की चेष्टा की है। अतः नकशे से स्पष्ट हो जायेगा कि विनोबा जी की योजना वैज्ञानिक और आर्थिक, दोनो है। यही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सतुलित कृषि के कारण धरती पर से जन-सख्या का दबाव अपने आप कम हो कर प्रत्येक गाँव सरलतापूर्वक स्वावलम्बी बन सकता है।

एक लाख व्यक्तियों के लिए खाद्य और भूमि के आङ्कड़े

पदार्थ	तोले प्रति दिन	जीवन-मान	सेर प्रति वर्ष	आवश्यक भूमि, एकड़ों मे	बीज तथा घास के लिए १५% अतिरिक्त भूमि	म का योग, एकड़ों मे	भूमि प्रति शत
अन्न	४० ००	१६००	१८२·५०	४३,४००	६,५१०	४६ ६१०	६५·२
दाल	५·००	२००	१२·८०	५,४००	८१०	६,२१०	८·२
गुण	५·००	२००	२२·८	१,२००	१८०	१,३८०	१-८
मेवा	२ ५०	१४५	११·४०	२,६००	२६०	२,६६०	८·४
तेल	१·२५	१५५	५·७०	३,०००	४५०	३,४५०	
घी	१·२५	—	५·७०	—	—	—	—
दूध	३० ००	२४०	१३६ ८५	—	—	—	—
सवजी	२०·००	४८	९१ २५	१,६००	२४०	१,८४०	२·४
आलूआदि	१०·००	१००	४१·६२	१,०००	१५०	१,१५०	१·५
फल	१०·००	५२	४५·६२	९००	१३५	१ ,०३१	१ ४
रूई			६.२५	६,५००	१,१२५	८,६२५	११·३
योग		२८४०		६६,६००	६,६६०	७६,५६०	१००·०

नोट—यह नक्शा श्री भगवान दास केला के "सर्वोदय अर्थशास्त्र," पृष्ठ १६५ से उद्धृत किया गया है।

शब्द-सूची

इस सूची में जिन पृष्ठा के नीचे विन्दु लगा है उनमें सम्बद्ध शब्द अनेक अर्थ में और अनेक दृष्टि कोण से प्रयुक्त हुये हैं। इसलिए पूरे पृष्ठ तथा उनकी टिप्पणियों को देखना लाभ प्रद होगा। टिप्पणियो के लिए 'ट' का प्रयोग हुआ है।

676

नवभारत की रचना से सम्बन्धित कुछ चुनी हुई

पुस्तकों की सूची

अन्नपूर्णा—विनोबा जी और जेफर्स
अहिंसा की शक्ति—रिचर्ड बी. ग्रेग
अर्थशास्त्र की रूप रेखा—दयाशकर दुबे
आदर्श भारत की रूप रेखा—गाधी जी
आधुनिक अर्थशास्त्र—पी सी. जैन
उपयोगिता वाद—स्टुअर्टमिल (अनुवाद)
एक धर्म युद्ध—महादेव देसाई
कल-युग—रामकृष्ण शर्मा
कोरा भात खेती—गाधी स्मारक निधि
कौटिल्य अर्थशास्त्र—डा० प्राणनाथ
खुराक की कमी और खेती—गाधी जी
गो सेवा—गाधी जी
गाधीवादी योजना—श्रीमन्नारायण अग्रवाल
गाधीवादी विधान—श्रीमन्नारायण अग्रवाल
ग्रामो के सुधार की एक योजना—कुमारप्पा जी
ग्राम आन्दोलन क्यो?—कुमारप्पा जी
ग्राम स्वावलम्बन की ओर—दादाभाई नाइक
गाधीवाद की रूप-रेखा—रामनाथ सुमन
गाधी मार्ग—आचार्य कृपालानी
गाधी और साम्यवाद—मशरूवाला जी
गाधी और समाजवाद—काका कालेलकर
गाधी विचार दोहन—मशरूवाला जी
ग्राम सजीवन—भारतन कुमारप्पा
गाधी और स्टालिन—लुई फिशर
ग्राम सेवा—गाधी जी
घरेलू कताई की आम बातें—कृष्णदास गाधी
घरेलू कताई की आम बाते— ,,
चीन की आवाज—प० सुन्दरलाल
चावल—ग्रामोद्योग सघ
चर्खे की तात्विक मीमासा—कृष्णदास जाजू
चर्खा सघ का इतिहास—चर्खा सघ
चर्खा बनाम मिल—सिद्धराज ढड्ढा
जमीन का बँटवारा और भू-दान-यज्ञ—रामानन्द मिश्र
तेल घानी—झवेर भाई पटेल
ताड गुड—गजानन नाइक
तरक्की किसे कहा जाये—कुमारप्पा जी
नयी तालीम—धीरेन्द्र मजूमदार
नियोजन समिति—विनोबा जी, कुमारप्पा जी
इटावा का घर फूँक तमाशा—प्रो० रग
नागरिक शास्त्र—ओम प्रकाश केला
पौण्ड पावना—कुमारप्पा जी
प्रतिनिधि शासन—स्टुअर्ट मिल (अनुवाद)

बुनियादी शिक्षा—गांधी जी
भारत और भोजन—राम कृष्ण शर्मा
भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास—
कृष्णदत्त भट्ट
भारतीय सम्पत्ति शास्त्र—डा० प्राणनाथ
भारत में गाय—डा०सतीशचन्द्र दास गुप्त
भू-दान प्रश्नोत्तरी—विनोबा जी
भारत में दुर्भिक्ष—गणेशदत्त शर्मा
महिलाओं से—गांधी जी
मधुमक्खी पालन—अमृत राव घाटगे
मगन चूल्हा—ग्रामोद्योग संघ
मगन दीप— " "
मुद्रास्फीति और उसके कारण—कुमारप्पा जी
महात्मा गांधी—आचार्य कृपालानी
मगन चर्खा—नन्दलाल न० पटेल
'मनुस्मृति'—(लाहौर संस्करण-
हिन्दी भाष्य)
मुद्रा और विनिमय—ओमप्रकाश केला
यह स्वराज कैसा ?—धीरेन्द्र मजूमदार
यन्त्रों की मर्यादा—गांधी जी
युरोप गांधी वादी दृष्टि से—कुमारप्पा जी
युग की महान चुनौती—धीरेन्द्र मजूमदार
यजुर्वेद—(लाहौर संस्करण, हिन्दी भाष्य।)
रचनात्मक कार्यक्रम—गांधी जी
राजस्व और हमारी दरिद्रता—
कुमारप्पा जी
वर्ण व्यवस्था—गांधी जी
विनोबा के विचार—विनोबा जी
विश्व संघ की ओर—भगवानदास केला
व्यक्ति और राज—सम्पूर्णानन्द
वेद और चर्खा—प० सातवलेकर
शांति या विनाश—राम कृष्ण शर्मा
शिक्षा में अहिंसक क्रांति—तालीमी संघ
सर्वोदय—गांधी जी
सर्वोदय—रामकृष्ण शर्मा
स्वराज की असली लड़ाई—
धीरेन्द्र मजूमदार
सफाई विज्ञान—धीरेन्द्र मजूमदार
स्त्रियों की समस्याएँ—गांधी जी
सच्ची शिक्षा—गांधी जी
सर्वोदय सत्थान—गांधी जी और विनोबा जी
संत विनोबा और भू-दान-यज्ञ—विनोबा जी
स्त्री पुरुष मर्यादा—मश्रूवाला जी
सोना चीन—एस के धर्माधिकारी
सर्वोदय अर्थशास्त्र—भगवानदास केला
स्थायी समाज व्यवस्था—कुमारप्पा जी
सर्वोदय तत्व दर्शन—डा०गोपीनाथ धावन
सर्वोदय योजना—सर्वोदय समिति
स्वावलम्बी गाँव (आङ्कड़े)—
दादाभाई नाइक
स्वराज-शास्त्र—विनोबा जी
समाजवाद—सम्पूर्णानन्द
संघर्ष या सहयोग—प्रिंस क्रोपॉटकिन
(अनुवाद)
सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी दयानन्द
समग्र ग्राम सेवा की ओर—धीरेन्द्र-
मजूमदार
सोने की माया—मश्रूवाला जी
सांख्य शास्त्र—लाहौर संस्करण
हरिजन—गांधी जी
हिन्द स्वराज—गांधी जी
हमारा देश—भास्कर राव विद्वांस
हमें क्या खाना चाहिये—झवेर-
भाई पटेल

हिन्दू कोड बिल—भारत सरकार
ऋग्वेद—(लाहौर सम्करण) हिन्दी भाष्य
A Discipline for Non-Violence—R B Gregg
Adult Education-S Subarao
Anti-Duhring—F Engels
A Plan for Economic Development
An Overall Plan for Rural Development—J C Kumarappa
A Mechanistic or Human Society-Wilfred Welock
A Nation Builder at Work—Pyarelal
Advanced Economic Theory-J K Mehta
A Questionaries for the Development of Village Industries-A I V I Assn
Cent per cent Swadeshi—Gandhiji
Clive to Keynes—J C Kumarappa
Capital-Karl Marx (Penguin Series 3 Vols)
Capitalism, Socialism, Villagism—Bhartan Kumarappa
Contemporary Socialogical Theories—P Sorokin
Communist Manifesto—Marx and Engels
China Today-Pt Sunderlal
Demand of the Time—Dhirendra Majumdar
Devaluation—K C Lalwani
Deceptive Oil-Go-Seva Sangh
De-Humunization in Modern Society-Rane-Fulop Miller
Economics of Khaddar—R B Gregg
Economics of Khadi-Gandhiji
Economy of Permanence (2 vols') J C Kumarappa
Economics of Non-Violence J C Kumarappa & V L Mehta
Ends and Means—Aldous Huxley
Food, the deciding Factor—Frank Wokes
Gandhian Economy—J C Kumarappa
Grinding of Cereals—A I V I Assn
Gandhi and Gandhism—N K Gupta
Gandhian Plan—S N Agrawal
Gandhian Technique in the Modern World—Pyarelal
Gandhism and Socialism—Dr Pattabhi Sitarammaya
History of Materialism—G Plekhanov
Higher Education in Relation to Rural India—A E Morgan
Hindu Law—Dr H S Gaur.

Health Bulletin 29—Government of India
India of My Dreams—Gandhiji
Indian Economics—Jathar and Beri
Indian Political Economy-Ranade
Latest Fad—J 'B Kripalani
Man and the Sate—W. E Hocking
Nation's Voice—Gandhiji
Non Violence in Peace and War (2 vols) Gandhiji
Nai Talim aud Social Order-Wilfred Wellock
Oil Mills VS Ghani—A V I Assn
Our Food Problem—J C Kumarappa
Politics-Aristotle
Politics of Charkha—J B Kriplani
Practical Non-Violence—K G Mashruwala
Public Finance and Our Poverty-J C Kumarappa
Present Economic Situation-J C Kumarappa
Peace and Prosperity ,,
Planned Economy- ,,
Power Or Peace—Wilfred Wellock
Political Philosophy of Mahatma Gandhi—Dr G N Dhawan
Problems of Rupee—Dr Ambedkar
Political Dictionary—Harold Laski
Revolutionary Charkha—Dhirendra Majumdar
Reflections on the Gandhian Revolution—Y G Krishnamurti
Rural England-Lord Portsmouth
Rebuilding Our Villages—Gandhiji
Republic (4 Vols)-Plato
Selections from Gandhi—N K Bose
Studies in Gandhism—N K Bose
Self Restraint VS Self Indulgence—Gandhiji
Survey of Matur Taluka—J C, Kumarappa
Science and Progress—J C Kumarappa
Socialism Reconsidered—Mino Masani
Selected Works—I V Michurin
Selected Works (2 vols)—Lenin
Socialism and Ethics—Howard Selsom
Selected Works (2 vols)—Marx
Shape of Things to Come—H. G Wells

Satyagraha—R B Divakar
Social and Political Ideas of Mahatma Gandhi—Alexander Horace
The Economics of Inheritance—Josiah Wedgwood
The Case for Federal Union—W B Curry.
The Pro blems of India—Dr K S Shelvankar
The Philosophy of Work—J C Kumarappa
The Third Way—Wilfred Wellock
The Challenge of Our Time—Wilfred Wellock
Towards Non Violent Socialism—Gandhiji
The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi—M S Patel
The Principles of Sociology Herbert Spencer
The Origin of Species—Darwin
The Descent of Man— „
The Principles of Economics—Prof Taussig
The Nature of Capitalist Crisis—John Strachy
To The Women—Gandhiji
The Principles of Economics—Alfred Marshall
The Nature and Significance of Economic Science—Lionel Robbins
Unitary Basis of Democracy—J C Kumarappa
War A Factor of Production—J C Kumarappa
Women and Social Injustice Gandhiji
Women and Village Industries J C Kumarappa
Which Way Lies Hope—R B Gregg
What Everybody Wants to know About Money—C D H Cole
Young India—Gandhiji

REPORT

1 Industrial Survey Comm Report, C P & Berar Govt, '37
2 Agrarian Comm Report A I C C
3 Planning Comm Report

पत्र पत्रिकाएँ

सर्वोदय
Harijan
A B Patrika
Literary Digest
ग्रामोद्योग पत्रिका